संग्रहकर्ता

ओमाजी वरधीचंद ठी. चौमुखीपुल

पो० रतलाम (मालवा)

जयइ जग जीवजोणी; वियाणओ जगगुरु जगाणंदो ।
जगनाहो जगबंधू जयइ; जग पिया महा भयवं ॥ १ ॥
जयइ सुयाणं पभवो; तित्थयराणं अपछिमो जयइ ।
जयइ गुरुलोयाणं जयइ महप्पा महा वीरो ॥ २ ॥
सिद्धाणं णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ ।
अत्थ धम्म गइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥ ३ ॥
चइत्ता भारहं वासं; चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
सन्ती सन्ति करे लोए; पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४ ॥

❀ ॐ ❀
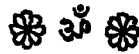
समकित-सार, प्रथम-भाग की भूमिका

बन्धुओं ! इस महान् विस्तृत संसार में जैन-धर्म एक बड़ा ही प्रसंशनीय धर्म है। इस के तत्त्व भी बड़े हीं उच्च, उदार और गम्भीर हैं। यदि यहां हम उन सम्पूर्ण तत्वों का सांगोपांग वर्णन करने बैठें, तो एक बड़ा भारी पोथा बन जायगा। अत: हम यहां उस के तत्त्वों के तत्त्व ही पर कुछ प्रकाश डालेंगे, जो हमारे इस के पाठकों के लिए पर्याप्त होगा।

पहले हम अपने पाठकों को बतावेंगे कि 'जैन' किसे कहते हैं ? जो जीव-मात्र की रक्षा करे और राग-द्वेष भाव को जीते, उसी को हमारे शास्त्रकारों ने 'जैन' कहा है। और जैन शब्द के इसी सिद्धान्त के अनुसार, (१) देव, (२) गुरु और (३) धर्म, इन तीनों की समुचित रूप से पहचान कर के, इन्हीं उपरि-लिखित तीनों तत्त्वों पर अटल श्रद्धा रखना, सचमुच में यही संसार से तिरना है। फिर, किसी कवि ने कहा है कि:-

वीतरागो वरं देवो, महाव्रत धरो गुरुः ।
जीवानां च दया धर्मस्त्रीणि तत्त्व विज्ञायते ॥ १ ॥

अर्थात्:—सम्पूर्ण रूप से जिस के राग द्वेष नष्ट हो चुके हैं; वही 'देव' उपाधि से विभूषित है। या यूं कहो, कि जो

अठारह प्रक र के दोषों से पराङ्गमुख, बारह प्रकार के गुणों से सुशोभित, चौतीस अतिशय युक्त, अष्ट महा प्रातिहार्य सहित, अनन्त शक्ति सम्पन्न और अप्रातिहत केवल ज्ञान, केवल दर्शन के धारक हों, बस, वही 'देव' है।

फिर, जो पञ्च महाव्रतों के धारक, कञ्चन कामिनी के त्यागी निर्लोभी, निः स्वार्दी, निर्ग्रन्थ, भारण्ड पक्षी के सदृश अप्रमादी अप्रतिबन्ध अवस्था में रहने वाले, मान तथा अपमान में, व शत्रु तथा मित्र में समान भाव रखने हारे, शम, दम और क्षमा इत्यादि गुणों से समन्वित और आप स्वयं अपना उद्धार करें, व औरों को तारने का शुद्ध धर्म बतावें, वही 'गुरु' है।

इसी तरह, जो दुर्गति में पड़ते हुए को आधार भूत हो वही 'धर्म' है। स्थानाङ्ग सूत्र में यह धर्म दो भागों में बांट दिया गया है। वे दोनों भाग हैं, एक तो सूत्र धर्म और दूसरा चारित्र धर्म। चारित्र धर्म के भी फिर दो भेद कर दिये गये हैं। जैसे-(१) श्रावक धर्म, एवं (२) साधु-धर्म। नवकारसी आदि तप और बारह व्रतों को जो धारण करता है, वह 'श्रावक' कहलाता है। और, जो पञ्च महाव्रतों को धारण करे वह साधु है और उसी को गुरु भी कहते हैं। गुरु का विशेष वर्णन ऊपर कर आये हैं। देव, गुरु, और धर्म इन्हीं तीनों को, सम्यक् रूप से जो समझे और दूसरों को बतावे, संसार में वही सच्ची श्रद्धा का अनुरागी और सम्यक्त्वी कहलाता है

ये ही तीन तत्त्व, कल्प वृक्ष के सदृश, जगत् के सभी जीवों को मेघवत् लाभ पहुंचाते हैं। परन्तु कितनेक लोग अपने हृदय की सङ्कीर्णता के कारण, इन्हें केवल अपना ही कह कर इन से केवल अपने ही को लाभ पहुंचता है, ऐसा समझते

है। उदाहरणार्थ, संवेगी कहते है, कि एक मात्र हम ही सच्चे हैं। और हमारा धर्म तथा देव ही, सच्चे है। इसी तरह साधु मार्गी और, तेरह पंथी आदि भी कहते हैं कि हम ही सच्चे हैं। इसी अपनी अपनी टेक और विभिन्नता को देख तथा सुन कर, जगत् के बेचारे भद्र जीव भ्रमवश हो, इधर से उधर और उधर से इधर, मारे मारे फिरते हैं, आत्मिक सुख और शान्ति को, इन मत-मतान्तरों के झमेले में कहीं भी न पाकर वे अनायास ही यह कहते देखे, सुने जाते हैं, कि "जब सभी अपनी अपनी डाफली पर अपना अपना राग अलापते हैं, तो हमें किस के वचन पर आस्ता और मान्यता रखनी चाहिए"। बस, इस पर हमारा तो यही कहना है, कि वे निष्पक्ष हृदय से, वीतराग भगवान् की वाणी पर, अनुभव-युक्त बुद्धि से, ध्यान-पूर्वक विचार करें, तो उन्हें उन के प्रश्न का योग्य उत्तर अवश्यमेव मिल सकेगा। इसी लिये तो, भगवान् ने धर्म की पूर्ण परीक्षा के लिए ही, स्याद्वाद, सप्तनय, और चार निक्षेप रूप कसौटी का निर्माण, इस जगत् में, पहले ही से कर रक्खा है। बस इसी एक मात्र कसौटी पर कस कर, धर्म की सच्चावट की आभा का प्रदर्शन, सुलभता-पूर्वक, संसार को हो सकता है। तथापि, इस कलिकाल के घोर भयङ्कर समय में पक्षान्धता के नशे में चकनाचूर लोग, अपनी पकड़ी हुई हठ धर्मीपन की बात को, चाहे फिर वह झूठी हो या सच्ची, सच्ची कहने और कर दिखाने में तनिक भी लाज नहीं खाते; और रञ्च-मात्र भी कोर कसर उठा नहीं रखते। किन्तु अन्त में, कसौटी के निकट आते ही तो, उन की खराई तथा खोटाई की जांच तुरन्त ही हो जाती है। फिर पक्षान्ध लोगों की बातों का निर्णय कर देना, यह भी तो एक परोपकार ही

है। इसी उद्देश्य को अपने सामने रखकर प्रातः स्मरणीय, पूज्यवर श्री १००८ श्री बुद्धरजी महाराज के सुशिष्य पण्डित मुनि श्री १००८ श्री रूपचंदजी महाराज के सुशिष्य वादीमान मर्दक प्रखर पण्डित मुनि श्री १००८ श्री जेठमलजी महाराज ने, भारत के सुप्रसिद्ध नगर अहमदावाद में, वीर विजयजी एवं यशोविजयजी आदि अनेकों संवेगी तथा यति लोगों के साथ चर्चा की। उसमें विजय आप की साथिन वनी। उसी चर्चा का सारांश, अनेकों जिज्ञासु सद्गृहस्थों के आग्रह से, पुस्तकाकार के रूप में ढाल दिया गया; और उस का नाम, "समकित-सार" रक्खा गया। इस पुस्तक को परमोपयोगी समझ कर, तथा यह सोच कर, कि इसकी एक एक प्रति प्रत्येक जिज्ञासु सद्गृहस्थ के पास अवश्यमेव हो, हमने भी इसे छपवा कर प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है।

भवदीय—

प्रकाशक—
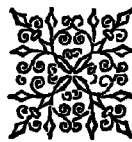
छप्पय

हरित वसन के रचित कीर पर, बिल्ली झपट न करती है ।
सिल-निर्मित वनराज हिं लख कर, हिरणी कभी न डरती है ।
असली मोती छांड मराल न झूठे पर ललचाता है ।
कुसुमन को लख कागज-निर्मित, भौंर नहीं मंडराता है ।
असली और नकल की पारख, पशु भी जब कर सकता है ।
क. र. कहे वह नर ही क्या तब, जु प्रतिमा-प्रभुता गाता है ?

द्वितीय छप्पय

परवत से पाषाण सिलावट खोद के लाया ।
रची गाय अरू सिंह, ठाकुर तीजा निरमाया ।
गाय जो देवे दूध औ, सिंह उठ कर संहारे ।
होवे जो यह सत्य तो, ठाकुर निश्चय निस्तारे ।
कारण दोनूं सारखे, फिर कारण तूं जोय ।
रामचरण युग असत है, फिर एक सत्य किमि होय ? ॥ २ ॥

॥ ॐ ॥

समकित सारः द्वितीय भागकी भूमिका

—:०—
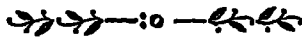
प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म पर चलना चाहिये, धर्म अन्धों की लकड़ी की तरह इस दुख मय भव सागर से (लक्ष्मीमद अहंपद मद आदि रिपु द्वारा अन्धे बने हुवों को) मोक्ष की अनुपम लीला दिखाने वाला है। इसी के द्वारा अत्यन्त सुन्दर सुखद स्थान मिल सक्ता है। अहाहा! धर्म के प्रताप जितना बखान किया जाय उतना थोड़ा ही है। पर अत्यन्त खेद है कि वर्तमान जमाने में ऐसे अत्यन्त उपयोगी, दुख हर्ता उचित शिक्षा देने वाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि दुर्गुणों से मदान्ध बने हुवों को राह पर लाने वाला, नीति मार्ग बतानेवाला, सुख में उत्साह व दुःख में शोक संतप्तों को उदाहरण दलीलादि से टालने वाला जो अपना जैन धर्म है उससे हम विमुख हो रहे हैं, इतनाही नहीं पर धर्म से हम इतने दूर भाग रहे हैं कि धर्मानुरागी वीर मनुष्य समुद्र किनारे खड़े खड़े अपने प्यारे भाइयों को दूर भागते देख अरुण सदृश पूर्ण तेज से दृश्य दिखा बहुत दूर भागे हुए भाईयों को बड़े जोर से बुला कर कह रहे हैं किं प्यारे बन्धुओं! क्यों भाग रहे हो? फिर आओ और तुम्हारे मुख चन्द्र के दर्शन दिखा जाओ और जो तुम्हारे अज्ञानी बन्धु

ओं में मिथ्या बोलने, व्यभिचार सेवन करने, व्यसनी होने, कायर बनने और प्रतिज्ञा पर पूर्ण रीति से न चलने आदि के दुर्गुण वास कररहे हैं उन्हें छुड़ाते जाओ और क्या कहें। धर्म विना संसार शून्यवत् है। धर्म हीनता के कारण ही कुसम्प, अमिलन, द्वेष आदि दुर्गुण अपने पांव फैला रहे हैं। इसलिये बन्धुओं! सावधान होओ, होशियार बनो और तुम्हारे धर्म, जैन धर्म को दृढ़ श्रद्धा से आराधो।

धर्म पर श्रद्धा रख व धर्म पुस्तकों में लिखी हुई नीतिपर चल कर कई प्रख्यात राजाओं ने या गरीबी हालत में जीवन बिताने वालों ने मोक्षपद पद प्राप्त किया है। जो धर्म के रागी हैं और गुरुके चरणों में अपना काल बिताते हैं वे अच्छी तरह से यह बात जानते ही हैं पर उसी धर्म पर वर्तमान समय के जैन बन्धुओं की कितना कम श्रद्धा है?

मोक्ष मिलना तो अत्यन्त दुष्कर है पर प्रवीणता प्राप्त करने और अपने दुष्कार्यों का बदला चुकाने के लिये भी हमें धर्म की पूर्ण आवश्यकता है। इस लिये जब तक हम यह मार्ग ग्रहण नहीं करेंगे या कसर रखेंगे तब तक हमारे जैसा दूसरा मूर्ख कोन कहलायगा?

जैन बन्धुओ! इस संसार समुद्र में अपनी अज्ञानात्मा बहुत समयसे मिथ्यात्व, अवृत, प्रमाद कषाय और अशुभ योग के प्रवाह में प्रवाहित हो चार गति के कीच में फंसरहा है। इतने में कभी पुन्य प्रकृति के उदय से साता वेदनीय का बंध बांध लेनेसे देवगति मे जा उत्पन्न होगया, वहां पंचेंद्री के विषय की आतुरता के कारण या क्षेत्र स्वभाव के कारण संवर धर्म प्राप्त न कर सका या आरंभ परिग्रहादि चार कारण से

असाता वेदनीय का बंध बांधकर नर्क स्थान में नारकी पने उत्पन्न होगया और वहां अघोर वेदना के कारण या पराधीनता के कारण संवर धर्म प्राप्त न कर सका । कभी त्रियंच की योनिमें उत्पन्न होगया वहां भी अविवेक के कारण संवर धर्म का पूरा लाभ प्राप्त नहीं कर सका । इस प्रकार लक्ष वक्र जन्म मरण के दुःख भोगते २ सिर्फ यह मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ है तो यहां भी आत्मिक संवर, निर्जरा धर्म का आराधन नहीं करोगे तो फिर यह समय कब मिलेगा ?

क्यों मोह पाश में फंस रहे हो ? मेरा २ कर जो तुम प्राप्त कर रहे हो और यह मेरा है ऐसा आजतक जो तुमने मान रखा है यह सब जब तुम्हारे पर नजर रखने वाला काल आवेगा तब इनमें से कोई भी तुम्हारे साथ नहीं आवेगा । पर यह तुम्हारा धर्म ही तुम्हारे साथ आवेगा, तो फिर तुम्हारा सच्चा स्नेह और सच्चा लक्ष दायक कौन है ?

बड़े २ चक्रवर्ती राजा से लगाकर गरीब, मांग मांग कर पेट भरने वाले लाखों या करोड़ों मनुष्य इस दुनियां को छोड़कर जो जमीन राख के ढेर से भरीहुई भयानक रुधिर मांस भक्षी जानवरों के रहने सरीखी है, उस श्मशान भूमि पर लम्बे होकर सोये हैं और हमें भी एक दिन लम्बी निंद्रा लेना है तो भाइयों ! चेतो अब भी चेतो और ऊपर दिखाये हुए पांच कारणों (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग) को छोड़ने की पूर्ण आवश्यक्ता समझकर छोड़ते जाओ । ये पांच कारण इतने बलवान हैं कि उन्हें छोड़ने का महत् कार्य महाबलिष्ठ, बुद्धिमान वीर मनुष्यों से भी होना अत्यंत कठिन है जिससे अल्प ज्ञानी अपनी अज्ञानात्मा वारम्बार उनका सेवन कर

अनार्य, अधर्मी कुल में उत्पन्न हो क्रूर कृत्य करके स्वप्न में भी दया का लाभ नहीं ले सक्ता। और कदाचित् आर्य कुल में उत्पन्न भी हुआ होतो शारिरिक दुःख के कारण या कुलाचार के जोश के कारण या रोग के कारण तथा राग द्वेष या कुदेव कुगुरु भक्ति के कारण या धनमद या लाड़ी, गाड़ी और वाड़ी के वैभव के कारण या दुष्टता, मूर्खता या अर्ध दग्ध ज्ञान के कारण इच्छानुसार चल इंद्रियादि विकारों में असंतोष मान, धर्म मार्ग को न पहिचानने से या षट् रिपु के स्वाधीन होने से सत्यासत्य से अज्ञानता रख लौकिक धर्म को या कुल धर्म को जैन धर्म ही समझ उनका सेवन करता है अर्थात् एकेन्द्री, बेंद्री, तेंद्री, चौंद्री, समुच्छम पंचेन्द्री या गर्भज त्रियंच में अज्ञानात्मा को वार २ भटकना पड़ता है इसलिये चेत, प्यारे बंधु चेत और तेरी आत्मा उप रोक्त दुःख न देखे ऐसा हमेशा धर्माराधन कर। सत्यासत्य का का विचार रखें, अवगुणों से विमुख रहें, गुण ग्राही उत्तम कला कुशल हो, दानादि गुणों से सुशोभित देव गुरु की भक्ति करें, धर्माचार्यों का हुक्म उठावें, सिद्धांतका अमृत रस पान करें, सुबुद्धि से शुद्ध ज्ञान सहित कार्य करने में चतुर हो निराभिमानी, परोपकारी व ऐसे ही सदगुण जिनमें हैं तथा जैन शास्त्र कार धर्म ज्ञान पाने योग्य जिन्हें गिनते हैं उनसे मित्रता कर। जिन्होंने जीव हिंसा आदि पांच आश्रव का द्रव्य और भाव से त्याग कर अहिंसादि पांच संवर गुण या पांच महाव्रत सामयिक आदि पांच चारित्र धारण किये, पांच सुमति तीन गुप्त युक्त १० यति धर्म सहित दोनों वक्त आवश्यक कर प्रत्याख्यान करने वाले, प्रतिलेहनादि नित्य कृत्य कर सम-ध्यान में अप्रमादी हो विचरने वाले, अहर्निश विकथा राग

द्वेषादि दुर्गुणों से रहित, शुद्ध समाचारी, पंचमी गति इच्छुक, ज्ञान क्रिया सहित स्याद्वाद धर्म के धारक शुद्ध श्रद्धा सहित करुणा रस से भरेहुए साधु को गुरु मान। उपरोक्त समस्त विवरण से आप अच्छी तरह समझे होंगे कि धर्म ज्ञान प्राप्त करना कितना आवश्यक है पर खेद है इनमें से हममें वर्तमान में कुछ भी ज्ञान नहीं और किसी२स्थान पर है तो बिलकुल कम। इसके साथ २ अनेक पेटार्थी लुच्चे उपदेशकों के बनाये हुए ग्रंथ से और उनके ही उपदेश स मिश्रित सच्चेमार्ग से विरुद्ध मार्ग पर चलने की लोगों की चाल है और यही ज्ञान उन्हें मिलता है।

इस तकलीफ को दूर करने के हेतु से और अज्ञानी बंधुओं को धर्म का पूरा ज्ञान हो इस आशय से अपने स्वबंधु गोंडल निवासी सेठ नेमीचन्द हीराचन्द ने महापुरुष, गुणवंत, ज्ञान के भंडार, आत्मार्थी, क्रिया पात्र धर्म जहाज के समान, सूत्र सिद्धांत के पारगामी ऐसी अनेक उपमा लायक महा पुरुष जेठमलजी स्वामी का रचा हुआ एक प्राचीन ग्रंथ समकित सार भाग १ ला छपाया है जिसका लाभ अपने स्वबंधु पूर्ण रीति से प्राप्त कर रहे हैं यह देख हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इसलिये उस किताब में रहे हुए कितने ही विषय कितने ही मत जंगी मनुष्यों को हमारे सत्य शोधक धर्म का उपदेश देने के लिये और धर्मज्ञ मुमुक्षों को धर्म का सच्चा मार्ग बताने के लिये इस पुस्तक द्वारा प्रकट करते हैं जिसका नाम "समकित सार" देना यथार्थ मालूम होता है।

———

॥ ॐ ॥

समक्त्व ।

'समकित' यह क्या है, इसके विवेचन की यहां कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि, जिन लोगो ने 'समकित-सार प्रथम भाग' को ध्यान और मनन पूर्वक पढ़ा होगा, हमारे ऊपर के प्रश्न का उत्तर तो समुचित रूप से उन्हे उसी समय मिल गया होगा। फिर, उसकी प्राप्ति किस प्रकार से हो, इसका उत्तर संक्षेपतः, इस पुस्तक के मुख-पृष्ट पर से इसके पाठकों को मिल जाता है।

पाठकों! जैन धर्म अनादि काल से चला आरहा है इसके धर्म ग्रन्थ इस गम्भीर शैली से रचे गये है, कि उनका एकाग्र चित्त से केवल श्रवण ही करते करते, मनुष्यों के हृदयों में दया के डहडहाते हुए अंकुर उत्पन्न होजाते हैं। तब उसके दिल में यह भावना जागृत होती है, कि यह देव दुर्लभ नर जन्म सार्थक किस प्रकार हो। परन्तु बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है, कि उसी जैन-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग अभी गुप्त भंडारों में पड़ा हुआ है। फिर, वर्तमान के जैन-समाज की भी; उस ओर, देश की आज की शिक्षा और सभ्यता में जीवन वहन करने के कारण, कुछ कम अभिरुचि जान पड़ती है। यही कारण हैं, कि अभी अन्य मतावलम्बी उसकी प्राचीनता तथा प्रसिद्धि एक निर्धारित और संकु-

चित रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारा अनुभव और अन्दाज बतलाता है कि जैसे जैसे समाज की मूर्खता का नाश होता जायगा, जैसे जैसे समाज प्रगति-शील बनेगी, वैसे ही वैसे इस व्यापक धर्म से समुचित लाभ उठाने के लिये, लोगों का मत भी व्यापक रूप धारण करता जायगा। और उसी, समय उसकी आन्तरिक खूबियांभी विशेष रूप से देखने में आसकेंगी। यहां हमें यह लिखते वड़ा खेद होता है कि आज कल अनेकों जैनी, ऋषिके साधु नाम को कलंकीत करने वाले ऐसे भी देखे जारहे हैं। जिन्हें न तो अपनी--साधु जाति का अभिमान है, न धर्म ही में उनकी आन्तरिक अभिरुचि देखी-सुनी जाती है और न जिन्हें अपने प्राचिन साहित्य ही का कुछ गौरव है। विपरीत इसके वे अपने धर्म के उत्तमोत्तम पुस्तक रचयिताओं के नामों को भी कलंकित करने में वाज नही आते (हिचकते नहीं) वे उनकी सत्पुस्तकों की भली, वुरी समालोचनायें करते हुए, पद पद पर उसमें अपने निजी और नूतन गन्दे तथा भद्दे विचारों की भरमार कर देते हैं। इतना ही नहीं वे अपने उन विचारों की परि पुष्टि करने तथा वताने के लिये झूठ मूठ में धर्म-शास्त्र कारों की आज्ञा की दुहाई देते हुए, जगत् के वेचारे भोले-भाले भव्य जीवों की वुद्धि को परिभ्रान्त वनानेके लिये अपना माया जाल भी फैलाते रहते हैं। और इसी में अपना बुद्धि कौशल तथा श्रेय समझते हैं। हम इन साधु वेष धारी लोगों को किन शब्दों से सम्बोधित करें, नहीं कह सकते। किन्तु प्रसंग वश, हम उन जैसों को वोध प्राप्त्यर्थ, यहां ऐसी एक गन्दी पुस्तक के रच-यिता को कुछ सूचना मात्र कर देना ही उचित समझते हैं। क्योंकि, हमारा उद्देश्य अभी उसी से सम्बन्ध रखता है।

भाई, समकित शल्योद्धार के रचयिता जी । आपकी रचित पुस्तक को सिर से पैर तक पढ़ जाने पर भी, यह उसके द्वारा कहीं जान ही नहीं पड़ता, कि 'समकित' क्या वस्तु है। क्या, आप के विचारानुसार, वह कोई गन्दी चीज़ है, या कोई वाट का वटोही है? फिर, समकितवान्, पुरुष को तो, अक्षमा, अशान्ति, कटु, भाषण, "प', वाक्य अनर्गल आलाप प्रलाप, और इन्हीं की जाति के अनेको अन्य अवगुणो से, निरन्तर पराङ्मुख रहना चाहिये। परन्तु इस पुस्तक के एक रचयिता के नाते, आपने तो, यत्र, तत्र इसमें, ऐसे कुत्सित और गन्दे शब्दों का खुले वाजार व्यवहार किया है, कि जिससे इस पुस्तक ही का नाम और कलेवर कलंकित नहीं हुआ, वरन्, इस प्रकार के गन्दे व्यवहार से आपने अपनी महीयसी वुद्धि की महानता (?) भी जैन-समुदाय पर प्रकट कर दी है।

भाई! ऐसा भयङ्कर भूत आपके अन्दर कहां से भर गया है। कि जिससे, समकित, सरीखे पवित्र नाम की पुस्तक मे, आपने ऐसे कटुधृष्टता, पूर्ण, लुच्चाई और लफंगेपन से भरे, पूरे, व अविवेकता से ओत, प्रोत वाक्य लिख मारे। परन्तु अव हमें पता चला, कि सचमुच में यह समकित का शल्य आप ही के हृदय में अटका हुआ था। अस्तु!

आप सरीखों के लिये यह योग्य ही था, कि आप से या अन्य से, न्याय से या अन्याय से, नीति से या अनीति से, लाचारी से या वरजोरी से, सीधेपन से या कुटिलता से जैसे भी होता, उस शल्य को अपने हृदय से खींचना ही, आपका एक मात्र लक्ष्य था। लानत है स्वार्थ सनी इस वुद्धि पर। और वार वार फिटकार हैं··· ······ ·· · ·· ·· को,

सावद्याचार्य जी ? आपने तनिक भी नही सोचा ! कि यदि आप को यही करना था, तो इस संसार की मिथ्या, माया का मोह ही क्यों छोड़ा ! क्या, इस प्रकार का निन्दनीय पुस्तक का प्रकाशन ही आपके साधुत्व और उसके वेश की सचौटी तथा स्वभाव है ? यदि आपको अपने धर्म की चर्चा के मार्ग की मंजिले मकसूद ही पर पहुंचना था, तो क्या किसी सात्विक मार्ग का अवलम्बन करके आप वहां नही पहुंच, सकते थे ? क्या आप इस सिद्धान्त को नही जानते हैं। कि यह उस समाज या व्यक्ति की वुद्धि का दिवाला है, उसके दैवी गुणों का घोर अपमान है, जो अपने मत की परिपुष्टि के लिये दूसरों के मतों का खण्डन, मण्डन करता है उन पर अहैतुकी हाथापाई करता है अजो ! ऐसे मिथ्या गर्व को दूर निकाल फेंकिये ? और सत्यानाश कर डालिये, ऐसे स्वार्थ परता के विचारों का ??

भाई ! मोक्ष प्राप्ति करने का मार्ग बड़ाही विकट है। देखो, निन्दा करने वालों की जगह जगह कैसी दुर्गति हुई है और आज भी होती है इसके लिये अपने धर्म, शास्त्रों के पन्ने उलट कर पता लगाइए। हमारा तो अनुमान है, कि जिस प्रकार वेचारे पतंग दीपक की लौको अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी समझकर उस पर झम्पापात कर, नाश को प्राप्त हो जाते हैं। ठीक उसी तरह, बेचारे आप के अनुयायी लोग भी जो आप को अपने प्राणों से प्रिय समझते हैं। आप के ऐसे घृणित और कुत्सित कर्मों के कारण, अपनी स्वयं की इज्जत को भी नौ, दो बनती देख, नष्ट हुई जान, पश्चाताप करते होंगे, या अब करेंगे। यदि भिन्न धर्मानुयायी बन्धु भी

इस ओर ध्यानदें, तो वे भी इसपर पश्चाताप प्रकट किये बिना कभी न रहेंगे, कि क्या साधु के जीवन और कर्तव्य की, ऐसी निन्दनीय पुस्तक लिख करके ही समाप्ति होजानी चाहिये ? फिर जैसे रत्न प्रभा का कोई छेदन नहीं कर सकता। प्रदीप्त प्रकाश में अन्धकार का आभास देखने का कोई हठ धर्मी पन करे, तो वह भी हठात् औंधे मुंह की खाता है। ठीक उसी प्रकार, तरुणाई की तङ्ग घाटी में उतरे हुए, मद विह्वल पुरुष के मातंग, मनको भी, कोई विरला ही समझा सकता है। इतने पर यदि उसे विद्युत के समान चंचला लक्ष्मी का और भी साथ मिलगया। तो फिर तो उस के अध पतन का पूरा ही सामान समझना चाहिये।

फिर, तरुणाई की तरल-तरङ्गायमान तटनी में उतराये हुए मदोन्मत्त पुरुषों को, उनके अपने धन के मदमाते पन में, यह भी क्यों और कब सूझ पड़ने लगा, कि-"हमारी इस यौवन और धन की आंधी में, किसी साधु नाम धारी महापुरुष (?) के केवल इसारा मात्र कर देने से, जो, यों हम अविवेक पूर्ण कार्यों के मैदान में कूद पड़ते हैं, उनका क्या दुष्परिणाम होगा, उनसे कौन कौनसी आने वाली आपत्तियों का सामना हमें करना पड़ेगा ? उनके कारण हमें यश मिलेगा, या स्वयं हम ही अपयश के घाट, लोक-निन्दा, आत्म धिक्कार और बेहयाई की प्रचण्ड धारा मे प्रवाहित होने लगेंगे; और वे कार्य हमारे कुटुम्ब तथा अन्य सम्बन्धी परिवारों की उन्नति में किस प्रकार बाधक बनेंगे, या उनके लिये विघातक सिद्ध होंगे ? आदि।" फिर, जैसे पवन अपने प्रचण्ड वेगसे शुष्क पत्तों को स्वेच्छानुसार सुदूर लेजाकर गिरा मारता है, उसी प्रकार, यदि किसी पुरुष की प्रकृति में शास्त्र

ज्ञान से कुछ परावर्तन भी हो पाया हो, तथापि वह उस की यौवन की अन्धड़पन में काफूर होकर उड जाता है। इस पर भी यदि लक्ष्मी का मद उस में और मिल गया, तो फिर तो बचने की सूरत ही क्या है। सोलह आने सत्यानाशी की सजा है।

मित्र! यह आपको बुरा तो लगेगा। इस में तो मेरे भी अनुभव का अन्दाज है। परन्तु प्रसंग वश कहना ही पड़ेगा, कि नम्रता का नामों निशान मिटाकर, समकित, सार की 'समकित शल्योद्धार' नाम से जो यह टीका आपने की है, उसमें कई अघटित बातों का यत्र-तत्र उल्लेख कर, आपने अपनी अयोग्यता का परिचय संसार को दिया है। उस में जिज्ञासु जैन-धर्म के विद्वानों को आप की लेखनी से यह टप का हुआ दीख पड़ता है, कि आपने अपने मतका हठधर्मीपन कूट कूट कर भरा है? हठात् ऐसी रचना कर, आपने अपने नाम और काम दोनों को गंदला कर दिया है। सभ्य की प्रबलता और उसकी महत्ता कितनी बल शाली होती है। उसका रहस्य जानते हुए भी, आप भूल भूलैया में कैसे जा-पड़े? इस प्रकार के कुसम्प, या मनों मालिन्य ही का बीज बो कर के तो, हमारे अनेको चक्रवर्ती सम्राटों की शासन और शक्ति धूल में मिली है। फिर उनके सामने आप सरीखे तो। .... प्रथम तो आपने विना विचारे, प्रस्तुत पुस्तक में यत्र-तत्र हमारे तत्व-शोधक धर्म पर, अपने प्रमाद-पूर्ण और अनर्गल वाक्य बाणों से अपनी शक्ति भर प्रहार किया। परन्तु इससे होने ही वाला क्या था? यह कार्य तो आपका उसी एक अबोध बालक के साहस के समान सिद्ध हुआ जो अपनी ओर आते हुए जगत्-दीपक--सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश और

उसकी जगत् व्यापक गर्मी को रोकने के लिये, उसकी ओर धूल फेंक कर उससे अपने स्वयं ही के सिर और मुँह को गंदला बनाने की चेष्टा करता है। अस्तु।

आगे "पतित होने से अपने सम आचारी समाज से दूर किये गये हैं। द्रव्यवेषी हैं। जादू-विद्या में कुशल हैं। माया के पास में भी वे उसी भांति बंधे हुए हैं। जैसा किसी संसारी तक को योग्य नहीं, वैसा अघटित काम वे करते हैं। आदि आदि उदाहरण आपने दिये। परन्तु इन उदाहरणों को पेश करते आप जगत् की यह छोटी सी बात तक कैसे भूल गये, कि एक ही मनुष्य के एक ही हाथ की पांचो अंगुलियां तक एकसी नहीं होतीं। फिर, ऐसी क्षुद्राति क्षुद्र बातों का शोध और उल्लेख हम भी करने लगें, तो उस समय।........ .. ..अब इस विषय का अधिक ऊहा पोहा न करते हुए, हम आपसे केवल यही कहना चाहते हैं, कि आप अपने मतका प्रतिपालन एक बार नहीं, सौ बार करें, यों दवे छिपे रूप से नहीं, खुशी खुशी करें। किन्तु नीति की निगाह से। आप अपने को गिराइये नहीं, नीति के मार्ग का उल्लंघन न कीजिये परन्तु मिथ्या अभिमानी पुरुषों को थके-झके विना, विश्रान्ति और दिन गुजारने का और चाराही कौनसा-और कहां है? यद्यपि हमारा यों साफ-साफ, खुले रूपसे कहना आप को अति ही अटपटा और अपमान-जनक तो प्रतीत होगा, परन्तु नीति के मार्ग का अतिक्रमण आपने किया, जिससे ही।..........

इस विषय में इतनाही कह कर, अब हम विद्वान्-गुणज्ञ, और धर्म-जिज्ञासु बन्धुओं का ध्यान नम्रता पूर्वक इसबात की ओर खींचेंगे, कि यह पुस्तक धर्म विषयक है। यही-नहीं

किन्तु इसमें स्थल-स्थल पर सिद्धान्तों के पाठ भी दिये हुए हैं। अतः जिस जिस समय सिद्धान्तों का पठन पाठन नहीं होता हो, उसका पूरा पूरा ध्यान रख कर वे इसे पढ़ें ? अर्थात् इसके पठन काल में, अकाल अस्वाध्याय-और दीपक वगैरह के त्याग का यत्न पूर्वक-ध्यान रखते हुए, मुख की यत्ना सहित, कृपालु पाठक इसे पढ़ने की सचेष्टा करें। ऐसी उनसे मेरी नम्र प्रार्थना है। इतने पर भी यदि वे सिद्धान्तों के पठन-पाठन के काल आदि की कुछ भी पर्वाह न कर, शास्त्रों के पठन, पाठन करने की विपरीत रीति से इस का पाठ करेंहींगे, तो इस नियमोल्लंघन के सारे दोषों के जिम्मेदार, वे पाठक ही रहेंगे। हम इस पुस्तक को लिखते समय, विभक्ति, शब्द, चिह्न, वाक्य रचना, आदि को यथा-योग्य रीति से संभाल कर लिखने में पूर्णत दत्त चित्त रहे है। तथापि, मनुष्य जाति की प्रकृति भूल-मूलक होने से दोष या स्खलन हमसे हो गया हो, तो सुज्ञ पाठक-गण उसे सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। क्योंकि, दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि--

> आयारपन्नत्तिधरं; दिट्ठिवायमहिज्जगं।
> वायविक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥१॥

अर्थात्, अहो मुनि ? आचारंग सूत्र के पढने वाले, विवाह पन्नत्ति के तत्त्वों को धारण करने वाले, एवं दृष्टि वाद के ज्ञाता होकर भी छद्मस्थ के कारण, यदि किसी समय कोई वचन-स्खलना हो जाय, तो उसका उपहास न किया जाय। तब फिर मैं तो अल्पज्ञानी हूं और प्रथम अभ्यासी हूं। इस नाते मुझ से भूलें हो जाना बहुत अधिक सम्भव है। अतः पाठक गण जहां एक ओर उन्हें सुधार कर पढें, वहां दूसरी

ओर, उनकी मुझे भी सूचना देने की कृपा करे। ताकि इसकी अगली आवृत्ति में उनका पूर्णतः सुलभता पूर्वक-परिशोधन कर दिया जाय बस, मेरी यही सविनय निवेदन है।

समकित का विवेचन।

इस अनादि और अत्यन्त कालीन संसार में, कोई एक मिथ्या दृष्टि जीव, अपने मिथ्यात्व की प्रवलता के उदय से, अनन्त पुद्गल-परावर्तन तक, वारम्वार जन्म तथा मरण को धारण करता हुआ भ्रमण करता रहा। यों करते करते, यह सम्भव है, कि अनेकों अशुभ कर्मों के दल में कुछ न कुछ न्यूनता अवश्यमेव होही जाती है। जिस से जीव के कर्म-दल का भारीपन, कुछ मिट कर हलका रूप धारण कर लेता है। जैसे कि पथरीली नदीयों, के पानी के निरंतर प्रवाह के कारण पत्थरों के पारिस्परिक संघर्षण से, बड़े से बड़े पत्थर भी, सब और से समान, गोलाकार, अण्डाकार, तथा शिव लिङ्गाकार आदि का रूप धारण करते हुए, क्रमशः छोटा-छोटा रूप ग्रहण करते जाते है। और यों, आगे दिनों, वे रेती के, वालू के, तथा रज के रूप में परिणत होकर नदी से निकल हवा के द्वारा आकाश के आंगन में या जल के प्रवाह द्वारा समुद्र की गोदी में चिर विश्रान्ति को प्राप्त हो जाते हैं। ठीक इसी

प्रकार जीव भी परिणाम विशेष रूप से, तथा-प्रवृति करण योग के द्वारा अपने अनंत कर्मों के दल को क्षय कर, यों कुछ कम कर्म-वन्धनों के स्वभाव को प्राप्त होता है। उस समय वह सभी पंचेन्द्रिय का भव पाकर, पूर्वोपार्जित आठ जो जो कर्म हैं, उनमें से एक आयुष्य कर्म को छोड, अवशेष सात कर्म; जो, एक पल्योपम का असंख्यातवां भाग हीन-अर्थात् एक क्रोडा कोडी सागरोपम की स्थिति धारण करते हैं, उसका नाम यथा-प्रवृति करण कहलाता है उस समय पूर्व जन्मोपार्जित अशुभ कर्मों के योग से, जो अत्यन्तराग द्वेष का परिणाम स्वरूप, कठिनता से भी जो दूर न हो सके तथा टूट न सके, और जो प्रथम, किसी भी समय में तोडी न गई हो, ऐसी एक ग्रन्थि, अर्थात् गांठ रहती है। यथा प्रवृति करण से अनंतो कर्मों के दल को क्षय करके अनंत भव्य जीव भी, उस गांठ के मूल पर्यन्त पहुंच सकते हैं।

तत्पश्चात्, उस ग्रन्थि के देश भाग में पहुंच कर, भव्य तथा अभव्य जीव क्रमशः संख्याते काल अथवा असंख्याते काल तक वहां रहते है। उनमें जो अभव्य जीव होते हैं। वे तीर्थंकरों के अतिशय आदि को, तथा, चक्रवर्ती आदि राजाओं के द्वारा की हुई तीर्थङ्करों की सेवा-विनय आदि वहुमान्य भक्ति को, देखकर देव लोक के सुखोप भोग की अभिलाषा से दिक्षा ग्रहण करते है तव वे अभव्य-द्रव्य साधु वनकर, अपनी प्रतिष्ठा की अभिलाषा से, भव्य साधुओं की रीति के अनुसार क्रियाओं का अनुसरण करके, अपने शरीरों को कृशाङ्ग करते हुए, जैनों के द्रव्य लिंगीपने में मृत्यु को प्राप्त होकर, नवग्रैवेक विमान पर्यन्त वाली गति को प्राप्त हो जाते

हैं। फिर वे अभव्य द्रव्य-लिङ्गी-कितनेक सूत्र पाठ मात्र नव पूर्व तक पढ़ते हैं, और फिर कितनेक दश पूर्व से कुछ ही कम पढ़ लेते हैं। ··· ·· ·······.

अब इस जगह इस पदके प्रसंग पर समझने की बात यह है कि कुछ कम दश पूर्व तक अभ्यास करने वाले को, मिथ्यात्वदृष्टि-पन-वालों (मिथ्यात्व -दृष्टा) की संज्ञा लागू पड़ती है। इस लिये इतना अभ्यास करने वाला कोई भी मनुष्य मिथ्यात्वोदय के कारण, यदि विपरीत प्ररूपना (विपरीत बातें) करें तो उसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं जान पड़ती है। फिर, सम्पूर्ण दश पूर्व का अभ्यास करने वाले को तो अवश्य मेव सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। और इस से कम पढ़ने वालों में सम्यक्त्व की भावना का प्रादुर्भाव हुआ पाया जाता है। परन्तु यह भावना किसी को होती है किसी को नहीं होती है। इस विषय में कल्प-भाष्य में भी पूर्वाचार्यों ने कहा है कि" चउदस दसय अभिन्ने नियमा संमन्तु सेसए भयणा, अर्थात् पूरे चौदह पूर्व तथा पूरे दश पूर्व पढ़ने वालों को निश्चय-पूर्वक समकत्त्व की प्राप्ति होती है। तब यह जीव यथा-प्रवृत्ति करणके अन्त में कर्मों के दल का क्षय हो जाने से, अनन्त वीर्य का प्रसार कर, अपूर्वकरण करता है। अर्थात् सात कर्म की जो क्रोड़ी-क्रोड़ी सागरोप की स्थिति रही हुई थी, उसमें से अन्तर मुहूर्त्त का भोग करके, अर्थात् हीन करके, उस स्थान पर वाक्ष ग्रन्थिं छेदन के साथ, वह अनिवृत्ति करण में प्रवेश करता है। अर्थात् जो घनिष्ठ राग द्वेष की गांठ थी, वह अब भेदी जाती है। वहां तप कर्म का क्षय करके, पूर्वोपार्जित अवशेष रहे हुए मिथ्यात्व दल के वह तीन ढेर

करता है। उन तीन ढ़ेरों के, क्रमशः शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध ये तीन नाम होते हैं! इन तीन ढ़ेरों के करने के पश्चात् निवृत्ति-करण के द्वारा सामर्थ्य लाभ कर कई एक भव्य जीव पहले ही सत्त्योपशमी सम्यकत्त्व-दृष्टि हो जाते हैं। और कितनेक औपशमी सम्यकत्त्व-दृष्टि होते हैं। यह हुआ सम्यकत्त्व का कुछ विवरण। किन्तु यदि कोई जिज्ञासु और कोई विवेकवान पुरुष सम्यकत्त्व का विस्तार-पूर्वक विवरण पढ़ना या उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। तो उन्हें सुत्र या अन्य ग्रन्थों का ध्यान-पूर्वक पठन-पाठन और मनन करना चाहिये बस ये ही तीन करण हैं। जिनमें से पहिले तथा प्रवृत्ति करण पर्यंत ·अभव्य जीव रहते हैं। और भव्य जीव तीनों करण करके सम्यकत्त्व को प्राप्त होते हैं॥

॥ ॐ ॥

समकत्त्व के भेद औरभी यों हैं।
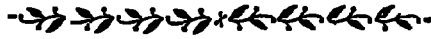
-৵৵৵৵৵৵৵×৵৵৵৵৵৵৵-

एगविह दुविहं तिविहं, चउहा पचं विहं दस विहं ।
समं होई जिणणाय गेहिं, इइ भणियमणं तनाणीहिं॥

अर्थात श्री वीतराग भगवान के परम पवित्र उपदेश में यह कहा गया है कि जीव अजीव, वगैरह में सच्ची श्रद्धा रखना, यही सम्यकत्व का मुख्य लक्षण है। यह हुआ सम्य कत्त्व, का प्रथम भेद ? सम्यकत्त्व के अन्य भेद हैं। (१) द्रव्य सम्यकत्त्व, और (२) भाव सम्यकत्त्व विशुद्धि विगुण के द्वारा मिथ्यात्व पुद्गलों को शुद्ध करना, द्रव्य सम्यकत्त्व कहलाता है। और, द्रव्य सम्यकत्त्व की सहायता से जिनोक्त तत्त्वों पर उत्पन्न हुआ रुचि-रूप परिणाम भाव-सम्यकत्त्व का लक्षण है। फिर सम्यकत्त्व के निश्चय और व्यवहार नये की अपेक्षा से भी, दो भेद होते हैं। निश्चय -सम्यकत्त्व वह है। जिसके द्वरा ज्ञान-दर्शन, चारित्र रूप आत्मा के परिणाम, अथवा ज्ञानादिक परि-णति से आत्मा पृथक है, ऐसा जाना जाता है। यही निश्चय-सम्यकत्त्व मोक्ष-मार्ग का मुख्य हेतु है उसमें देव, अरिहन्त और गुरु ये शुद्ध धर्मोपदेशक हैं । यही मोक्ष मार्ग को दिखलाने वाले हैं । और केवल-ज्ञानी महाराज के द्वारा प्रतिपादन किया हुआ जो दयामय धर्म है, वही सत्य-धर्म है। इन तीनों सम्यकत्त्व के तत्त्वों के ऊपर

नय, चार प्रमाण, चार निक्षेप, आदि गुणों के द्वारा' श्रद्धा को सिद्ध करना ऐसा जो निश्चय सम्यक्त्व का कारण है। वही व्यवहार, सम्यकत्व कहलाता है। इसके भी फिर तीन भेद कहे गये हैं। वे यो है—

(१) कारक, (२) रोचक, और (३) दीपक। अपनी आत्मा को अति उत्साह के साथ धर्मानुष्ठान में प्रवृत करना, "कारक" कहलाता है। यह कारक नाम सम्यकत्व प्रायः पञ्च महाव्रतधारी मुनि जनों में देखा जाता है रोचक सम्यकत्व' का लक्षण, केवल अनुष्ठानों के ऊपर रुचि रखना है। यह सम्यकत्व अक्सर करके अव्रती समदृष्टि जीवों में पाया जाता है। दीपक सम्यकत्व में आप स्वयं तो मिथ्या--दृष्टि अभव्य अथवा किसी दुर्भव्य अंगार मर्दक की भांति रहता है। स्वयं के विना दूसरे जीवों को धर्म-कथा कहता रहता है। और वीत राग भावित वोध के द्वारा जीवाजीवादि पदार्थ कह बतलाता है। परन्तु आप स्वयं उस के पर श्रद्धा नहीं रखता।

इस प्रसंग पर यदि कोई संशय-युक्त होकर, यह प्रश्न करे, कि "अभव्यतो स्वयं ही मिथ्या दृष्टि होता है। फिर उस में सम्यक्त्व कैसे कहा जायगा? इसका उत्तर यों है, कि "अभव्य जो मिथ्या दृष्टि के वाचक हैं। वे ज्ञानकी वृद्धि से भाषा वर्गणारूप धर्माधर्म को प्रकाशित करने के परिणाम विशेष हैं। और उसका उपदेश श्रोता-जनों को सम्यक्त्व प्राप्त होने का कारण भूत है। इस हेतु से, कारण के द्वारा कार्य का उपचार करके, वह मिथ्यात्वी एक धर्मोपदेशक के नाते सम्यक्त्वी कहलाता है। पर तु है वह निर्गुण। सम्यक्त्व के तीन

भेद और भी यों हैं। (१) औपशमिक (२) क्षायिक (३) और क्षायोपशमिक। इनके लक्षण नीचे के अनुसार हैं। (१) उदय में आये हुए मिथ्यात्व का अनुभव करने, उसे क्षय करने, और सत्ता में रहे हुए अनुदीर्ण (जो उदय में नहीं आया है) मिथ्यात्व दल को शुभ परिणाम विशेष से विशुद्ध करके, उपशम करने से जो गुण विशेष उत्पन्न होता है, उस का नाम औपशमिक-सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व पूर्वोक्त ग्रन्थि भेदन करने वालो को, तथा उपशम प्राप्त पुरुषों को प्राप्त होता है। (२) अंतानुबन्धी, क्रोध-माया-मान और लोभ को क्षय करने के पश्चात मिथ्यात्व मिश्र सम्यकत्व के पुँज रूप, तथा तीन प्रकार के दर्शन, वा मोहनी कर्मों का सर्वथैव क्षय हो जाने पर, जो गुण उत्पन्न होता है, उसे क्षायिक-सम्यकत्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व क्षायिक श्रेणी में आने वाले आत्माओं ही में पाया जाता है। और (३) उदय में आया हुआ जो मिथ्यात्व है, उस मिथ्यात्व विपाक के उदय हुए भाग को भोगने के पश्चात, फिर, जो शेष सत्ता में है, और अभी उदय ही में नहीं आया, वह उपशान्त, "अर्थात् मिथ्यात्व और मिश्र पुञ्ज के आश्रय के द्वारा, उदय में आने से रोका गया, और शुद्ध पुंज के आश्रय की सहायता से मिथ्यात्व स्वभाव को दूर किया गया, इस प्रकार उदीर्ण मिथ्यात्व के क्षय करने और अनुदीर्ण को उपशम करने के द्वारा, जो गुण विशेष उत्पन्न होता है, उसे क्षपोपशामिक सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यकत्व के कहीं कहीं चार भेद भी बतलाये गये हैं। उनमें से प्रथम के तीन तो, जो ऊपर कह आये हैं। वे ही हैं।

शेप चौथा सास्वादान सम्यकत्व कहलाता है। उपशम सम्य कत्व से पतित होने के अन्त में उस के अंश का जो अनुभव होता है, उसे सास्वादान सम्यकत्व कहते हैं। यों सम्यक्त्व के चार भेदों में एक वेदक नामक सम्यकत्व के और मिला देने से,सम्यकत्व के कुल पांच भेद होजाते हैं। जिस जीव का क्षायिक श्रेणी "प्राप्त करने पर अनंतानुबंधी चौकड़ी और मिथ्यात्व तथा मिश्र इन दोनों पुंजो का क्षय होजाने पर, क्षयोपशमिक रूप शुद्ध पुंज भी क्षय को प्राप्त होता जाय, तत्पश्चात अन्तिम पुद्गल के क्षय करने को उद्यत होना, तथा उस पुद्गल की जान कारी प्राप्त करना, "वेदक-सम्यकत्व" कहलाता है। ये पांचों प्रकार के सम्यकत्व निसर्ग और अधिगम के द्वारा प्राप्त होते हैं। इसी कारण सम्यक्त्व के दश भेद भी माने गये है। किन्तु यहां यह भी नहीं भूलना चाहिये, कि इन समस्त प्रकार के सम्यक्त्वों की प्राप्ति एक मात्र चेतन दशा के प्रकट होने ही से हो सकती है।

अब ऐसे आत्मगुणज्ञ के लिये सम्यक्त्व की पुष्टि के खातिर प्रज्ञापन्नाजी सूत्र में कहा गया है, कि-" दशविहे सो एसे " अर्थात् पूर्वोक्त सम्यक्त्वों की रुचि दश प्रकार से उत्पन्न होती है। वे रुचियां नीचे लिखी जाती है—

(१) स्वकीय स्वभाव से वीतराग के वचनों में रुचि उत्पन्न होना निसर्ग रुचि, कहलाती है ? (२) जब गुरु के उपदेश से सर्वज्ञ के वचनों पर रुचि उत्पन्न हो, तो उसे 'उप-देश रुचि कहते है। (३) सर्वज्ञ की आज्ञा में रुचि उत्पन्न होना, आज्ञा रुचि है। (४)सूत्र के अनुसार रुचि का उत्पन्न होना, 'सूत्र-रुचि कहलाती है। (५) वीतराग के द्वारा

प्ररूपित एक वस्तु को ज न लेने पर जब अनेक वस्तुओं के जानने में रुचि उत्पन्न होती है। तो उसे "बीज-रुचि, के नाम से पुकारते है। (६) विशेष जानने के कारण जो रुचि उत्पन्न हो, उसे अभिगम रुचि कहते हैं। (७) सम्पूर्ण द्वादशांगों की नय जान लेने पर, जिस रुचि की उत्पत्ति होती है। उसे विस्तार रुचि, कहते हैं। (८) संयम में शुद्ध अनुष्ठान करने से क्रिया-रुचि की, उत्पत्ति होती है। (९) किसी विशेष ज्ञान के न होने पर भी, अल्प ज्ञान ही से जिस रुचि की उत्पत्ति हो, उसे संक्षेप-रुचि कहते हैं। और (१०) पञ्चास्तिकाय तथा श्रुत धर्म के जानने में जिस रुचि की उत्पत्ति होती है। वह जगत् में धर्म-रुचि के नाम से प्रख्यात है। प्रज्ञापन्नाजी सूत्र में इन दशों रुचियों का विस्तार--पूर्वक वर्णन किया हुआ है। वे पाठक-जिन्हें इन रुचियों के ज्ञान की विशेष अभिलाषा हो, उन्हें प्रज्ञापन्नाजी सूत्र का ध्यान पूर्वक अवलोकन करना चाहिये। फिर इसी सम्यक्त्व का निश्चय करने के लिये सतसठ भेद भी किये गये है। वे यों हैं-सम्यक कत्व की चार सरदहणाएँ, तीन लिङ्ग, दशविनय, तीन शुद्धियां, पांच लक्षण, पांच दूषण, पांच भूषण, आठ प्रभाविक, छः आगार, छः यत्नायें, छः स्थानक और छः भावनायें। इन्हीं सतसठ भेदों से सम्यकत्व की निर्मलता होती है। यों तो सम्यकत्व का विस्तार और भी बहुत अधिक लम्बा चौड़ा है। परन्तु विवेकवान धर्मात्मा पुरुषों को कम से कम इतना तो अवश्यही जानना चाहिये। जिससे वीतराग भगवान् की आज्ञानुसार सिद्धान्त बोध को श्रवण करते समय, शुद्ध सम्यकत्व, ज्ञान और चारित्र इन त्रिरत्ना के निश्चय की प्राप्ति

हो सकेगी । तबही जीव कर्म बन्धन से दूर रह सकेंगे । फिर सम्यकत्व की पुष्टि अरिहंत, श्रमण, निर्ग्रन्थ तथा देशवर्ती से कही गई है । उस का सारांश दशवें प्रश्नोत्तर से समझ कर, स्वयं की तथा पर की आत्म हित-चिन्तना की चेष्टा करनी करानी चाहिये ।

❀ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ❀
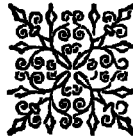
॥ ॐ ॥

समकित-सार, चतुर्थ-संस्करण की
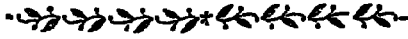
भूमिका ।

पाठकों ? समकित-सार नामक पुस्तक का यह चौथा संस्करण आप के हाथों सौंपा जारहा है । पहले दो संस्करणों में, इस का जन्म गुजरात में होने के कारण, इस का लिवास, भाषा और लिपि दोनों के विचार से, गुजराती था । परन्तु जैसे जैसे काल-वृद्धि होती गई, जनता में उतना ही इसका समादर बढ़ता गया । या यूं कहो, कि ज्यों ज्यों यह सयानी होने को चली, प्रायः प्रत्येक जैन-जिज्ञासु का हृदय और शरीर इसे पाने के लिये अधीर और उत्सुक हो उठा । परन्तु इसके अनेकों कृपालु पाठकों के, मन की परम प्यारी और बड़ी ही मनोहर वस्तु होने के कारण, इसे अपने गृहों और पुस्तकालयों की पटरानी का पद, उत्सुकता और अधीरता के साथ देने के सारे संकल्प-विकल्प और मनसूवे, अपने गुजराती न होने तथा अपने को गुजराती भाषा और लिपि से एक दम अनभिज्ञ देख तथा समझ कर, उस समय उन्हें हठात् स्वाविचारधारा रोकनी पड़ती, जब वे, इसे गुजराती लिपि और गुजराती ही भाषा के, आदि से अन्त तक गुजराती ही लिवास में देख या सुन पाते । यह देख और सुन कर, इसे भी बड़ा दुख होता । फिर, तब तो इसने भी अपने तथा अपने

कृपालु पाठकों के दुख को दूर करने का कुछ प्रयत्न किया । यों अब अपने तीसरे संस्करण के रूप में यह जगत् के सम्मुख आई, इसने अपने गुजराती लिपि को एक वारगी हिन्दी लिपि में वदल डाला । परन्तु भाषा तब भी इस की गुजराती ही थी। किन्तु हां, लिपि इसकी हिन्दी हो जाने के कारण, यह एक हिंद वाणी के लिवास में अपने पाठकों को दिख पड़ी थी, तब भी अन्दर से थी यह गुजरातिन ही । अब जब राष्ट्र-भाषा के पदपर हिंदी सुशोभित होरही है, इसे, इसके तीसरे संस्करण के, समय भी, इस का यह लिवास अखरा । क्योंकि, वे तो इसी को अपने पुस्तकालयों की पटरानी बनाना चाहते थे । इसवार भी जिस समादर की सम्प्राप्ति के लिये यह अपने घर से निकली थी, इसे वह सम्प्राप्त न हुआ । तबतो इसके कृपालु पाठकों ने, इसे अपने सीधे से सीधे आज की हिन्दी के लिवास में आने के लिये, कई जगह तरह तरह की मिन्नतें मानी, पैसे खर्च किये; दौड़--धूप की । जिस से भारत की वहु संख्यक हिन्दी भाषा भाषी जनता इससे यथोचित् लाभ उठा सके । इस की तथा इस के पाठकों की, एक दूसरे के प्रति ऐसी दयनीय दशा और पारस्परिक अभिरुचि को देखकर इसे आज की हिन्दी में ढालने का सारा भार, एक प्रवोधक के रूप में, जैन जगत् के प्रसिद्ध तपस्वीराज श्री १००८ श्री देवजी ऋषि महाराज ने अपने ऊपर लिया । ऋषि राज की ऐसी लोकोपकारक मानसिक वृत्ति को देख, इन्दौर के श्रीयुत मास्टर रखवचन्दजी ने, इसके हिन्दी अनुवाद का जिम्मा अपने सिर- कन्धों लिया । जिस के अनुसार, उन्होंने अपने प्रयत्न भर उसे सर्वाङ्ग सुन्दर रूप में ढाल भी दिया अब अपने पूर्व ध्येय के अनुसार इस का अनुवादित रूप तैयार हुआ ।

परन्तु शास्त्रानुसार संशोधन का भार इस का कौन ले, जब एक ओर यह प्रश्न उठ ही रहा था, उसी समय दूसरी ओर, इसके संशोधन के भार को वहन करने की श्री शास्त्र विशारद बाल ब्रह्मचारी श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर श्री १००८ श्री मन्नालालजी महाराज की संप्रदायानुयायी कविवर सरल स्वभावी पण्डित मुनि श्री १००८ श्री हीरालालजी महाराज के सुशिष्य जैन जगत् के प्रसिद्ध वक्ता पण्डित मुनि श्री १००८ श्री चौथमलजी महाराज के सु शिष्य साहित्य प्रेमी पण्डित मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज से प्रार्थना भी की जा रही थी। तदनुसार उक्त श्री प्यारचन्दजी महाराज ने अपने दिन रात के अनवरत परिश्रम से, जितने भी ग्रन्थ मिल सके, उनकी सहायता से इसे थोड़े से थोड़े समय में संशोधित कर दिया। अस्तु।

पाठकों! हम इन तीनो महानुभावों, अर्थात् प्रबोधक, अनुवादक और संशोधक, के प्रति जितनी भी अपनी कृतज्ञता प्रकाशन करें, थोड़ी ही है। तिसपर भी हम यहां यह कहे विना भी कभी नहीं रह सकते, कि इस के प्रेमी पाठकों को इसे उन के मन के अनुसार, हिन्दी लिबास में मिलने तथा इस के पठन पाठन और श्रवण मनन से उन के हृदयों में जो आत्म जागृति और स्वधर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा तथा भक्ति होगी, उन सब कार्यों का आदि से अन्त तक का सारा श्रेय, इसके प्रबोधक ही के हिस्से में, अधिक से अधिक रूप में, रहेगा। क्योंकि, उन्ही की प्रबोधन शक्ति और आन्तरिक प्रेरणा से, यह पुस्तक अपने आज के रूप में पाठकों के हाथों सौंपी जा रही है।

—विनीत, प्रकाशक।

॥ ॐ ॥

आवश्यक निवेदन।

प्रिय पाठकों ! इस हिन्दी अनुवादित ग्रन्थ को आप के हाथों सौंपने के पहले हम आप से यह निवेदन कर देना उचित समझते हैं, कि जो भी इस के प्राण रूप; प्रबोधक अनुवादक और संशोधक महोदयों ने, इसे शुद्ध से शुद्ध रूप, में पाठकों के हाथों सौंपने का अपना बल-भर प्रयत्न किया है, तथापि 'भूलें होना मानवी स्वभाव है,' के सिद्धान्त से, इस में यत्र-तत्र, उपर्युक्त महानुभावों से या प्रेस के कर्मचारियों से; कोई भूलें रह गई हों, तो कृपालु सहृदय पाठक-गण उन्हें पहले तो खुद सुधार कर पढें। दूसरे, वे हमें भी उन की समय समय पर सूचना देकर वाधित करते रहें। जिस से, आये दिनों, नया संस्करण, और भी अधिक परिशोधित रुप में, अपने पाठकों के हाथों हम सौंप सकें।

विनयावनत,

प्रकाशक।

॥ ॐ ॥

तपोधनी श्री देवजी ऋषि महाराज की संक्षिप्त-जीवनी।

(१)

जितने सुख संसार के,
भेले किये बटोर ।
कन थोरा कङ्कर घणा,
देखो फटक पछोर ॥
—"बाबा मलूकदास ।"

(२)

को ज्ञानी , अज्ञान को ,
को सुकृती , को पाप कर ?
हिय विचार नित करत जे ,
कहियत पूरे सन्तवर ॥

—"मान"—जब्बलपुरी ।

भारतवर्ष के कच्छ प्रान्त में पुनडी एक ग्राम है। वहां के निवासी श्रीयुत सेठ साहब अम्बाजी के ज्येष्ठ पुत्र, श्रीयुत जेठा-भाई संवत् १६२६ विक्रमीय में, व्यापारार्थ, बम्बई नगर के भारत बाज़ार में आकर रहे। आप को एक पुत्री थीं। जिस का नाम श्रीमती मीराबाई था। इस सौभाग्यवती देवी की कोख से, संवत् १६२६ विक्रमीय की दीपावली के शुभ दिन, एक पुत्र-रत्न की उत्पत्ति हुई। जिस का शुभ नाम देवजी रक्खा गया। संवत १६३८ विक्रमीय में: अर्थात् लगभग ११ वर्ष की छोटी सी उम्र ही में इन्हीं देवजी की माता श्रीमती मीराबाई का अचानक स्वर्गवास हो गया। मातु श्री की मृत्यु के पश्चात, देवजी, कांदावाड़ी (बम्बई) में आकर रहने लगे। वहां अपने काका, धारसी-भाई की दूकान पर, आपने कुछ दिन रह कर, व्यापार सम्बन्धी अनेक गूढ तत्त्वों की भली भांति जानकारी प्राप्त करली। आप की व्यापारिक-कला-कुशलता के साथ, आप के स्वभाव की सादगी, स्वावलम्बन, सचाई और मितव्यता ने मिलकर, आप के जीवन में और भी चमक लादी। तब तो आप का इरादा हुआ, कि स्वतन्त्र रूप से किसी एक दूकान की स्थापना की जाय। और दूकान की यह स्थापना भी देहातों में न की जाय; किन्तु वर्तमान् भारत की विशाल नगरी (the queen city of the east) बम्बई में करनी चाहिए। पाठकों! कार्य-कुशल, मनसूबे के मजबूत, स्वावलम्बन-प्रिय, और कर्म-वीर तथा पुरुषार्थी पुरुषों के लिये, इस संसार में वह कौनसा कठिन से कठिन कार्य है, जो उन के इरादों के इशारों पर पूरा नहीं उतरता। अथवा कौनसा वह दुस्तर और बीहड़ मार्ग है, जिसे उनके सहारे ने पार न किया

हो; और कौनसा वह स्थान है, जहां उनके पैरों की पहुँच न हुई हो। इसी अपेल सिद्धान्त के अनुसार, देवजी ने संवत् १६४५ विक्रमीय में अपने मनसूबे के मुआफिक बम्बई की जीवाजीचाल में, "देवजी जेठी" के नाम से एक दूकान की स्थापना कर ही दी। यह दूकान किराने की थी। देवजी की ईमानदारी, अनवरत परिश्रम, नेक-नीयत, कार्य कुशलता और लोक प्रिय स्वभाव के कारण थोड़े ही दिनों में इन की दूकान का काम बहुत ही अच्छा चल निकला। दूकान की दिन-दूनी और रात चौगुनी उन्नति होती हुई देखकर, पाड़-पड़ौस के व्यापारी इन के दैविक गुणों का अनुकरण करना सीखने लगे। यही नहीं, उस बाजार के तत्कालीन अच्छे अच्छे व्यापारी तक, देवजी को अपना साथी बनाने की चेष्टा करने लगे। फिर एक दिन धारसी अम्बा और लखमजी लद्धा ने देवजी से भेंट की, और उन की दूकान में अपने को भागीदार बना लेने की, देवजी के सम्मुख अपनी प्रबल इच्छा प्रकट की। देवजी ने यह समझ कर, कि जब कमजोर से कमजोर एक और शून्य भी मिलकर, बड़े से बड़े अङ्क नौ से भी अधिक शक्ति धारण कर लेते हैं, तब हम तो सजीव हैं, यदि हम लोग भी एक दिल होकर इसी सिद्धान्त से व्यापारिक क्षेत्र में कूद पड़ें, तो न मालूम हमारी भी कौनसी और कितनी शक्ति बढ़ जायगी! उन्हें अपनी दूकान में भागीदार बना लिया। अब तो इन का व्यापार और भी जोरों से चलने लगा। और होते होते कुछ ही दिनों में इस दूकान ने एक बड़े भारी भण्डार का रूप धारण कर लिया।

संवत् १६४६ विक्रमीय में, 'चिञ्चपोकली' के स्थानक में, परम-पूज्य श्री कान्हजी ऋषि महाराज के सम्प्रदाय के

स्थवीर—अत्युच्च—पद विभूषित, आचार्य श्रीहर्ष ऋषि महाराज के शिष्यवर, स्याद्वादवारिधि और बाल-ब्रह्मचारी श्री सुखा ऋषि महाराज, विवेक विलासी श्री हीरा ऋषि महाराज और पण्डित प्रवर श्री अमी ऋषि महाराज, ठाणा तीन का चातुर्मास हुआ। इसी अवसर पर श्रीयुत खेतसी भाई की यहां दीक्षा हुई। और बोधामृत के श्रवण से देवजी भाई के मन में भी संसार के प्रति उपराम की उत्पत्ति और उमड़ आई। और उन्होंने भी वैराग्य ग्रहण कर लिया। इसी-समय परम वैराग्यवान् देवजी भाई की भी उत्कट अभिलाषा हुई, कि वे भी दीक्षा ग्रहण कर लें। परन्तु, इन के पूजनीय पिताजी की ओर से इन्हें आज्ञा न मिली जिस के कारण इन का चित्त बड़ाही उदास हुआ। किन्तु, जिस के दिल में किसी काम की सच्ची लौ लगी रहती है, उसे बिना प्राप्त और पूरा किये दर्दी को शान्ति ही कब मिल सकती है ! अत जब भी आप के पिताजी की ओर से, दीक्षा ग्रहण करने की, आप को स्वीकृति न मिली थी, तब भी आप के दिल में उस के प्रति परम प्रेम और बड़ी चटपटी थी। तब तो आप उक्त महाराज श्री के साथ ही साथ, पैदल ही पैदल चल कर नाशिक आये। यहां पूर्व सूचना के अनुसार, अन्त में सेठ लालजी, चांपसी, तथा गोंडल के कड़वा-भाई कल्याणजी ने, देवजी के पिता जेठा-भाई को किसी तरह समझा-बुझाकर, उन के दीक्षा ग्रहण का आज्ञा पत्र उन से प्राप्त कर ही लिया। उस समय सेठ दायजी भी लखमीचन्दजी के साथ नाशिक आये हुए थे। बम्बई में दीक्षा देने और दीक्षोपलक्ष्य में उत्सव मनाने की विज्ञप्ति निकलवाने की इच्छा प्रकट की गई। तदनुसार, विज्ञप्तियां छपवाकर बांट भी दी गई और जहां कहीं भेजने

की थी वहां भी भेज दी गई। किन्तु, "स्वर्ग से गिरा और खजूर में अटका" के सिद्धान्तानुसार, पूज्य महाराज श्री ने इस पर अपनी असहमति और अस्वीकृति प्रदान की तब तो वम्बईवालों को लाचार हो कर उलटे पांवों लौट जाना पड़ा। इतने ही में चिञ्चपोकली स्थानक के सेक्रेटरी, भाई प्रेमचन्द अभयचन्द मारफतियान नाशिक आ कर पूज्य श्री से अर्ज की, कि-"पूज्य श्री लव जी ऋषि महाराज के सम्प्रदाय के जो साधु-सन्त लोग, गुजरात प्रान्त में यत्र-तत्र विचरण करते हैं, और पूज्य श्री लव जी ऋषि के ही तीसरे पाट पर विराजमान, पूज्य श्री कान्ह जी ऋषि के सम्प्रदाय में, आप हैं। इसलिए दोनों सम्प्रदाय का मूल एक ही महा पुरुष है। अस्तु। हमारी समझ मे, वर्तमान, का, जो यह द्वन्द्व-भाव के रूप में भेदाभेद का प्रसारण हो रहा है, इस को जड़मूल से मिटा कर, आप दोनो का परस्पर में एक हो जाना, इस काल के लिये अति ही लाभ-दायक और देश-काल की दशा के अनुकूल है। ऐसे समय यदि आप सूरत पदार्पण करें, तो यह कार्य निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो सकेगा; हमें ऐसी दृढ़ आशा और विश्वास है।" इत्यादि कथन, पूज्य महाराज को समयानुसार सुन्दर और लाभ-प्रद प्रतीत हुआ। तब तो आप ने नाशिकवालों के निवेदन को अस्वीकार करते हुए, सतपुड़ा की श्रेणियों और विकट वन-प्रदेश को लांघते हुए, किसी भी तरह सूरत जाने ही का दृढ़ निश्चय किया तदनुसार, आप सतपुड़ा के सघन वन-खण्ड और पर्वत-श्रेणियों को पार करते हुए, और मार्ग-जन्य अनेकों प्रकार के कष्टों, व वनैले हिंसक जन्तुओं की भयानक हुङ्कार और छोटे-मोटे प्रहारों, तथा भूख तृषा शीत-वात-आतप,

आदि के अनेक विकट सङ्कटों को, सहर्ष सहते हुए, आप महाराज श्री सूरत नगर को पधारे। उधर, मारफतिया जी ने भी खम्भायत बन्दर में पहुंच कर, पूज्य श्री हर्ष ऋषि जी महाराज के युगल सम्प्रदायों में सच्चा सम्प, सच्चा सहयोग करने-कराने की कोशिशें करना प्रारम्भ करदी। मारफतिया जी ने जगह जगह पर, समयोपयोगी वक्तृताएं देने दिलवाने की भी योजना का उत्तम प्रबन्ध किया फलत इन सब का, विकृत-मना समाज के दिल और दिमागों पर, राम- बाण औषधि के रूप में, बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा। लोगों ने एक स्वर से सहयोग के लाभों को जाना; माना; और उस की शक्तियों को समादर की दृष्टि से देखा; तथा उस के साथ अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रदर्शित की, इतना ही नहीं, उन्हों- ने यह भी स्वीकार कर लिया; कि "Union is Strength" अर्थात् सङ्गठन ही शक्ति है।

इस अवसर पर, पूज्य महाराज श्री तो, अपनी जरा अवस्था के जर्जरित शरीर और शक्तियों के कारण, सूरत में न पधार सके। परन्तु, हां सम्प की शक्तियों, लाभों, और सुहृदःभावों को साद्यन्त समझ कर, पूज्य महाराज श्री ने भी लल्लूजी ऋषि, श्री देवकरणजी ऋषि, श्री हीराजी ऋषि तथा श्री चतरूजी ऋषि, ठाणा चार को, अपने प्रतिनिधि रूप में सूरत भेज कर, आप ने मारफतियाजी के सत्साहस को समुचित रूप से, और अपने बल--भर प्रयत्न तथा प्रेम से, संवर्द्धित करने की कृपा की। यही क्यों, आप ने उन के सत्- साहस को संवर्द्धित ही नहीं किया, किन्तु उस काम में आप ने अपनी पूर्ण रूप से सहानुभूति और सत्सम्मति भी प्रकट

की। पश्चात् बड़े प्रेम से, एक दूसरे के सद्विचारों से पूर्ण सहानुभूति दर्शाते हुए, दोनों ओर के साधु-गण, एक दूसरे से मिले-भेंटे, और उन्हों ने परस्पर के मनोविकारों को, अपने प्रेमालाप के द्वारा, सदा के लिए धो वहाया।

यहीं मिति चैत्र कृष्णा ३ संवत् १६४६ विक्रमीय के दिन, देवजी भाई दीक्षोत्सव-कार्य सानन्द समाप्त हुआ। इस उत्सव के उपलक्ष्य में अकेले वम्बई नगर से आये हुए दर्शकों,-श्रावक और श्राविकाओं--की संख्या लगभग १००० के थी। दीक्षा के उपलक्ष्य में महोत्सव का जो भी कुछ खर्च हुआ, वह सब का सब, वम्बई-सङ्घ की ओर से किया गया था। दीक्षा-ग्रहण-कार्य के अन्त में, दीक्षा प्राप्त महा पुरुष का नाम "श्री देवजी ऋषि" निर्धारित किया गया। वहां से प्रस्थान कर श्री महाराज लल्लूजी ऋषि आदि सन्तों ने, ठाणा चार से, वम्बई पधार कर, उस साल का चौमासा वहीं मनाया। वहीं वेलजी ऋषि की दीक्षा हुई। श्री सुखा ऋषि महाराज ने, ठाणा पांच से, संवत् १६५० विक्रमीय में, धूलिया (पूर्व-खानदेश) में चातुर्मास मनाया। वहां श्रीयुत गुलावचंदजी श्रीमाल ने पांच व्यक्तियों को दीक्षा दिलाई। वहां से सुख-शान्ति-पूर्वक विहार कर, सन्तों ने मालव प्रान्त की ओर प्रस्थान किया। और संवत १६५१ विक्रमीय का चौमासा भोपाल में मनाया गया। फिर, संवत १६५२ विक्रमाब्द का चातुर्मास, श्री हर्षा ऋषि महाराज के हाथ, ठाणा ग्यारह ने, मन्दसौर (ग्वालियर-स्टेट) में मनाया। संवत् १६५३ विक्रमीय का चातुर्मास इन्दौर नगर में मनाया गया। संवत १६५४ विक्रमीय में आप पुनः भोपाल

पधारे । इस समय नाशिक-निवासी मराठा गणपतराव पाटील के सुपुत्र, सखाबाई के अङ्गजात सखाजीराव, पूज्य महाराज श्री के दर्शनार्थ पधारे । कुछही दिनों तक दर्शन-लाभ करते रहने, तथा सत्सङ्गति में रत रहने के कारण, आप के दिल मे संसार के प्रति उपराम की उत्पत्ति हो आई । इस प्रकार चित्त में वैराग्य-वृत्ति के समुदित होने पर, श्रीयुत सखाराघजी ने वंश परागत अपनी पैतृक चार गांव की कृषि, निज भार्या और सम्पूर्ण सनेही, तथा अपने विशाल परिवार आदि का, सदा के लिए परित्याग कर, सुजालपुर में पञ्चों की आज्ञा से दीक्षा ग्रहण करली । संवत् १९५५ विक्रमीय में वे सुखा-ऋषि महाराज के चेले हुए, और उन का भी नाम श्री सुखा-ऋषि ही रक्खा गया । तदुपरान्त, संवत् १९५६ और १९५७ विक्रमीय के चातुर्मास क्रमशः देवास और धार में मनाते हुए, वे इच्छावर नामक ग्राम में पधारे । यहां आकर श्री सुखा-ऋषि महाराज का स्वास्थ्य बिगड़ गया । हवा पानी भी यहां का आप को अपनी प्रकृति के अनुकुल न उतरा, तथा अपनी जरावस्था में जङ्घाबल के क्षीण हो जाने के कारण, आप चलने-फिरने, तथा बैठने-उठने आदि से भी लाचार हो गये। जब आप की ऐसी अवस्था हो गई, तब हमारे चरित-नायक श्री देवजी ऋषि महाराज, आप को अपनी पीठ पर रख और २६ (छब्बिस) कोश के लम्बे मार्ग का, अपने पैरों ही पैरों अति क्रमण कर, उन्हें भोपाल ले गये । उन के यहां लाये जाने पर अनेकों प्रकार के औषधोपचार उन के किये गये । परन्तु उन के जीवन की अन्तिम घड़ियां निकट आ पहुंची थीं। अस्तु । अनेकों प्रकार के औषधोपचार करने पर भी उनकी अस्वस्थ्य प्रकृति में रञ्च मात्र भी परिवर्त्तन नहीं हुआ । अन्त

में, उन के स्वास्थ्य की यह शिथिलावस्था, दिनोंदिन उन्हें अधिकाधिक क्षीण ही बनाती गई, और एक दिन द्वितीय श्रावण शुक्ला १५, संवत् १९५८ विक्रमीय को, उनके स्वास्थ्य की उस क्षीणावस्था ने उन के शरीर को, कराल काल के हाथों सौंपते हुए, उन की जीवन लीला को सदा के लिए संवरण कर दिया। उस समय श्री हर्षा ऋषि जी महाराज के पास, सखाऋषि जी थे। वे कालूजी ऋषि जी महाराज के साथ, भोपाल आये और देवजी ऋषि जी को, हर्षा ऋषि जी महाराज के पास ले गये। तदुपरान्त, आप पिपलौदा, आगर, भोपाल उज्जैन, पुनः आगर, साजापुर, गंगधार, वड़ोदा (मालवा) फिर, साजापुर, भोपाल, गंगधार में क्रमशः प्रति वर्ष चातुर्मास करते रहे। वहां से चलकर आप ने दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया। तथा भुसावल, हिङ्गणघाट, अमरावती, घरोरा, सोनाई, वम्बई, आदि आदि भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध नगरों में, अपने जीवन काल के साथ ही साथ पावस ऋतुओं को विताते हुए, यत्र-तत्र, अपने अगाध शास्त्र-मन्थन के सत्कार्य से लोगों को अपने सदुपदेशामृत से सिञ्चन करते हुए अनथक लाभ पहुंचाते रहे। इसी अवधि में, सखाऋषि जी महाराज के प्रतापवान और अपने समय के प्रकाण्ड शिष्य प्रताप ऋषिजी महाराज ने, सात वर्ष तक संयम पाल कर, संवत १९७८ विक्रमीय में, स्वर्ग को अपना सुन्दर धाम बनाया। पश्चात्, संवत १९७८ व १९७९ विक्रमीय के चातुर्मास क्रमशः नाशिक और जलगांव में मनाये गये। बाद, भुसावल में श्री तुलाऋषि जी की दीक्षा हुई। संवत १९८० विक्रमीय का चातुर्मास चांदोर के बाजार में बड़े धूम-धाम से मनाया गया। इसी

वर्ष के जेष्ठ मास में नागपुर में श्री वृद्धि ऋषी जी की दीक्षा हुई। संवत् १६८१ विक्रमीय का चौमासा भी, आप ने जनता के असीम प्रेम-श्रद्धा और भक्ति-सूचक आग्रह से, नागपुर ही में किया। फलतः सनातन जैन धर्म का जनता में विशेष प्रचार हुआ, और उसके प्रति लोगों की प्रगाढ़ आस्ता हो उठी। उस के गुढ़ातिगूढ़ तत्वों को लोगों ने अपनी आज की सरलातिसरल निज भाषा और भावों में पाया। यों रोज रोज के धार्मिक सङ्घर्ष से लोगों के विकृत मन संस्कृत हुए, उन का आत्मिक वल वढा, उनमें, धर्म और धार्मिक कार्यों के नाम पर जीने और मरने की धुन ने, जड़ पकड़ी। जिस से उन का जाति-मत द्वेष और द्वन्द्व-भाव दूर होने लगा, और शिक्षा तथा शारीरिक शक्तियों में पिछड़े हुए वे लोग भी, अब अपने दिल और दिमाग को शिक्षित तथा शरीरों को प्रौढ़ बनाने की हिम्मतें और हिकमतें करने के लिए कमर कसने लगे। तभी तो संसार के अनुभवियों का कथन है, कि सन्तों की सीधी सादी, किन्तु आत्मिक बल-भरी वाणी में वह जादू भरा हुआ होता है, उससे वे ये आश्चर्य जनक और अनहोने काम अनायास में हो पडते हैं, जिन के लिए संसार की पाशविक शक्तियां पच पच कर मरजाति हैं; तब भी वे पूरे नही उतरपाते।

तपस्विराज श्री देव जी ऋषि जी महाराज ने संवत १६५८ विक्रमीय से लेकर संवत् १६८१ विक्रमिय तक के २१ (इक्कीस) वर्षों ही के स्वल्प काल में, निम्न-लिखित रूप से तपश्चर्याएं की—

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ... ३८, ४१, और

फिर दुबारा ८, ६, १०, ११, १२, १३, १३, १४, १५, १५, १६, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २३ः और २४। इस प्रकार की महान् कड़ी और बहु संख्यक तपस्याओं में भी आप ने अपने आह्निक कार्यों का कभी भी परित्याग नहीं किया। और पूर्ववत् ही यथारूप से रोज-बरोज उनका पालन करते रहे। इस अपनी तपस्या की अवधि में भी, आप दोनों समय नियमित व्याख्यान, तीन घण्टे की मौन, तथा नित्य नियम और नैमित्तिक कार्य, और एक घण्टा तक रोज खड़े रह कर, रात्रि में दो, बजे ध्यान, करते रहते थे।

आगे चल कर, आपने संवत् १६८२ विक्रमीय का चातुर्मास, अपने गुरु भाई श्री अमी ऋषिजी महाराज के साथ अहमदनगर में मनाया। वहां पर तपस्वीराज ने केवल गरम जल के आधार पर ३६ (उन्चालीस) उपवास किये। वहां से प्रस्थान कर आप फिर नगर नगर और ग्राम ग्राम में होते हुए, और वहां की जनता को अपने २ अमर उपदेश में से अनथक लाभ पहुँचाते हुए, संवत् १६८३ विक्रमीय के चातुर्मास तक आप भुसावल आ पहुंचे। और लोगों के अत्याग्रह पूर्वक भाव भक्ति से विवश होकर, इस वर्ष का चातुर्मास भी अन्त में यहीं मनाया। यहां आप ने ४० (चालीस) उपवास किये। संवत् १६८४ विक्रमीय का चातुर्मास बरोड़ा में मनाया गया। लोगों ने यहां धर्म धारणा और भक्ति-भाव खूब ही दर्शाया। यहां चातुर्मास मे श्री अमोलख ऋषिजी महाराज विरचित, "जैन-तत्व-प्रकाश" ग्रन्थ की पुनरावृत्ति आप के सद्बोध से हुई। ऐसे विरले ही सन्त होंगे जो दूसरों की रचित पुस्तकों का उपयोग इस प्रकार करना जानते हों, तथा

संसार को उन के अर्जित ज्ञान भण्डार का यों लाभ पहुंचाते हां। यदि मुनि नाम और पद को धारण करनेवाले प्रत्येक मनस्वी महात्मा, इस उपयोगी बात का अनुकरन करना सीख लें, अर्थात् किसी भी आदर्श ग्रन्थ रत्न को, जो प्रकाश में नही है; प्रकाश में लाकर उस का अपनी ज्ञान शक्ति के संयोग से प्रचार करना, अपना कर्तव्य मान लें, तो इस कार्य से जगत् का कितना भारी कल्याण हो सकता है। इस से जैन-सत्साहित्य का प्रचार और प्रसारण तो होगा ही, किन्तु ज्ञान-वृद्धि होने से, लोगों के मन और मस्तिष्क भी उन्नत बनेंगे। यों चातुर्मास के समाप्त होने पर वरोड़ा से विहार कर नागपुर होते हुए आप पारसिवणी नामक ग्राम में पधारे। वहां आप के मधुर और वैराग्य सने गूढ उपदेशों का लोगों पर इतना गहरा असर पड़ा, कि उन लोगों ने तरह तरह के त्याग और तपस्याओं को करने का अभिवचन दिया और कइयों के यहां पर जो मदिरापान तथा अन्य मादक द्रव्यों का, कई पीढियों से सेवन चला आ रहा था, सदा के लिए उठ गया। वहीं के एक निवासी. श्रीमान् समरथमलजी को तो मुनि श्री के उपदेशों को श्रवण कर यहां तक वैराग्य उमड़ आया, कि उन्हें एकदम संसार से उपराम हो गया, उन की अन्तरात्मा वैराग्य के रंग में रंग गई, कि फिर उन के सामने संसार के राजसी भोग-विलास भी सार-हीन और विष तुल्य दिख पड़े। और जब उन के कुटुम्बियों तथा उन के सजातीय बन्धुओं को यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो चुका, कि अब संसार का कोई भी मोह इन के हृदय को विमोहित नहीं कर सकता, तब तो इन के छोटे भाई, श्रीयुत समीरमलजी ने, आप की

दीक्षा का सम्पूर्ण व्यय-भार अपने कन्धों पर ले लिया, और बड़े ठाट वाट से आप को दीक्षा दिलवादी।

फिर, संवत् १९८५ विक्रमीय का चातुर्मास नागपुर में किया गया। वहां छत्तीसगढ से तपस्वीराज के पास अनेको भाए अर्जीऊ आये, और बड़े विनीत भाव से प्रार्थना की, कि "आप हम लोगों की जन्म भूमि, छत्तीसगढ़ के वीहड़ क्षेत्र में पदार्पण करें; जिसे आज तक किसी भी मुनिराज ने अपनी पावन पद्-रज से पवित्र नहीं किया। और, उस क्षेत्र में पदार्पण करने पर आहार पानी तक के, अनेको प्रकार के कष्टों को उठाना एक अवश्यम्भावी और साहजिक वात होगी, किन्तु उस के वदले, हम असहाय और भूले भटके लोगों का, जो धर्म-मार्ग से विलकुल ही पराङ्मुख हैं, उद्धार जो होगा, वह, आप जैसे उदार चरित, परोपकार, और मनस्वी सन्त महात्माओं के लिए; निज आहार-पानी के कष्टो से कहीं अधिक महत्त्वशाली और मूल्यवान् सिद्ध होगा। इस विनन्ति में यहां के निवासी श्रीमान् सरदारमलजी पुगलिया ने भी अत्यधिक जोर दिया। तव तो तपस्वीराज ने अर्जीऊ आये हुए लोगों का ऐसा प्रगाढ़ स्नेह, परम श्रद्धा और उन के निष्कपट व्यवहार को देखकर, छत्तीसगढ़ की ओर विहार करने का दृढ़ निश्चय किया, और तदनुसार आपने वहां से प्रस्थान भी कर दिया। रास्ते में कहीं लूखा-सूखा टुकड़ा यदि मिल गया, खा लिया। और नहीं मिला, तो भूखे ही रह कर अपना गुजर वसर किया। यों रास्ते के विकट वन-प्रदेश के, भूख-प्यास के, शीत वात और आतप के अनेकों प्रकार के दुःखद सङ्कटों को सहन करते हुए, आप छत्तीसगढ़ के निकट

आ पहुंचे। वहां आप की तप--जन्य शक्तियों ने, आप की अमृतमयी वाणी ने, और आप के सन्त स्वभाव ने, थोड़े ही काल मे, वहां के निवासियों के मनों में वह महान् परिवर्तन कर दिखाया, जिसे वहां की सत्ताधारी शक्ति आज तक करने के लिए असमर्थ सिद्ध हुई थी। आप के सुन्दर और सुखद उपदेशों को श्रवण कर, वहां के लोगों ने मदिरा और मांस का त्याग किया; मादक द्रव्यों का साथ छोड़ा, त्याग और तपस्याओं के द्वारा अपनी इन्द्रियों का दमन करना सीखा; और अपने उजड़ और हवाई वेगवाले मन को सन्त-चरण और भगवद्भजन के आश्रय में खुला छोड़कर, आत्म--कल्याण के मार्ग का अनुसन्धान किया।

तदुपरान्त, वर्तमान् वर्ष का अर्थात् संवत् १९८६ विक्रमीय का चातुर्मास आप तपस्वीराज ने राजनांदगांव में मनाया। इस चतुर्मास में अनेकों त्याग, प्रत्याख्यान, और उपकार हुए। तपस्वीराज के सुशिष्य, श्री तुला ऋषि जी महाराज ने एक बड़ा ही कठिन व्रत लिया है। जिस के अनुसार, आप, प्रति वर्ष के आठ महीनों में, अर्थात् अगहन से आषाढ़ तक के समय में, तेले २ का पारणा करते हैं। अर्थात् तीन दिन अनशन व्रत के व्रती बन कर, तीन दिन तक आहार पानी कुछ भी न कर के, चौथे दिन पारणा करते हैं। और चतुर्मास में येही ऋषिजी महारज चौले चौले पारणा कर के आत्म--संयम का आदर्श उदाहरण संसार के सन्मुख रखते हैं। अर्थात् चातुर्मास में आप चार दिन तक अनशन व्रत कर के पांचवें दिन आहार-पानी ग्रहण करते हैं। इस प्रकार आप अपने तपोधन से अपने तन को तपाते हुए, त्रिगुणात्मक जगत् से तरने--तारने की नित नयी तदबीरों का अनुसन्धान करते

रहते हैं। योंही, वृद्धि ऋषि जी महाराज वैले वैले पारणा करते हैं। यही हालत समरथ ऋषि जी महाराज की है। आपने इसी वर्ष केवल छाछही के आधार पर १२१ (एक सौ इक्कीस) दिन की कठोर तपस्या की, और अब आप एकान्तर उपवास करते हैं।

यों अपने जीवन के पल पल का सदुपयोग करने वाले, अपनी तपस्या, अपनी आत्मानुभूति, अपनी सच्चाई, अपनी सादगी, अपनी परोपकारपरायणता, अपनी कर्तव्यनिष्ठा, और अपनी साधु—वृत्ति, आदि सद्गुणों के सहारे, ऐहिक और पारलौकिक परमोद्धारक, हमारे चरित-नायक तपस्वीराज देवजी ऋषि जी के सद्बोध, सत्प्रयास और सच्छास्त्रानुशीलन वृत्ति ही से, इस अगाध ज्ञान-भण्डार के रूप में, "जैन-तत्त्व प्रकाश" सरीखे, एक महद् और अत्युपयोगी ग्रन्थ को, हम अपने कृपालु पाठकों के सन्मुख रख सकने को समर्थ हो सके हैं। यदि तपस्वीराज की अनवरत कृपा का कार्य संसारी जीवों के लिए जारी न रहा होता, तो कदाचित् ही यह ग्रन्थ रत्न संसार के हाथों रक्खा जा सकता। अस्तु ! इस ग्रन्थ रत्न के पठन-पाठन और मनन से जिन जिन संसारी जीवों को सद्गुणों की सत्प्राप्ति हो, जिन जिन को आत्मानुभूति की अनुभूति हो, जिन जिन की आत्मा के काषाय दूर हों, जो जो अपने आप को पाप-पङ्क से निकाल सकने में सयत्नवान बन सकें। जो जो जगत् जाल के जंजालों में से, इस ग्रन्थ रत्न की सहायता से, अपने आप के कुछ भी उबरा हुआ पासकें, और जिन की चलती हुई चित्त वृत्ति को कुछ भी शान्ति का सहारा मिल सके उन उन सभी हृदयवान पुरुष

पुङ्गवों का कृतज्ञता-प्रकाशन के नाते प्रथम और प्रधान कर्तव्य है, कि वे सब के सब, तपस्वीराज देवजी ऋषि जी महाराज ही के प्रति अपना आगार प्रदर्शन करें। हमारी यही विनीत और बार बार की प्रार्थना उन के प्रति है। परम कृपालु भगवान जिनदेव उन की आत्मा को अमर बल प्रदान करें, जिस से वे तपस्वीराज के लोकोपकारक गुणों का समादर कर सकें, और अन्त में, अपने आप को भी वे ऐसे ही किसी लोक-हित-कारी कार्य के मार्ग में कमरकसा पावें।

ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

फागुन शुक्ला १५ शुक्रवार संवत १९८६ विक्रमीय।	विनयावनत, अध्यापक रामकुवार काशीराम मालपाणि "विशारद" एवं "साहित्यालङ्कार" इंदौर।
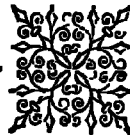
समकितसार की विषयानुक्रमणिका

उपोद्घात विषयानुक्रमणिका।

समकितसार प्रथम भाग।

समकित सार द्वितीय भाग

॥ ॐ ॥

समकित सार।

(१) श्री दया धर्म फैला और भस्म ग्रह उतरा जिसका विस्तार।

कितने ही हिंसा धर्मी कहते है कि तुम तो अभी पैदा हुए हो, तुम्हें तो हुए तीनसौ वर्ष हुए हैं, इसका उत्तर देते है-

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्व दुक्खप्पहीणे तंरयणिं च णं खुद्दाए भासरासी नाम महग्गहे दोवाससहस्सठिई समणस्स भगवउ महावीरस्स जम्मण-नखत्तं संकंते तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गं-थीण य नो उदिए २ पूयासक्कारे पवत्तइ जया णं से खु-द्दाए जाव जम्मनक्खत्ताउ विइक्कंते भासरासी तयाणं सम-णाणं निग्गंथाणं निग्गथीण य उदिए २ पूयासक्कारे भ-विस्सइ

अर्थः— जं रयणिं च णं (जिस रात में) समणे (श्रमण) भगवं (भगवंत) महावीरे (श्रीमहावीर स्वामी) जाव (यावत्) सव्व (सब) दुक्ख (दुखोंका) प्पहीणे (अंत किया) तंरयणिं च णं (उसी रात में) खुद्दाए (क्षुद्र स्वभाव वाला) भासरासी (भस्मराशि)

नाम (नामक) महग्गहे (महाग्रह) दोवाससहस्स-ठ्ठिई (दो हजार वर्ष की स्थिति का) समणस्स (श्रमण) भगवउ (भगंवत) महावीरस्स (श्री महावीर के) जम्मण (जन्म) नखत्तं (नक्षत्र पर) संकंते (आया) तप्पभिइं च णं (उस दिन से) समणाणं (श्रमण) निग्गंथाणं (निग्रन्थ साधु) निग्गंथीण य (निर्ग्रंथी साध्विका) नो (नहीं) उदिए २ (उदय २) पूया (पूजा) सक्कारे (सत्कार) पवत्तइ (होगा) जयाणं (जब) से (वह) खुद्दाए (क्षुद्र) जाव (यावत्) जम्म (जन्म) नक्खत्त उ (नक्षत्र से) विइक्कंते (उतरेगा) भासरासी (भश्मराशि) तयाणं (तब) समणाणं (श्रमण) निग्गंथाणं (निर्ग्रंथ) निग्गंथीण य (निर्ग्रंथीका) उदिए २ (उदय २) पूया (पूजा) सक्कारे (सत्कार) भविस्सई (होगा)

ऐसा कल्प सूत्र का पाठ हिंसा धर्मी मानते हैं उस पाठ मे कहा है कि जब श्रमण भगवंत श्री महावीर स्वामी मोक्ष पधारे, उस समय भश्म ग्रह तीसवां दो हजार वर्ष की स्थिति वाला भगवंत के जन्म नक्षत्र पर बैठा, जिस से दो हजार वर्ष तक जैन मार्ग के साधु-साध्वी का उदय पूजा सत्कार नहीं हुआ। वे दो हजार वर्ष बीते बाद जैन धर्मी साधु साध्वी का पूजा सत्कार हुआ। अब वे दो हजार वर्ष कब पूरे हुऐ उस पर विचार करते है :-श्री वर्धमान स्वामी मुक्त हुए, उस के पीछे

तीन वर्ष और साढ़े आठ माह तो चौथा आरा रहा। पश्चात् पांचवे आरे के ४७० वर्ष तक वीर संवत् चला फिर विक्रमादित्य ने नया संवत् चलाया। उसे भी आज तक १९८६ वर्ष हुए। भगवान् को मोक्ष पधारे २४५५ वर्ष हुए उस में से दो हजार वर्ष तो संवत् १५३१ में ही होगए। उसी समय श्री सिद्धांत देख कर दयामार्ग बढाया और जब से दया मार्ग वृद्धि पाता ही गया। यह न्याय देखते तो श्री लोका गच्छ-साधु मार्ग ही सच्चा है।

जो गुलाम सत पेढियो, तोही न राखे नाम।
पुत्र पीछे भी जनमियो, तोही पिता के ठाम ॥

अर्थात् सात पीढीवाला गुलाम दासत्व कर रहा है, तो भी वह मालिक का नाम नहीं रख सकता। और पुत्र पीछे भी उत्पन्न हुआ हो तो भी वह पिता के नाम को रखता है।

तथा भस्म ग्रह के समय में भी कुमार पाल राजा, विमल शाह, वस्तुपाल, तेजपाल इत्यादि हुए, और जिन्होंने कई चैत्य बनवाए। पर जिनमार्ग दिपाया, ऐसा नहीं कहा, उलटे मिथ्यात्व की वृद्धि ही की। इसलिये अब हुए ऐसा जो कहते हैं वे दया धर्मी के लिये सत्य कहतेहैं। सिद्धांत तो अनंत काल से चले आते हैं उस मुआफिक यह मार्ग सत्य है। जैसे ओसवाल महाजन पहिले तो मांस आहारी क्षत्री थे। पीछे दया धर्मी महाजन हुए, तो उनने क्या बुरा काम किया या अच्छा काम किया? उसी प्रकार हिंसा धर्मी मिथ्यात्वियों ने मिथ्यात्व त्याग दया धर्म अंगी कार किया। यह बहुत २ अच्छा काम किया है। इसपर खूब मनन करना।

तब हिंसा धर्मी कहते हैं कि तुम कल्प सूत्र नहीं मानते हो। फिर यह भश्म ग्रह वाला प्रस्ताव क्यो मानते हो !

यह उत्तर तो तुम्हें तुम्हारे ग्रंथ की साची देने के लिये कहा। जिस प्रकार श्री महावीर स्वामीने सोमल को तथा थावर्चा पुत्रने सुखदेव को कहा, कि जो तुम ब्राह्मण के मत को मानते हो। तो हम तुम्हें तुम्हारे ही मतकी साची दिखाते हैं उसी प्रकार हम भी चाहे. कल्प सूत्र माने ! या न मानें यह प्रश्न यहां नहीं, पर यह साची यहां तुम्हें दिखाई है यह तुम्हारे मत के शास्त्र में ऐसा कहा है इस लिये दिखाई है फिर जिन वल्लभ खरतर की जो संघ पट्टक बनाने वाले तुम में बड़े पुरुष होगये हैं वे भी संघ पट्टक में भश्मी ग्रह का उल्लेख करते हुए कहते हैं यह संघ पट्टक की काव्य लिखते हैं।

मालिनी॥ इह किल कलि काल व्याल वक्त्रांत राल॥ स्थित जुविगततत्वे प्रीतिर्नीतिप्रचारे॥ प्रसरद नवबोधप्रस्पुरत्कापथौघ॥ स्थगितसुगतिसर्गेसंप्रति प्राणि वर्गे॥ ३॥

यह संघ पट्टक की तीसरी काव्य है इस का भावार्थ यह है कि संसार में कलिकाल (पंचम आरा) रूप सर्प के मुख के अन्तर में रहने वाले प्राणिवर्ग को क्या सुख प्राप्त होता है ? कभी नहीं इसी ही से उन प्राणिवर्ग में अर्थात्। पांचवे आरे के मनुष्यों में प्रीति कम होगी। जिस कारण से तत्व देव गुरू धर्म दयादि शुद्ध पंथ लुप्त होंगे, प्रीति नीति नष्ट होगी, नये २ कुपंथ कुमत प्रकट होंगे। छः काय जीव की हिंसा में धर्म मानेंगे ऐसे कुपंथ की वृद्धि होगी। मोक्ष मार्ग दया धर्म लुप्त होंगे॥ ३॥

स्रग्धराः प्रोत्सर्प्प द्भमराशि ग्रहसखदशमाश्चर्य साम्रा-
ज्यपुष्पान्॥ मिथ्यात्वध्वांतरुद्दे जगति विरलतां याति जैनेंद्र
मार्गे॥ संक्लिष्टं द्विष्टिमूढ़प्रखलजड़जनाम्ना यरक्तैर्जिनोक्ति॥
प्रत्यर्थी साधुवेषै विषयिभिरभितः सोयमपाथि पंथा॥ ४॥

यह संघ पट्टक की चौथी काव्य है। इस का भावार्थ यह है कि प्रो० काल कूट समान भश्म राशि ग्रह खूब दीपेगा तथा दशवें अछेरे का महात्म्य बढ़ेगा। ऐसे अछेरे अनंत चौवीसी में प्रकट हुए। जो मिथ्यात्वी के मार्ग बढेंगे, कुमार्ग, हिंसा धर्मी के राज्य सुर मंत्र धारी की तरह दीपेंगे। नये २ पंच प्रबल हवा के कारण जगद् गुरू माने जाकर नवांग से पूजे जायेंगे। और इस प्रकार लक्ष्मी संचित करेंगे। कुशलिया दर्शन वाले जिन मार्गी कहलावेंगे। शुद्ध दया मार्ग अल्प पतंग वत रहेगा, और संक्लिष्ट धृष्ट पुष्ठ मूढ़ हिंसा धर्मी दया धर्म के निंदक अज्ञानी कुशलिया बहुत बल धारी रहेंगे। दुर्जन जड़लोक कहेंगे कि ये दर्शनीय दगेबाज आम्नाय वाले हैं कुतीर्थ साधु भेषधारी हैं पर विषय भोग करने वाले नारी के साथ रहने वाले, रचे पचे चंदनादि सुगंध से अर्चित मुक्ति पंथ चाहने वाले हैं पर इन्हें मुक्ति नहीं होगी॥ ४॥

॥ सार्दुल॥ किं दिग्मोहमिताः किमंध बधिराः कियोगचुर्णी
कृत॥ किं दैवोपहताः किमंग ठगिता किंवाग्रहावेशिताः॥
कृत्वा मूर्ध्निपदं श्रुतस्य यद मीदृष्टोरु दोषा
अपि॥ व्यावृत्तिं कुपथजडा नदधते सूयंतिचैतत्कृते॥ १७॥

यह संघ पट्टक की १७ वीं काव्य है जिस का अर्थ कहते हैं कि या तो दिशा भूल गए हो या अंधे हो या बहिरे हो,

या योग तंत्रादि, चूर्ण, वास वगैरा सिर डाल कर लोक वश करते हो,-कि मंद बुद्धि होने से जिन्हें देवता से त्रास प्राप्त है उन्हें टेढ़ी दृष्टि से देखते हो या ठग की तरह ठगते हो कि जो विचारे मुग्ध, मूर्ख कुदेव, कुगुरु के वहकाये षट् काय जीव को मार कर हिंसा में धर्म कहते हैं, या गृहवासी वने हैं, जो वेष धारी ऋषी का भेष लेकर पारधी की तरह मृगवत् श्रावक को ठगते हैं जो सूत्र वाणी छिपाते कुपंथ कुशास्त्र देख मिथ्या तर्क लगा भश्म ग्रह पीड़ित लोगों को भरमाते हैं जो चैत्य, पौसाल वना कर अधो मार्ग में लेजाते है पर कही भी सूत्र में देहरे वनाना नहीं कहा ॥ १७ ॥

जिनगृहजिनबिम्बजिनपूजनजिनयात्रादिविधिकृतं दानंतपोव्रतादिगुरुभक्तिश्रुतपठनादिचाद्दतं ॥ स्यादिहकुमतकुगुरुकुग्रहाकुबोधकुदेशनांशतः ॥ स्फुटमनभिमतकारिवर भोजनमिवविषलवनिवेशतः ॥ २० ॥

यह संघ पट्टक को २० वां काव्य है जिसका अर्थ कहते हैं:- जिन दर्शनियों ने जैन के देहरे वना जिन विंव रखाये उन की पूजा के लिये छः काय के जीवों की हिंसा करावे और धर्म वतावे अपनी पंचेद्री पोषने के अनेक मिथ्या कारण वनावे। चौरासी गच्छ निकाले, पर ये सव भश्म ग्रह असंयती की पूजा के अछेर का फल है, जहां वड़े २ श्वेताम्वर या दिगम्वर के उपदेश से प्रासाद देहरे वने हैं, उन्हें श्वेताम्वर देख आ २ कर लोगों को विपरीत लाभ दिखा उत्तर, मारवाड़, गुजरात आदि में वड़े प्रासाद वना षट मर्दन धर्म प्ररूप कर चलाते हैं। देहरे के द्रव्य तथा गुरू नवांग से पूजे जाते और

द्रव्य भंडार भराते हैं। यह अविधि मार्ग है। जो दान, तप, वृतादि, गुरु भक्ति श्रुति, पढ़ने के साधन, पोथी, पूंजणी छोड़ कुमति कुगुरु, कुबोधी के कुउपदेश को सच्चा समझ सुशोभित अगर चंदन लगा प्रधान भोजन में विष के कण डाल ने मुजिब कुगुरु के वृंद ऐसे सूरि गुरु उदय हुए। जिन्हे केवल नर्क गामी समझो।

॥ स्रग्धराः ॥ आकृष्टं मुग्धमीनान्वडिशपिशितवद्विंबिंव
मादर्श्यजैनं। तन्नाम्ना रम्यरूपानपवरकमठान्स्वष्ट
सिद्धयेविधाप्य ॥ यात्रास्नात्राद्युपायैर्नमसितकानि
शाजागरा द्यैस्छलैश्च। श्रद्धालुर्नामि जैनेस्छलित इव
शठैर्वंच्यतेहाजनोऽयम् ॥ २१ ॥

यह संघ पट्टक की २१ वीं काव्य कही। अव इसका अर्थ कहते हैं। आकृष्टं० जैसे पारधी जाल डाल लोहे के खीले पर आटे की गोली लगा मांस की पेशी छेद मछली को पानी में से निकाल मारता है. उसी प्रकार यति भेषधारी पारधी ज्यों प्रकरण रूपी जाल की डोरी लगा लोहे के खीले सा आडम्बर दिखा मांस पेशी जिन प्रतिमा पूजा वता, जैसे पारधी मच्छी को फंदे में डालते है वैसे ही श्रावक को पटमर्दन धर्म विम्व पूजा करा चतुंगति संसार मे रुलाते हैं। नाम ऋषी धरा धूर्त विद्या कर विडम्बना वढ़ा रक्खी है। यात्रा शत्रुंजा, गिरनारादिः और स्नात्रा विधि पूजादि उपाय वता रात्रि जागरण करा छल वढ़ा रखे हैं। जवान स्त्री को एकान्त में ले जाकर कुशील कुकर्म भोगते है ऐसे पट् धूर्त विद्या से जैन भेष धार कर ऐसे कर्म करते हैं जो यह भेष देख जगत् भ्रमित हो रहा है और लोगों में वे जगत् गुरु नाम धराते है।

॥ स्रग्धरा ॥ सैषा हुंडावसर्प्पिएयनुसमयहसद्भव्य-भावानुभावा ॥ त्रिंशश्चोग्र ग्रहोऽयंखखनखमितिवर्षस्थितिर्भ-श्म राशिः। अत्यन्त।चाश्चर्यमेताज्जिनमतहतयेतन्स मा दुषमा-चे। त्येवं पुष्टेषु दुष्टदनुकलमधुता दुर्लभो जैनमार्गः ॥३०॥

यह संघ पट्टक की ३० वीं काव्य कही, उसका अर्थ कहते हैं सैषा० ये सूरी के ८४ मत चले। हुंडा सर्पणी के कारण पांचवा आरा दुःखम समय का, दूसरे भश्मग्रह, असंयती की पूजा का अछेरा, वांके और जड़ मनुष्य इन पांच योग के कारण भव्य जीवों के भाव गिरे "चेइये" कह कर पांचों आश्रव में हिंसा मार्ग बताया। जिससे ३० वे भश्म ग्रह का प्रभाव खूब बढ़ा। श्री महावीर स्वामी के जन्म नक्षत्र पर यह ग्रह बैठा, इसलिये उन्मार्ग खूब बढा शुद्ध मार्ग-सौधर्म शाखा गुप्त होगई। मिथ्या मार्ग चल पड़े। यह बड़ेही आश्चर्य की बात है। श्री जिनेंद्र देव की वाणी तो सिर्फ दयामय ही है, आचारंग सूत्र की साक्षी. "सव्वे जीवा सव्वेभूया सव्वेसत्ता नहंतव्वा" सच्चा मार्ग नित्य चला आता है। अनंत चौबीसी के वचन उथापे। लोगों को दुःखी किये। इन दुष्टों ने पचेंद्री को पोषने वास्ते षट् मर्दन धर्म बताया। अहा! जिन मार्ग पाना दुश्वार होगया। लोकोतर मिथ्यात्व के वश विश्व होगया। सूत्र मार्ग लुप्त होगया। प्रकरण रुचि बढगई ॥ ३० ॥

इस संघ पट्टक के कर्ताने भी पंचमकाल, हुंडा सर्पणी असंयती पूजा का दशवां अछेरा माना है। तीसवें भश्म ग्रह का कारण भी माना। वैसे हीं पार्श्वचंदसूरी टव्वा के करने वाले ने भी हुंडा सर्पणी दसवां अछेरा भश्म ग्रह माना है. यह

भश्म ग्रह उतरा और श्री दया मार्ग प्रकाशित हुआ। संवत् १५३१ में श्री गुजरात देश के अहमदाबाद नगर मे ओसवाल वंश में पैदा होकर शाह लोका रहते थे जो सराफ का धंधा करते थे, एक दिन एक जवान आदमी आया और उस ने एक चीज़ के बदले पैसे लिये, लोका शाहने पैसे दिये। उन पैसों की चिड़ीमार से चीड़ियां लेकर उन्हें मारने के लिये वह अपने घर ले चला। ऐसा व्यापार अनर्थ का मूल समझ उन्हें वैराग्य हुआ। और संवेग भाव ला सराफ का धधा बंद कर वे अपने घर आये और सिद्धांत लिखने का उद्यम शुरु किया।

चौपाई-

पन्द्रह सौ इकतीस मँझार। जनमत भो इक मति सरदार।
अहमदाबाद नगर मँझार। लोका शाह वसे सु-विचार॥
देखत जो जो ऋषि आचार। उन की गाथन करे उधार।
ग्रन्थ, अर्थ वे उनका करैं। लेखन उद्यम नित ही धरैं॥
लखमसी आई ताकों मिलै। बात विचारैं सोचैं भलै।
सूत्रन महँ देखा जु आचार। मिलन सका तहँ कुछभी सार॥
पढ़ैं ग्रन्थ औ राखैं भेष। देवैं नित मिथ्या उपदेश।
लोक प्रवाहन को विन जानै। गुरु समुझैं, बन्दैं अरु मानै॥
सूत्रन में जो कहे गुरुराय। सांच क्रिया पाले ऋषिराय।
साधुन होवैं नित निरग्रन्थ। ये तो दिखते सदा स-ग्रन्थ॥
साधुन बोलैं नित निर्वद्य। ये तो कहते सदा स-वद्य।

ज्योतिष, नैमित्तिक ये कहैं । अधरम के निरभार वहैं ॥
नव–कलपी नहिं करै विहार । खमाश्रमण लैं ये आहार ।
आधा कर्मी लै अविचार । पाप न टालैं तनिक लगार ॥
लोक–लोभ में भमते रहैं । रागद्वेष–मद में नित बहैं ।
याहिन वन्दैं लागैं पाप । या विध सुमति करैं जबाब ॥

॥ यतः ॥

असंजयं न वंदेज्जा । मायरं पियरं गुरु । सेणावई पसत्थारो ॥ रायाणं देव आणाय ॥ १ ॥ पासत्थं वंदमाणस्स । नेव कित्तिं न निज्जरा होई । जायइ कायकिलेसो । बंधइ कम्मस्स आणाइ ॥ २ ॥

अर्थात्—असंयती जिनके व्रत प्रत्याख्यान नहीं हैं उन्हे वंदना नमस्कार न करे । संसार में रहकर मातपिता, वड़ेरे. सेनापति, सेठ, राजा, कुलदेव इन्हें नमस्कार करना पड़े तो यह संसार व्यवहार है पर जिन लिंगी पासथ्थे जो भ्रष्ट हैं उन्हें वंदना करने से कीर्ति न बढे, न निर्जरा हो, फिर क्या हो ? तो क्लेश अर्थात् दुःख हो और कर्म बंध हो ।

॥ चौपाई ॥

लोकाशाह लोगन वतराय । लोग घणा मनमें शरमाय ।
चतुर विचार कियो मन मांय । छांड्यो संग मठेश्वर-राय ॥
पूछत मठपति, "रे वणियाँ ! । कहा करत भोले धणियां ।
कुल गुरुओं को वन्दैं नहीं । हमन पढ़ाये तुम को सही ॥

अरु प्रति-बोधी श्रावक भये। बड़े सबन विध तुमको ठये।
अपुन धरम का समुझैहु तुम। हमको भाखो इसका मरम॥
पीछा उत्तर लोका देवैं। हम चाहत तुव निकट न रहवैं।
तुमहुं कहावत सच्चे साधू। पै बढ़ावत हो अपराधू॥
गुरु छतीस गुणवन्ता रहते। तुम तो एक न धारण करते।
तौ गुरु समुझि नवैं हम कैसे। लिंगी कथन करैं तब ऐसे॥"
"गुण अवगुण की बात न करो। भेष देख मन निहचै धरो।
जिनजी कहगये वन्दौ भेष। गुण चाहे नहिं हो लवलेश॥
भेष बांधते सम्यक लहैं। गुण नहिं पञ्चम आरे कहैं।"
लोकाशाह सुनी यह बात। उत्तर देते निधड़क तात॥
भेष देख, ना भूलैंगे हम। सच्ची राह बतावैंगे हम।
(भूले भाई, जो हम पावैं। धरम हमारा, गैल बतावैं)॥

॥ गाथा ॥

वेसोवि अप्पमाणो। असंजयं पएसुवट्टमाणस्स। परिं
तित्ती अवसेसं। विसं न मारेई खजंतो॥ १॥

॥ चौपाई ॥

तब लोका से भनै महात्मा। करो नहीं तुम दूषित आत्मा।
भेष की महिमा है यह भली। साख याहि पर है यह चली॥१॥

॥ गाथा ॥

धम्मं रक्खइ वेसो। संकइ वेसेण दिखिऊ अहं।

उम्मग्गो पड़ंतो ॥ रक्खइ राय जणवऊव ॥ १ ॥

अर्थात्- भेष से धर्म रहता है. भेष देख कर मनुष्य डरता है और भेष जो हो तो अन्य मार्ग मे नहीं जाता है। किसी एक राजा के दृष्टांत से समझलो

॥ चौपाई ॥

लोका शाह न मानैं बात । तारे भेष, कहूँ न लखात।
भेष वेष की बात न पूछैं । गुण के बिना सन्त सब छूछैं॥
साधु पूज्य नहीं गुण कर आहीं। भेष सराहिय तिनके माँही।
जि-न भी थे या के प्रतिकूल। सन्त कोई न हैं अनुकूल॥

केवल भेष को वंदनीक समझने पर एक दृष्टांत कहते हैं. जैसे वस्त्र में शक्कर बांध उस थैली पर शक्कर का नाम लिखा। फिर उसमें से शक्कर निकाल चिरायता भर दिया। थैली पर शक्कर का नाम है अगर बंधन छोड़ कर खाने लगे तो स्वाद मीठा आवेगा या कडुआ। इसी प्रकार बंधन सा ऊपर का साधु भेष और शक्कर से साधु के गुण० विना समझ भेष भी बंधन सरीखा है। बंधन में यही गुण कि उस वस्तु को सम्हाल रक्खे वैसेही भेष का यही गुण कि संयम गुण का प्रतिपालन करे पर विना गुण भेष वंदनीय नही हो सक्ता।

॥ चौपाई ॥

लोको भने हम जानत धरम। समुझो ना तुम वाको मरम।
गुरु आचारी, गुणी जु देव। हम भी करि हैं वाकी सेव॥
तुम भी लखो मनहिं करि शुद्ध। का विध सेवै कु-गुरु वुद्ध।
भली सेव ना विषधर साँप। कु-गुरु सेवैं लागैं पाप॥

हो जो हीनाचारी साधु । लोक वँधावै स्वा अपराधू ।
होवै लूला लँगड़ा कभी । दुलर्भ वोधी होवै सभी ॥

॥ गाथा ॥

जे वंभचेर भट्ठा । पाय पाडंति वंभयारीणं ।
ते हुंती टुंट मुट्ठा ॥ वोही पण सुल्लहा तेसिं ॥

अर्थात्—जो ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हैं और ब्रह्मचारी को पांव लगाते हैं वे लूले, गूंगे होंगे और उन्हे भवांतर मे भी धर्म प्राप्त होना दुश्वार होजायगा।

॥ चौपाई ॥

पढ़ै गुणै सब गुण भाण्डार । लोच करैं दुख सहैं अपार ।
तौ भी ढीले हों जे पास । सङ्गति देती उन की त्रास ॥
अशुचि माल जो चम्पक होई । उत्तम सिर ना कबहुँ सँजोई ।
ब्राह्मण चौदह इल्म-निधान । नीच सङ्ग जो रहै सुजान ॥
निन्दा तौ वह भी अति पावै । दुष्ट-सङ्ग ना निरफल जावै ।
या विध सोच समुझि मन मॉय । दुष्ट-गुरु सँग है दुखदाय ॥
अब सच्चा धरम निबहि हैं हम । दुष्ट गुरु-सुर-सँग छाँड़ि हम ।
तुमनिर-गुणहीं मानतगुणी।प्रतिमा लिय निज करतें वाणी॥
जाकी भगति छकाय हणन्ता । या उपदेश कुंकवन भणन्ता।
जहाँ न हिंसा पैदा होईहिं । सम्यक गुण वाहिं लीजो जोईहिं ॥
दया-धर्म भाख्यो वितराग । हम भी पालैं सह-अनुराग ।

आचारांग चौथे जु अध्याय । गणधर तीर्थङ्कर जु कथाय ॥
परम्परा गत धरम दुहाई । देत चलो मार्ग कुटिलाई ।

कितने ही कहते है कि हम सुधर्म स्वामी के पदवीधर है उन की परम्परा हमारे पास है उन्हें नीचे लिखे, प्रश्न पूछना चाहिये ।

❀ प्रश्न ❀

॥ १ ॥ चेले विकते हुए लेते हो ॥ २॥ छोटे बालकों को आचार पढ़ाये विना दीक्षा देते हो ॥ ३ ॥ खास नाम फिराकर नये नाम देते हो ॥ ४ ॥ कान फड़ाते हो ॥ ५ ॥ खमाश्रमण से वहेरते हो ॥ ६ ॥ घोड़ा, रथ, वैल डोली में वैठते हो ॥ ७ ॥ गृहस्थ के घर वैठ कर वहेरते हो ॥ ८ ॥ घर जाकर कल्प सूत्र पढ़ते हो ॥ ९ ॥ नित २ उसी घर वहेरते हो ॥ १० ॥ स्नान करते हो ॥ ११ ॥ ज्योतिष, निमित्त कहते हो ॥१२॥ रस्सी डोरे देते हो ॥ १३ ॥ मंत्र, जंत्र, झाड़ फूक करते हो ॥ १४ ॥ नगर में आते स्वामी वत्सल कराते हो ॥ १५ ॥ लाडू चढ़ाते हो ॥ १६ ॥ सात क्षेत्र से धन निकलवाते हो ॥ १७ ॥ पोथी पूजाते हो ॥ १८ ॥ संघ पूजा निकलाते हो ॥ १९ ॥ मंदिर प्रतिष्ठा कराते हो ॥ २० ॥ पर्य्यूषण में-पोथी, दे रात्र जागरण कराते हो ॥ २१ ॥ पुस्तक, पातरे वेचते हो ॥ २२ ॥ माल उड़ाते हो ॥ २३ ॥ आधाकर्मी पौसाल मे- रहते हो ॥ २४ ॥ मांडवी कराते हो ॥ २५ ॥ टीप लिखा रुपये लेते हो ॥ २६ ॥ गौतम पड़घा कराते हो ॥ २७ ॥ संसार तारण तेला कराते हो ॥ २८ ॥ चंदन वाला के तप कराते हो ॥ २९ ॥ तपस्या कराकर पैसे

लेते हो॥ ३०॥ सोना, रूपा की निसैनी लेते हो॥ ३१॥ लाखा पड़वे कराते हो॥ ३२ ॥ उजमणा डुराते हो ॥ ३३ ॥ पूज डुराते हो॥ ३४॥ श्रावक के पास से टैक्स दिला पर्वत पर चढते हो॥ ३५॥ माला रापण कराते हो॥ ३६॥ अशोक वृक्ष भराते हो॥ ३७॥ अठोतरी स्नात्र कराते हो॥ ३८॥ नये फल नये थान प्रतिमा पै डुराते हो॥ ३९॥ श्रावक के सिर वास खेप डालते हो॥ ४०॥ नाद मंडाते हो॥ ४१॥ पदीक चाक बांधते हो॥ ४२ वदना' कराते हो॥ ४३॥ लोगों के सिर श्रोघा फेरते हो॥ ४४॥ गांठ में पैसा रखते हो॥४५॥ मोर पिंछ के डंडासण रखते हो॥ ४६॥ स्त्री का संघट्टा करते हो॥ ४७॥ पांवतक नीची पछेवड़ी श्रोढते हो॥ ४८॥ सुर मंत्र लेते हो॥४९॥ कपड़े धुलाते हो॥५०॥ आम्बिल की श्रोली कराते हो॥ ५१॥ यति मरे वाद लड्डू, कराते हो॥ ५२॥ जती मुए वाद धूम कराते हो॥

इत्यादि अनाचारी के कार्य कर भगवंत की परम्परा प्ररूपते हो यह अत्यंत खराव काम है, शाह लोका ने जव ऐसे प्रश्न पूछे तव लिंगी जवाव न देसके। सामने क्रोधातुर हो गए ऐसा समझ शाह लोका ने उन द्रव्य लिंगी मिथ्या दृष्टियों की संगत छोड़दी और अलग रह स्वयं सिद्धांत वचन द्वारा कई जीवों को सम्यक्त्व देते हुए विचरने लगे। उसी समय पाटन में शाह जीवजी तथा सूरत में शाह रूपजी आदि वैरागी पुरुष थे जिनने लाखों का धन छोड़ सिद्धांत मार्ग के अनुसार संयम लिया, सूत्र सिद्धांत के न्याय से धर्म चर्चा कर धर्म उपदेश दे. दया मार्ग दिपाया।

हिंसा धर्मी कहते हैं कि तुम साधु किसकी परम्परा के हो! किस के कहने में हो? इस का उत्तर सूत्रकृताङ्ग पाहिला श्रुत स्कंध दूसरा अध्ययन तीसरे की उद्देश गाथा २०-२१-२२ में कहा है कि:—

अभविसुपुराविं भिक्खवो। आएसावि भवंति सुव्व या। एआइं गुणाइं आहुते। कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥ २० ॥ तिविहेणावि पाण मा हणे। आयहिए अणियाण संवुडे। एवं सिद्धा अणंतसो। संपइ जे अणागयावरे ॥ २१ ॥ एवं से दाहु अणुत्तरनाणी। अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए त्तिवेमि ॥ २२ ॥

अर्थः-अभविसु (हुए) पुराविं (पाहिले जो जिन) भिक्खवो (हे साधु चारित्री) आएसावि (भविष्य में जो होंगे) भवंति (वर्तमान में जो हैं) सुव्वया आहुते (तीर्थंकर पाहिले कहे वे) एआइं (ये) गुणाइं (उपदेश देते हैं सब जिन) कासवस्स (ऋषभ देव प्ररुपित) अणुधम्म (धर्म्म को) चारिणो (प्रवर्तने वाले चलानेवाले जो गुण उपदेश देते है) तिविहेणावि (त्रिकरण से) पाणमाहणे (प्राणी न हने) आयहिय (आत्मा के हितार्थ) अणियाण (नियाणा रहित) संवुडे (संवरी साधु) एवं (इस प्रकार ऐसे साधु)

सिद्धा (सिद्ध हुए) अणंतसो (वहुत अनंत) संपइ (वर्तमान में सीझे हैं) जे (जो हैं) अणाग (आगे होंगे) यावरे (दूसरे भी जो सीझेंगे) एवं (ऐसे तीन उद्देश) से (वैसेही) उदाहु (कहते हुए) अणुत्तरनाणी (प्रधान ज्ञान के स्वामी) अणुत्तरदंसी (प्रधान दर्शन के स्वामी) अणुत्तर (प्रधान) नाणदंसणधरे (ज्ञान दर्शन के धारक) अरहा (इंद्रादि के पूजनीक) नायपुत्ते (सिद्धारथ राजा के पुत्र) भगवं वेसालिए (ज्ञानवंत वे प्रधान विस्तीर्ण ज्ञान के स्वामी) वियाहिए (कहते हुए) त्तिबेमी (ऐसा मैं कहताहूं) २२ ऐसे आचार पाले वे श्री महावीर स्वामी के आराधिक समझो ॥ १ ॥

२ आर्य क्षेत्र की सीमा.

कितने ही हिंसा धर्मी कहते है कि दक्षिण दिशा तथा उत्तर दिशा में तारा तम्बोल अशतनम्बोल नामक नगर है. वहां के राजा जेन मार्गी है. लोक सब जैन हैं वहां भी जेन के देहरे हैं. नित्य पूजा आदि होती है ऐसा स्वयं का मत स्थापित करने वास्ते साक्षी दिखाते हैं यह बात शास्त्र विरुद्ध कहते हैं. क्योंकि श्री बृहत् कल्प सूत्र मे कहा है कि:-

कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गांथीणंवा पुरत्थिमेणं जाव अग्गमगहाउ विसयाओ एत्तए दाहिणेणं जाव कोसंबीयाउ विसयाओ एत्तए पच्चत्थिमेणं जाव थुणाउ विसयाओ- एत्तए उत्तरेणं जाव कुणाला विसयाओ एत्तए एतावताव कप्पई एतावताव आयरिएखित्ते नो से कप्पइ एत्तोबाहिं तेणं परं जत्थ नाणदंसण चरित्ताइं उस्सप्पंति

अर्थात्—पूर्व में अंग देश मगध देश तक आर्य क्षेत्र है वहां राजगृही चम्पा के निशान अभीतक विद्यमान है दक्षिण में कौ- सम्बी नगरी तक जहांसे कि दक्षिण समुद्र समीप है आगे समुद्र की परिधि है तव नगरी कौनसी रही ! पश्चिम दिशा में थूणा नगरी कही वह भी कच्छ देश में है तो वहीं तक आर्य क्षेत्र है आगे समुद्र की परिधि है। उत्तर दिशा में कुणाला देश सावथी नगरी वह जगह आज भी स्याल कोट के नाम से विख्यात है, पाहिले तो आर्य क्षेत्र बहुत लम्वा चौड़ा था, साड़ पच्चीस आर्य देश तो उत्तम पुरुष की उत्पति भूमि के लिये प्रसिद्ध हैं पर धर्म मार्ग तो विद्याधर की श्रेणी में भी था पीछे काल प्रभाव से घटते २ श्रीमहावीर के समय उपरोक्त आर्य क्षेत्र की सीमा वंधी । इस सीमा के भीतर ही अब चार तीर्थ है तथा कितने ही नगर के नाम ठाम फिर गए है वे लोकोत्तर से जान सक्के हैं, जैसेः-पांडली पुर—पटना, देसा रणपुर—मंदसौर, हस्थनापुर—दिल्ली, सोरीपुर—आगरा, अठी गाम वढवाण, वगैरा ।

श्री ठाणांग सूत्र के पांचवे ठाणे के दूसरे उद्देशे मे कहा है किः—

नो कप्पई निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा इमाउ उद्दि-ट्ठाओ गणियाउ वियंजियाउ पंच महाण्णवाओ महाणईओ अंतोमासस्स दुखुत्तो वा तिक्खुत्तोवा उत्तरितए वासंतरि-त्तएवा तंजहा—

अर्थः- नो (नहीं) कप्पई (कल्पे) निग्गंथाणं (साधु) निग्गंथीणं (साध्वी को) इमाउ उद्दिट्ठाओं (ये आगे कहे मुजिब) गणियाउ (गणी पांच संख्या में), वियंजियाउ (प्रकट किए) पंच (पांच) महाण्णवा ओ (महार्णव बहुत पानी के लिये) महाणइओ (बड़ी नदी) अंतोमासस्स (महिना में) दुखुतो (दो वक्त) तिक्खुत्तोवा (तीन वक्त) उत्तरितएवा (उतरना कही) संतारितएवा (विशेष उतरना कही) तंजहा (सो कहते हैं)

(१) गंगा (२) यमुना (३) सरयू (४) एरावती (५) मही, जो आर्य क्षेत्र आगे हों तो वहां साधु विहार कर सके हैं, तो वहां की नदियां क्यों न कही? इस सूत्र का सारांश देखते जो इतनी ही नदियां बताई हैं उनमें से गंगा यमुना दिल्ली आगरा के पास हैं मही गुजरात में है। यह देखते आर्य क्षेत्र यहीं तक रहा, और जहां आर्य क्षेत्र नहीं वहां चार तीर्थ भी नहीं। और चार तीर्थ भी नहीं वहां सिद्धांत भी नही मिथ्यात्वी लोक और अनार्य क्षेत्र हो तो वहां सूत्र कहां से आवे? इस प्रकार तारा-तम्बोल जो आर्य क्षेत्र बताते हैं वे सूत्र विरुद्ध कहते है, जो

तारा तम्बोल आर्य क्षेत्र होता तो नदी भी वहाँ की बताते वैसा तो नहीं कहा, फिर व्यवहार सूत्र की चूलिका मे चंद्रगुप्त राजा के सोलह स्वप्न कहे उनके अर्थ कहते हुए श्री भद्रबाहु स्वामी कहते हैं कि पहिले स्वप्न मे कल्प वृक्ष की शाखा टूटी तो इसका फल यही कि आजसे पश्चात् कोई राजा संयम नहीं लेगा फिर सातवे स्वप्न का अर्थ करते हुए यों कहा है कि रोड़ी पर कमल उत्पन्न होने का फल यह है कि-

चाउएहं वणाणं मज्भे वइस हत्थे धम्मो भविस्सइ

जो चारवर्ण है उनमें से सिर्फ बनिये के घर धर्म रहेगा इस प्रकार तारातम्बोल आर्य क्षेत्र नहीं और राजा जिनमार्गी नहीं; यह बात सूत्र से सिद्ध होती है और कदाचित् किसी देश मे बौद्ध धर्मी जैनी कहलाते हैं पर वे तो मांसाहारी हैं मांस का ही आहार करते हे जीव की समय २ नयी उत्पत्ति मानते हैं उनकी श्रद्धा और क्रिया मे बहुत अंतर है इस लिये यही आर्य देश और यही सिद्धांत का प्रमाण है।

जत्थ २ जिण कल्लाणं तत्थ तत्थ देसे धम्महाणी भविस्सइ. ॥

यह वचन भी चूलिका के है तथा हिंसा धर्मी के पहाड़ आबू, गिरनार, शत्रुंजा, गौड़ी, सम्मेद शिखर, तथा शिवमत के तीर्थ, गंगा, यमुना,सरस्वती, चंद्रभागा, ज्वालामुखी हिमालय, बद्री केदार. जगन्नाथ, द्वारिका हिंगलाज आदि हिन्दू मत के है पर इनके आगे कोई नहीं कहते कि हमारे तीर्थ पांच सात हजार गाऊ (कोस) दूर भी है तो तुम्हारे तीर्थ

अनार्य क्षेत्र में कैसे होंगे, किसी तीर्थ का उस देश का सूत्र में नाम हो तो बताओ।
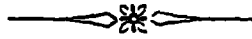
(३) प्रतिमा के स्थिति का अधिकार

हिंसा धर्मी कहते हैं कि संखेश्वर पार्श्वनाथ की प्रतिमा आठवें चंद्र प्रभव जीन के जमाने की है यह उनका कथन एकांत सूत्र विरुद्ध है भगवती सतक आठवें उद्देशे के नववे शतक में कहा है कि:-

सेकिंतं समुच्चयं बंधे जएणं अगड, तडाग नदी दह वावी पुक्खरिणी दीहियाणं गुंजालियाणं सराणं सर-पंतियाणं विलपंतियाणं देवकुलसभापव्वयथूभ खाइयाणं परियाणं पागारट्टालगचरियदारगोपुरतोरणाणं पासायघर-सरणलेणआवणाणं सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहा पहमाईणं धुहा चिक्खिल्लसिला समुच्चएणं बंधे समुप्पज्जइ जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं सेत्तं समुच्चयबंधे

अर्थात्—समुच्चय बंध के नाम, कूप, पानी सहित सरोवर; नदी, द्रह, वावड़ी, पुष्करणी, दीर्घिका, गुंजालीका सर पंक्ति, वील पंक्ति, देवकुल, सभा, पर्वत, थूभ, खाई, फालिका, प्राकार, गढ़कोट, अट्टाली, कांगरे, गोपुर, तोरण, प्रासाद घर सरण लेण ये घर विशेष, हट्ट श्रेणी सिंघाड़ा के सदृश तीन रास्ते, चौराहे, बहुत सी गली, चतुर मुखराज मार्ग आदि

जिनका कि अर्थ पहिले लिखा है छोह, चूना, चीखला, कादी, वज्रलेप आदि विशेष दृढ़ बंध किये हुए जघन्य तो अन्तर मुहूर्त रहे और उत्कृष्ट संख्याता काल रहे, इस प्रकार कृत्रिम वस्तु संख्याता काल तक रह सक्ती है ज्यादा नहीं। फिर भरत जी के बनाये हुए अष्टापद के देहरे महावीर स्वामी तक असंख्याता काल तक कैसे रहे? गौतम स्वामी ने ये बिम्ब कैसे वांधे? संखेश्वर की प्रतिमा असंख्याता काल तक कैसे रही? जो देव प्रभाव से रही ऐसा कहें तो भी झूंठ लगता है क्योंकि देवता किसी पदार्थ की स्थिति नहीं बढ़ा सक्के। पृथ्वी काय की स्थिति २२००० वर्ष की है इस से ज्यादा नहीं रह सक्ती। तबहिंसाधर्मी कहगे कि शत्रुंजय गिरनार, आबू, सम्मेद शिखर, चितौड़ आदि के पहाड़ लाखों वर्ष के आजतक कैसे रहे? इसका उत्तर यह है कि ये पहाड़ तो पृथ्वी से मिले हुए हैं। पृथ्वी से इनको आहार, रस पुद्गल पहुंचते हैं। पर टुकड़ा निकाल अलग करले तो २२००० वर्ष उपरांत नहीं रह सक्के। जैसे मनुष्य के शरीर पर लगे रहने से नख, केश, बढ़ते हैं पर काट कर अलग करने से नहीं बढ़ सक्के। इसी प्रकार इन पर्वतों का हाल समझो। पर असंख्याते काल के देहरे, प्रतिमा जो कहते हैं वे सूत्र के विरुद्ध कहते हैं।

४ आधाकर्मी लेनेवाले को फल

हिंसाधर्मी कहते हैं कि देव, गुरु, धर्म के लिये आधाकर्मी आहार दे तो भी लाभ होता है यह सूत्र विरुद्ध है। श्री ठाणांगजी के तीसरे ठाणे में कहा है कि जीव तीन कारण से

अल्प आयुष्य बांधता है (१) प्राणातिपात- जीव की हिंसा करता हुआ (२) मृषावाद-झूंठ बोलता हुआ (३) श्रमण निर्ग्रंथ को अप्रासूक अनैषणिक आधाकर्मी असणं (अन) पाणं [पानी] खाइमं (सुखड़ी) साइम (मूखवास) देताहुआ। इसी प्रकार भगवती सूत्र के सप्तम उद्देश में कहा है तो फिर आधाकर्मी आहार, औषध उपाश्रय देते लाभ कैसे होगा। फिर भगवती शतक पांचवें, उद्देशे छुट्टे में कहा है किः—

आहाकम्मं अणवज्जेत्तिमणंपहारेत्ता भवइ सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिकंते कालं करेति नत्थि तस्स आराहणा ॥

अर्थः- (आहाकम्मं) आधाकर्मी (अणवज्जेत्तिमणंपहारेत्ता) जिसे निर्दोष मन से समझे (तस्स) उस (ठाणस्स) स्थान की (अणालोइय) आलोयना किए बिना (अपाडिक्कंते) प्रतिक्रमण किये बिना (कालं करेति) काल करे (नत्थि) नहीं है वह (तस्स) जिनवचन का (आराहणा) आराधिक

अर्थात् जो आधाकर्मी आहार को निर्दोष समझ भोगें तो उसे आराधिक नहीं कहा। फिर भगवती शतक पहिले, उद्देशे नववें में कहा कि जो श्रमण निर्ग्रंथ आधाकर्मी आहार भोगें वे सात कर्म की गांठ दृढ़ बांधे लम्बी स्थिति बढ़ावें, बहुत प्रदेश बढ़ावें, तीव्र अनुभाग करें, अनंत काल संसार में रुले तो फिर देने वाले को लाभ कहां से हो ? वह तो अल्प आयु बांधने वाला है। मांस भोगी और मांस का दातार दोनों नरकगामी हों वैसे ही इसे भी समझो। इस सम्बन्ध के पाठ सूत्र में देख लेना।

(५) मुंहपत्ति बांधे तो वायुकाय के जीव की रक्षा हो इसका पाठ.

हिंसाधर्मी कहते है कि मुंह पै मुंह पत्ति बांधे तो पुस्तक को थूंक न लगे इसलिये लगातेहैं पर वायुकाय के जीव की रक्षार्थ बांधना नहीं कहा, मुंहपत्ति से वायुकाय की हिंसा नही टल सक्ती। उनका यह कथन एकांत सूत्र विरुद्ध है। भगवती शतक सोलहवें उद्देशे दूसरे में कहा है किः—

गोयमा जाहेणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणि-जूहित्ताणं भासं भासइ ताहेणं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ.

संस्कृत टीका—हे गौतम ! यदा नूनम्

शक्रोदेवेन्द्रो देवराजः सूक्ष्मकायजीवपरिरक्षणार्थं मुख-मनपोह्य अनाच्छाद्येत्यर्थो भाषां भाषते तदा नूनम् शक्रोदे-वेन्द्रो देवराजः सावद्यां भाषां भाषते ।

हे गौतम ! जब शक्रेंद्र देव राजा बोलते समय अपना मुंह वस्त्रसे बांधे विना अर्थात् ढाँके विना बोले तो वह सावद्य-कारी यानि हिंसाकारी भाषा है।

और जब शक्रेंद्र बोलते समय अपने मुंह पर वस्त्र लपेट कर अर्थात् बांध कर बोले तो वह भाषा निर्वद्य है अर्थात् खुले मुंह बोले तो वायुकाय के जीव हणते हुए बोले। तब सावद्य भाषा बोलने है इस प्रकार मुंहपत्ति दे यतना पूर्वक बोलने से

वायुकाय के जीव की हिंसा रुकती है यह सूत्र साक्षी समझना चाहिये। और नाक ढांकना तो कही भी नहीं कहा। और तुम कहते हो, कि पुस्तक की आशातना टालने वास्ते मुंहपत्ति देना सो तुम मिथ्या कहते हो। क्योंकि पुस्तक तो महावीर स्वामी मोक्ष गये वाद लिखे गए हैं और मुंहपत्ति तो श्री गौतम स्वामी ने स्थल २पर कही है। तुंगीया नगरी के अध्ययन में तथा उत्तराध्ययन के छवीसवें अध्ययन की तेवीसवी गाथा के पहिले दो पदों में कहा है कि—

मुंहपत्तियं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गुच्छगं ॥

अर्थः—मुं० पहिले मुंहपत्ति को प० पत्तिलेखना करे प० फिर प्रतिलेखे गु० गुच्छा को. इसपर से समझलेना।

---

६ यात्रा तीर्थ कहे उनके सूत्र साक्षी के पाठ।

हिंसा धर्मी कहते हैं कि शत्रुंजय, गिरनार, आबू, अष्टापद, सम्मेद शिखर, इत्यादि पर्वत की यात्रा करना व संघ निकालने का वड़ा भारी लाभ है। इसका उत्तर। इन पर्वतोंपर जो तीर्थंकर साधु आदि सिद्ध हुए उन्हें वंदना करना कहा है पर पर्वत वंदनीय नहीं। जैसे कोई व्योपारी वाजार में बैठ सराफ का धंधा करे तो लोक उसे साहूकार समझ अमानत रख जाते हैं पर कुछ काल वाद वही व्योपारी वह वाजार छोड़ कहीं अन्यत्र जा रहे तो वे अमानत रखने वाले उस वाजार में आकर उस जगह अमानत क्यों नहीं रक्खें? वैसे ही ये पर्वत तो हाट समान हैं व्योपारी समान साधु सिद्ध हुए हैं। अव वे पहाड़ तो निर्जन हाट समान रहे। वहां हुंडी सिकारने

वाला कोई नहीं रहा। इसलिये वे अवंदनीय हुए। तथा भगवती शतक अठारहवे उद्देशे दशवें में सोमल ब्राह्मण को श्री महावीर स्वामी ने ये यात्राएं करना कहा हैः—

सोमिला जं मे तव नियम संजम सज्झाय झाणावसस्सगमादिएसु जोगेसु जएयणा सेत्तं जत्ता।

अर्थात्-सोमिल ने पूछा कि हे भगवंत तुम्हारे यात्रा है? तब भगवंत फरमाते हैं कि हे सोमिल हमारे यहां तप असनादि १२ भेद नियम, अभिग्रह विशेष १७ भेदे संयम स्वाध्याय, वैयावृत्यादि में दिन रात व्यतीत करना, आवश्यक सामायिक आदि में यतना पूर्वक योग प्रवर्तांना यात्रा है।

उपरोक्त करणी करना यात्रा कहा है ये यात्रा श्रीमहावीर स्वामी ने सोमिल से कही। जैसे महावीर वैसे ही ऋषभादि सर्व तीर्थंकरों का ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व एकसा है तब ऋषभदेव स्वामी ने भी यही यात्राएं करना कहीं ऐसा समझना चाहिये। पहिले ९९ दफे ऋषभदेव शत्रुंजय आये और यात्रा की, ऐसा जो ये कहते हैं यह सब सूत्र विरुद्ध है। जो ऋषभदेव ऐसी यात्रा मानते होते तो वे भरतजी को देहरे बनानेका उपदेश क्यों दें? जो कार्य आप न करे वह कार्य दूसरों से कराने की आज्ञा क्यों दे? यह समझने की बात है।

(१) फिर भगवती शतक बीसवें उद्देशे आठवें में कहाहै किः—

तित्थं भंते! तित्थे तित्थंकरे तित्थे गोयमा! अरहा ताव नियमं तित्थंकरेति तित्थे पुण चाउवण्णाइण्णे समण संघे पन्नत्ते तं जहा समणा समणीओ सावगा सावियाओ

अर्थात् तीर्थ किसे कहते है ? तीर्थ चतुर्विध संघ को कहते हैं ! अथवा तीर्थंकर को तीर्थ कहते हैं ! अब भगवान् उत्तर देते हैं कि हे गोतम ! अरिहंत यावत् पहिले तीर्थंकर तीर्थ प्रवर्ताने वाले हैं पर तीर्थ नहीं, तीर्थ तो चार वर्ण, चातुर्य वर्ण क्षमादि गुणों से सुशोभित श्रमण संघ को कहते हैं जैसे श्रमण-साधु श्रमणी-साध्वी श्रावक श्राविका

तीर्थंकर तो तीर्थ के नाथ हैं और तीर्थ चार हैं साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका। तीर्थ करने के लिये यात्रा पर्वत की करना तथा संघ निकालना इसका लाभ सूत्र सिद्धांत में कहीं भी नहीं कहा।

७ शत्रुंजय शाश्वत कहते ह इसका उत्तर

हिंसा धर्मी कहते हैं कि शत्रुंजय शाश्वत है यह बात सूत्र विरुद्ध है, क्योंकि भगवती शतक सातवें उद्देशे छट्टे में कहा है, तथा जम्बूद्वीप पन्नती में कहा है कि छट्टा आरा बैठेगा तब भरत क्षेत्र में गंगा, सिन्धु ये दो नदी और यह वैताढ्य पर्वत रहेगा, शेष सब पर्वत विच्छेद जांयगे। देखो पाठ-

पव्वयगिरिडोगरुत्थलभाट्ठि माईएय वेयड्ढ गिरिवज्जं विरावेहेंति ॥

अर्थात् प० क्रीड़ा पर्वत वैभारादिक तिर जिस पर पानी हो पर्वत शिलादि रेत के थल पर्वत समीप की भूमि इत्यादि वैताढ्य पर्वत छोड़कर सब क्षय होजायेंगे। निझरण वि० निझरण विशेष खाई।

यह पाठ दो सूत्र में है। वहां शत्रुंजय शाश्वत रहेगा ऐसा नहीं कहा। तब हिंसाधर्मी कहेंगे कि ऋषभ कूट पाठ में नहीं आया? तो क्या ऋषभ कूट विच्छेद जायगा इसका उत्तर, यों तो ऋषभ कूट रहेगा, गंगा, सिन्धु कूट रहेंगे बहोतर बिल रहेंगे, पर पर्वत में तो वैताढ्य ही रहगा। तुम शत्रुंजय को कूट मानते हो या पर्वत? और ऋषभ कूट रहेगा तो वह जैसा है वैसाही रहेगा, पर तुम कहते हो कि शत्रुंजय तो दो हाथ ऊँचा और सात हाथ लम्बा रहेगा। तो वह जो शाश्वत हो तो न्यूनाधिक क्यों होवे? तब हिंसा धर्मी कहेंगे कि जो गंगा, सिंधु, नदी घट जावेगी। फिर उन्हें शाश्वत क्यों कही? इसी प्रकार शत्रुंजय भी समझलो। इसका उत्तर। गंगा सिंधु दोनों के पास पद्मवर वेदिका है,इनके मध्य साढ़ी बांसठ योजन का विस्तार वाला गंगा, सिंधु का द्रोह है। वह तो सदा शाश्वत है, काल प्रभाव से पानी का प्रवाह घटेगा। पर नदी का क्षेत्र नहीं घटेगा, गंगा का दृष्टांत शत्रुंजय से नहीं मिलता। शत्रुंजय को पर्वत कहते हो, कूट तो नहीं कहते हो? इसलिये शत्रुंजय अशाश्वत है, वैताढ्य पर्वत छोड़ सब पर्वत नाश होंगे, इन्ही में इसको समझो, साधु सिद्ध हुए इसलिये तीर्थ मानते हो तो अढी द्वीप तो सब तीर्थ भूमि है और सिद्ध क्षेत्र ही है. स्मशान रोड़ी आदि भूमि से भी अनंत सिद्ध सिद्ध हुए हैं, यह साक्षी उववाई, पन्नवणा सूत्र में दो पद में कही है, जिसमें उववाई, सूत्र में अंत के अधिकार में गाथा २२ हैं, उसमें की गाथा ६ वीं यों है.

जत्थय एगो सिद्धो। तत्थ अणंता भवक्खय विमुक्का।
अण्णाण्णसमो गाढा। पुट्ठो सव्वेय लोगंते॥ ६॥

अर्थात् ज. जिस जगह सिद्ध एक है त, वहां अनंत सिद्ध समझो भव संसारके त्तेय से वि. वे मुक्त हुए हैं अ. आपसमें,स. मिले है, पु० स्पर्श रहे हैं सब इस लोक के अंततक ॥ ६ ॥

इस साक्षी से व इस लेख से जो शत्रुंजय शाश्वत कहते हैं वह सूत्र विरुद्ध है।

८ * कयवलीकम्मा शब्द का अर्थः—

(१) हिंसा धर्मी कहते है कि सूत्र में कयवली कम्मा शब्द से देव पूजा करना सिद्ध होता है। यह बात भी सूत्र से नहीं मिलती क्योंकि ज्ञाता सूत्र के दूसरे अध्ययन में धन्ना सार्थवाह की स्त्री भद्रा सार्थ वाहिनी पुत्र की इच्छा से नाग, भूत, यक्ष को पूजने नगर बाहर गई। वहां ऐसा कहा है किः—

जेणेव पोक्खरणी तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पोक्खरणीए तीरे सुवहुं पुप्फं जाव मल्लालंकारं ठवेइ २ त्ता, पोक्खरणिं उग्गाहइ २ त्ता जल मज्जण करेइ २ त्ता जलकीडं करेइ २ त्ता एहाया कयवली कम्मा उल्लपाडिसाडिगा जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सहस्सपत्ताइं ताइं गिन्हइ २ त्ता पोखक्खरणीउ

* बल भृतौ भृतिश्च पोषणम् पोषणं पुष्टि अर्थं हि चुरादिगणपठित तथा च बालयतीति वलं पचाद्यच् वलमिति ततो मत्वर्थाय अतइनिठनावीत इनि कृते दीर्घे जाते बलीति प्रथमान्तरं एतस्यकर्मणा योगे षष्ठीर्ति समासः तथा च बलिन कर्म बलिकर्म बलवत कृतशब्दयोगे अन्यपदार्थे बहुव्रीहि. कृतं बलिकर्म येन सः कृतबलिकर्मा।

अर्थात् किया है बल वर्द्धक कर्म जिनने

पच्चोरुहइ २ त्ता तं सुवहुं पुप्फवत्थगंध मल्लालंकार गिएहइ २ त्ता जेणेव नागघरे जाव वेसमणघरए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता—

अर्थः—जे जहां, पो पुष्करणी वावड़ी, ते वहां, उ. आ २ कर, पो. पुष्करणी वावड़ी के, ती किनारे, व बहुत, पु. फूल, जा. यावत्, म. माला, अ अलंकार, ठ. सब छोड़ २ कर, पो पुष्करणी वावड़ी में, उ. पैठ २ कर, ज पानी से म. मर्द्दन, क. कर २ ने, ज. पानी की की, क्रीड़ा, क. कर २ के, न्हा स्नान, क. किया, ब. वली कर्म जल कुल्ले किये सुगंधित वस्तु का विलेपन किया। और स्नान कर, उ जो साड़ी पहिले नहीं पहिनी थी वह पतली, प. साड़ी पहिन, जा जो, त. जहां उ कमल हैं जा. यावत्, स. सहस्र, प फूल कमल, ता वे, गि. ले ले कर। पु. वावड़ी से प. फ़िर निकल २ कर, तं. वे, सु. बहुत, पु. फूल व वस्त्र, ग. गंध, म. माला, अ. अलंकार, गी. ले २ कर, जे. जहां ना. नागघर, जा. यावत् यक्त्के, वे. वेसमण, के घर है वहां, उ आ २ कर।

यहां वावड़ी में वली कर्म किया तो यहां वावड़ी में किस की प्रतिमा पूजी? नाग भूत तो वावड़ी से निकले वाद पूजा है?

२ फिर ज्ञाता अध्ययन आठवें में मल्लीनाथ स्वामी पिता के पांव लगने आये हैं वहां कहा है किः—

एहाया जाव वहुहिं खुज्जाहिं परिवुडा जेणेव कुंभराया तेणेव उवागच्छइ २ त्ता।

अर्थ-एहा स्नान कर, जा. यावत्, व. वहुत से, खु. खोजेदासी, प. साथ लेकर, जे. 'जहां कु. कुंभराजा, ते. वहां, उ. आ. २ कर यहां यावत् शब्द में.

एहाया कय वली मा कय कोउय मंगलं पायछित्ता सुद्धप्पवेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवर परिहियाइं ॥

अर्थः-क. कौतुक मंगलिक पानी की अंजुली भर कर कुल्ले किये, पा. अभरण पहिन तिलक मस लगा, सु. मेल रहित, प. पवित्र, मं. मंगलिक भार कम और कीमत वहुत, व ऐसे वस्त्र, प: प्रधान, प. पहिने, इतना पाठ जाव शब्द में आया।

(३) फिर ज्ञाता सूत्र अध्ययन आठवें में मल्लीनाथ स्वामी छः राजा को प्रति बोध देनेको, मोहन घर में आये। वहां भी कहा है किः-

तएणं सा मल्ली विदेह रायकएणा एहाय जाव पायछित्ता सव्वालंकारविभूसिया वहुहिं खुजाहिं जाव परिक्खित्ता जेणेव जालधरए जेणेव कणगमए पडिमें तेणेव उवागच्छइ २ त्ता।

अर्थः—त-तव, सा. वे, म. मल्ली, वि. विदेह, न्हा० स्नान, जा. आदि, पा अलंकारादि पहिन तिलक मस लगा, स. सब सुशोभित अलंकार सहित, वि. विभूषित किये हुए, व. वहुत, खु. खोजे दास दासी, आ. आदि, प. परिवार से पधारे, जे. जहां, जा. जालीका घर, जे. जहां, क कनक सुवर्ण की, प. प्रतिमा, ते. वहां, उ आ आकर। यहां जाव शब्द में काय वलिकम्मा

कय कोउय मंगलं पायच्छित्ता.

अर्थः—क. कौतुक मंगलीक पानी की अंजुली ले कुरले किये, पा आभरण पहिन तिलक मस लगाये।

इतना पाठ है इस वलिकम्मा शब्द से देव पूजा अर्थ निकलता हो तो तीर्थंकर ने कौन से देव पूजे ? यह कहिये।

फिर ज्ञाता सूत्र के सौलहवें अध्ययन में कहा है किः—

तएणं सा दोवई रायवरकएणा जेणेव मज्जण घरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता मंजणघरं अणुप्पविसइ २ त्ता एहाया कयवलिकम्मा कयकोउय मंगलं पायछित्ता सुद्धप्पवेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिया मंजणघराउ पडिनिक्खमइ २ त्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता।

अर्थः—त. तब, सा. वह, दो द्रोपद्री, रा. राजवर कन्या, जे. जहां, मं स्नानघर, ते वहां, उ आ आकर, म. स्नान घर में, अ प्रवेश कर प्रवेश कर के, एहा उनने स्नान, क किया, व. वालिकर्म पीठी आदि विलेपन किये, क कौतुक, मं. मंगलिकपानी से अंजुली भर कुरले किये, पा. आभरण पहिन तिलक मस किये, सु. शुद्ध निर्मल, पा. उत्तम, मं. मंगलिक व. वस्त्र, प प्रधान, प. पहिन, म स्नान घर से निकल २ कर, जे. जहां, जि. यक्ष का घर, ते. वहां, उ. आ २ कर।

इस पाठ में पहिले स्नान फिर वलिकर्म्म फिर वस्त्र पहिनना आदि कहा। तो स्वभाविक स्त्री जाति नग्न होकर स्नान करने वैठी हो। वहां उसने कौनसे देव पूजे ? स्नान घर में कौनसे देव थे ?

(५) फिर भगवती शतक नववे उद्देशं तेंतीसवें में देवानंदा ब्राह्मणी ने स्नान घर में वलिकर्म किया तो स्नान घर मे कौन सा देव पूजा ?

(६) भगवती शतक नववें उद्देशे तेंतीसवें मे जमालीजी के अधिकार में कहा किः-

तएणं से जमाली खत्तियकुमारे जेणेव मज्जण घरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता एहाया कयवलिकम्मे जहा उववाइए परिसा वएणओ तहा भाणियव्वं जाव चंदणोक्खित्तगायसरीरे सव्वालंकारविभूसिए मज्जण घराओ पडिनिक्खमइ २ त्ता।

अर्थ -त तव वे जमाली क्षत्रिय कुमार जे जहां स्नान घर है ते तहां उ. आ २ कर एहा स्नान किया और किये वलिकर्म जिसने ज जैसे उववाई उपांग में परिषद् का वर्णन किया वैसा ही यहां भी कहना जा आदि चंदन से परिवेष्टित है शरीर गात्र जिस की देह आदि स सर्व अलंकार से सुसज्जित हो म. स्नान घर से निकल निकल कर ! इनने स्नान घर में कौनसा देव पूजा ?

(७) फिर भगवती शतक सातवें उद्देशे नववें में वर्ण नाग नत्थुवाने स्नान घर में कयवलिकम्मा कर्म किया। फिर स्नान घर से निकला तो वहां उसने स्नान घर में कौनसा देव पूजा।

(८) फिर रायपसेणी में कठियारेने जंगल में स्नान किया फिर वलिकर्म भी किया कहा है। वहां उसने कौनसा देव पूजा।

(९) फिर केशी श्रमण ने कहा कि हे प्रदेशी राजा !

तू स्नान घर में स्नान कर बलि कर्म के बाद फिर देव पूजा करने जाय । बीच में भंगी पायखाने में तुझे बुलावे तो तू जाय ! तो देखिये कि स्नान घर में उसने कौनसा बलिकर्म किया ? देव पूजा करने तो फिर चला वह पाठ तो अलग ही है यह सोचिये ।

(१०) फिर कौणिक राजा भगवंत का परम भक्तिवंत नित्य प्रति एक लाख और आठ हजार रुपये भगवंत की बधाई में दे, और जिस दिन भगवान् चम्पानगरी पधारें उस दिन साढ़े बारह क्रोड़ रुपये बधाई में दे उन्हे प्रतिमा पूजनेवाला क्यों नहीं कहा ? और जब वे भगवान् के दर्शनार्थ गए उस पहिले उन्होंने जहां स्नान किया उसका संपूर्ण विस्तार पूर्वक पाठ दिया उसमें कय बलि कम्मा शब्द मूल में ही नहीं है. वह सम्पूर्ण मूल पाठ यों है ।

जेणेव मज्जण घरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता मज्जणघरं अणुपविसइ २ त्ता समुत जालाभिरामविचित्तमणि रयण-कुट्टिमतले रमणिज्जे एहाणमंडवंसि णाणामणिरयण भत्ति-चित्तंसि एहाणपीढंसी सुह णिसण्णे सुद्धोदगेहिं गंधोदएहिं पुफोदएहिं सुभोदएहिं पुणो २ कल्लाणगा पवर मंज्जण विहिए मजिए तत्थ कोउय सएहिं बहुविहेहिं कल्लाणग पवर मज्जणावसाणें पम्हलं सुकुमालं गंध कासाइय लू-हियंगे सरस सुरहिं चंदण गोसिसा णुलित्तगत्ते अहिय सुमहग्ध दूसरयण सुसंवए सूई मालावणगविलेवणे आ-

विद्धमणिसुवर्णों कप्पीयहारद्धहार तिसरय पालंब पलंबमाण कडि सुत्त सुकय सो हे पीणद्धगेविज्जे अंगुलिज्जके ललीयं मय ललीय कयाभरणे वर कडग तुडिय थंभिय भूए अहिय रुव सस्सिरीए मुद्दिया पिंगलं गुलिए कुंडल उज्जोय वियाणणे मउडदित्तसिरीए हात्थए सुकय रइय वत्थे पालंब पलंबमाण पड सुकय उत्तरिज्जे णाणा मणि कणगरयणे विमलमहरिह निउणोवीय मीसिमिसतं विरईय सुसिलिट्ठ विसिट्ठ लट्ठ आविद्धवीरवलए किं वहुणा कप्परुखए चेव अलंकिय विभूसिए नरवइ सको रंट मल्ल दामेणं छत्तेणं धारिज्ज माणेणं चउ चामर वालवीजिअंगे मंगल जय सद्द कया लोए मंजण घराओ पडिनिक्खमइ २ त्ता.

अर्थः— तव वे कौणिक राजा जे. जहां म—स्नान करनेका घ-घर है ते—वहां उ-आ २ कर—म-स्नान करने के-घर-घरमें अ-घुस घुसकर स—मोतियों की जालियो के साथ अभिराम जिन्हें अ-मनोहर हैं वि—अनेक प्रकार के-म-मणि र-रतन जिसे-कु. भूमिका का तल आंगन हैं र- रमणीक है—एहा—स्नान करने का मं—मंडप चौक है ना—नाना प्रकार के म-मणि- र- रतन को भ. भीति चि-चित्र हैं ऐसे-एहा—स्नान करने के-पी-वाजोठ पर सु—सुखसे नि-वैठे हैं सु-शुद्ध स्वभावसे—उ-पानीसे गं—सुगंधिक उ-पानी द्वारा पु. फूलादिसुगंधित उ-पा नीसे सु-तीर्थके उ-पानीद्वारा पु-वारम्वार क—कल्याण कारी

प्र-प्रधान, म-स्नानकरने की वि. विधि से म-स्नानकिया त. वहां कौ-कौत्तीक रक्षादिकका स-गौतम व-वहुत वी-प्रकार उन्हें क-कल्याणकारी प-प्रधान म-स्नानके का अंततक प-पुष्पसे सु.कोमल हैं जिसके गं-सुगंध क. लाल वस्त्र द्वारा लुं-पौंछा. अं. अंग शरीर जिनक सु- सुगंध गो-वावना चं-चंदन अ विलेपन किया अ-गात्र शरीर जिनका अ. अखंड चुहादि ने खाये नहीं सु-अति म-कीमती वहुत कीमत के दु वस्त्र र रतन-सु—अच्छी तरह स-पहिने-सु-मित्र-मा-फूल की-मोती की मालाहै व-वर्ण अवीरादि वि-विलेपन किये हैं जिसे आ. पहिने हैं म. मणीके सु. सुशोभित आभरण क. पहिने हैं अ. अठारह सरिये हार अ-नवसरिये हार ति-ती न सरियेहार पा. झूमता प. लम्वा नाभी तक क.कंदोरा सु. अच्छा किया है सो शोभा पि. पहिने हैं गे कोट के अदर आभरण जिनने अ. अंगुली में वींटी अंगूठी आभरण पहिने है लि.मनोहर गं. शरीर में ल. शोभादायक क. किये हैं स्थापित आ. आभरण दूसरे जिनने व प्रधान क. कडा तु. वहिरखां जिनने थ. स्तंभित है भारसे अ. भुजा जिनकी अ. अधिक रू रुपहै स. शोभायमान दिखते हैं मु मुद्रिका पहिनी है पी. पीली हुई है अ अंगुली जिनकी कु. कानके कुंडल जिनके उ. उद्योत किया है अ. मुख जिनका म. मुकुट से दी. देदिप्यमान हा. हार से उ. ढांका है सु अच्छा क किया है र राचा है वरिया जिनक पा. झूमता प लम्वा प. पक वस्त्र द्वारा सु. भला क. किया उ. उत्तरासग जिनने ना. नानाप्रकारके म. मणि का सुवर्ण र. रत्न वि. निर्मल म. वडों के योग्य नि. निपुण विज्ञान का उ वहुत मि. देदिप्य

मान वि. निपजाया है रचा है सु. अच्छी तरह सी. समाधि लगाई है वि. प्रधान ल. मनोहर अ. पहिने है रू. वृक्ष की तरह चे. निश्चयपूर्वक अ. अलंकार मुकुटादि वि. शृंगार किया है वस्त्रादि से न. मनुष्यका अ. स्वामी राजा स. कोरंटनामा वृक्ष के म फूलकी दा. माला सहित छ. मेघाडम्बर ध. रखता हुआ मस्तक पर ज. जय २ कार स. शब्द क. किये हैं लो. लोकों ने म. स्नान घ. घरसे प. निकल २ कर

इतना स्नान का वर्णन है इसमें कयवलिकम्मा शब्द मूल मे ही नहीं है और भी वीर भगवान के दर्शनार्थ जाने का अवसर है अगर कयवलिकम्मा शब्द से प्रतिमा पूजा का अर्थ निकलता हो तो वह यहां अवश्य चाहिये था।

(११) फिर जम्बूद्वीप पन्नति में कहा कि श्री भरतेश्वर जी ने स्नान किया वहां भी स्नान का अधिकार कौणिक सा है अर्थात् वहां भी कयवलिकम्मा शब्द मूल में ही नही है तुम कहते हो कि अष्टा पद ऊपर बिम्ब भराए तो प्रतिमा के रागी हुए फिर क्या वलि कम्मा नहीं करते होंगे ? प्रतिमा नही पूजते होंगे ? पर यह निश्चय समझो कि जहां २ स्नान का विस्तार सहित वर्णन है वहां कहीं भी कय वलि कम्मा शब्द नही है और इन्हीं कौणिक और भरतेश्वर के स्नान के अधिकार का पाठ जहां संक्षिप्त में कहा है वहां कयवलिकम्मा जगह २ कहाहै तो इससे यही सार निकलताहै कि वलिकम्मा-शब्द स्नान का ही विशेषणहै. यहां देव पूजा का अर्थ नही लगता. स्नान करते हुए जलांजली कुल्ले करना गंधादि विलेपन मर्दन प्रमुख करना हीं अर्थ होताहै जो वलि कम्मा शब्द का अर्थ

जिनराज की प्रतिमा लगाते हैं वे एकांत मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से ऐसा कहते हैं ।

(१२) कितने ही कहते हैं कि तुंगीया नगरी के श्रावक स्थेवर को वंदने गए वहां टीका में ऐसा अर्थ किया है कि " कयबलि कम्मेति स्वग्रह देवता " अस्यार्थः—अपने घर के देव की पूजा की अर्थात् अपने संसार के वास्ते गोत्र के देवादिक को पूजे पर प्रतिमा मति कहते है कि श्रावक के घर के देव तो जिनराज ही हैं दूसरे कुलदेव को श्रावक सम्यदृष्टि नहीं नमते. यों जवर्दस्ती से जिन प्रतिमा ठहराते हैं पर मूर्ख इतना भी नहीं समझते कि तीर्थङ्कर किसी के घर के देव नही होसकते । वे तो तीन लोक के देव हैं और यह कहना भी उनका झूठ है कि श्रावक अन्य देव को कुल परम्परा से भी नहीं मानते देखो सूत्रादि.

(१) श्री भरतेश्वर समदृष्टि थे और चक्ररत्न क्यों पूजा ?

(२) शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अर्हनाथ ये तीनों जिन चक्री थे, इनने चक्ररत्न क्यों पूजा ? भरतक्षेत्र को साधते तेरे तेले संसार खाते सब चक्रवर्ती करते हैं या नहीं ?

३ ज्ञाता में सुट्ठिया देवता को श्रीकृष्ण समदृष्टि ने आराधा या नहीं ?

(४ चक्रवर्ती मागधादि देव को साधने वास्ते बाण चलाते हैं उस बाण में लिखते है कि सर मर्यादा में रहने वाले देवता मेरे सेवक बनो ।

हंदि सुणंतु भवंतो बाहिरओ खलु सरस्स जे देवा ।
नागा सुरा सुवण्ण तेसिं खु नमो पणिवयामि ॥ १॥

अर्थः—हं-निश्चय सत्य, सु-सुनोतुम, वा-शर, त-बाहिर की ओर जो अधिष्ठायक देव हैं, ख-निश्चय, जे-जो, देव-देवता, ना-नाग-कुमार, अ-सुर कुमार सु-सुवर्ण कुमार देवता, ते—उन, देवता को नमस्कार होओ. प-प्रणाम, नमस्कार करता हूं।

इस गाथा मे फ़रमाया है कि शर जावे वहां के समीप जो देवता हों उन्हें मेरा नमस्कार होओ--यह रीति है-इसी रीति को चलाने वास्ते शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अर्हनाथ इनने भी खंड साधते व बाण फेंकते समय देवताओं को नमस्कार किया है।

(५) अभय कुंवार ने मेघ का दोहद पूर्ण करने वास्ते तेला किया तो देवता की सहायता क्यों ली?

(६) आनन्द श्रावक के अधिकार में उपासक दशाङ्ग के पहिले अध्ययन में ६ आगार रक्खे कि अन्य तीर्थ को वंदना करना या देना पड़े तो छः आगार १ रायाभि ओगेणं (राजा की ज़बर्दस्ती से) गणाभि ओगेणं (जाति समुदाय की आज्ञा से) ३ बलाभि ओगेणं (बलात्कार से) ४ देवाभि ओगेणं (देवता के कारण से) ५ गुरूनिगहेणं (गुरू की परवशता-के कारण) ६ वितीकंतारेणं (दुर्भिद्म के या जंगल के कारण) इन छः कारण से संसार की विधि करूं पर इनमें धर्म नही समझूं- ऐसा कहा है।

(७) फिर इस का प्रमाण तो सूत्र के अन्दर मोजूद है कि कार्य विशेष लौकिक पक्ष में सम्यक दृष्टि श्रावक को अन्य देव भी मानने पड़ते हैं।

(८) अगर कहते हो कि ऐसे ही श्रावक देवता की सहाय न चाहे तो तुम कहते हो कि चौवीस यक्ष और यक्षणी रक्षा करते हैं और शासन देवता सहाय करते हैं उनकी थुइयां भी तुम प्रतिक्रमण में कहते हो--अगर चार तीर्थ सहाय न चाहें तो यक्ष यक्षणी किस की रक्षा करते होंगे ? और शत्रुंजय पर चक्रेसरी माता को क्यों पूजते हो ?

(९) तथा यती होकर गोरे, काले, क्षेत्र पाल, भैरव तथा मणि भद्रादि यक्ष का आराधन करते हैं--वे अपनी और अपने पक्ष की रक्षाके लिये ऐसा करते हैं--इस न्याय से तो देवता की सहायता चाहने वाले तमाम गुरू सम दृष्टि नहीं ठहरते--कुछ इस पर भी विचार करना ।

(१०) द्रौपदी ने सम दृष्टि के कारण नारद को नमस्कार नहीं किया तो श्रीकृष्ण भी सम दृष्टि थे उनने नारद की भक्ति क्यों की ?

इसकी साक्षी ज्ञाता के सोलहवें अध्ययन में है। वह लिखते हैं--

तएणं से पंडुराया कच्छुल्लं णारयं एज्जमाणं पासइ २ त्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीएय, देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेइ २ त्ता कच्छुल्लं नारयं सत्तट्ठपयाइं पच्चुगच्छइ २ त्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ त्ता वंदइ नमंसइ २ त्ता महरिहेणं आसणेणं उवणिमंतेइ तएणं से कच्छुल्लए नारए उदगपरि फासियाए दब्भोवरिए वत्थाए भिसीआए णिसीयइ २ त्ता पंडुएयं रज्जेय जाव अंतेउरिय कुसलोदंतं पुच्छइ ।

अर्थः—त-तव, से--वे--पं--पांडुराजा, क-कच्छुल, ना-नारद को, अ-आता हुआ, पा-देख देख कर, पं-पांच, पं-पांडव, कु-कुन्ती देवी, स-साथ, आ-आसन से, अ-उठ २ कर क-कच्छुल, ना-नारद को, स-सात आठ, प-पग, प-सम्मुख जा जा कर, ति-तीन वक्त, आ-आत्मा झुकाई, प्र-प्रदक्षिणा क-की करके, वं-वंदना, न-नमस्कार किया, करके म-बड़ों के योग्य आ-आसन उ-बैठने दिया, त-तव से-वे, क-कच्छुल, ना-नारद, उ-पानी के, प-छींटे डाल कर, द-डाभ पर, प-बिछा कर, भी-पटली रखकर, नी-बैठे, बैठ कर पं-पंडु, राजा को र--राज्य की, जा--आदि, अं-अन्तःपुर की, कु-कुशलता के समाचार पु-पूछे !

इस प्रकार नारद की भक्ति की द्रौपदी ने वंदना नहीं की। उस समय वह समदृष्टि थी, इसलिये उसने यह काम अच्छा किया। वेही नारद श्रीकृष्ण के पास गये तव श्रीकृष्ण ने भी जाव शब्द में पांडुराजा की तरह भक्ति की। वंदना की। उसका पाठः-

इमंचणं कच्छुलणारए जाव समोवयइए जाव णिसीय २ त्ता कराहं वासुदेवं कुशलोदंतं पुछइ ।

अर्थः-इ-उस समय, क-कच्छुल नारद, जा-आदि, आकाश से स-उतरे, जा-आदि, नि-बैठ २ कर, क-कृष्ण, वा-वासुदेव, कु-कुशल समाचार, पु-पूछे।

इस जाव शब्द में पंडु राजा की तरह भक्ति साधी। इनने मिथ्यात्व की भक्ति सांसारिक रीति से की या नहीं ?

" ज्ञाता अध्ययन आठवें मल्लिनाथ स्वामी ने।

एहाया जाव बहुहिं खुज्जाहिं परि वुडा जेणेव कुंभराया तेणेव उगच्छइ २ त्ता कुंभयस्स पायग्गहणं करेति।

अर्थः-एहा-स्नान करके, जा-आदि, ब-बहुत, खु-खोजे, दासी, प-के साथ, जे-जहां, कुं-कुंभराजा, ते-वहां उ-आकर, कुं-कुंभ राजा के, पा-पैर ग्रहण, क-करे-अर्थात् पैर पड़े।

देखो तीर्थंकर देव मिथ्यात्वी अवृत्ती पिता के पैरों पड़े या नही ? सिर्फ़ लौकिक मिथ्यात्व के कारण ही-उनके माता पिता ने श्रावक धर्म भी जब मल्लीनाथ स्वामी ने दीक्षा ली तब लिया. इतनी साक्षियां, कुलदेव व लौकिक मिथ्यात्व समदृष्टि को लगता है, उस पर दिखाई-समदृष्टि धर्म समझ कर मिथ्या त्वके देव गुरु नहीं मानते पर लौकिक रीति का उच्छेद नहीं करते.

सिद्धायतन शब्द का अर्थ - उत्तर.

हिंसा धर्मी कहते है कि सूत्र में देहरे का नाम सिद्धा यतन है, वह सिद्ध का घर समझना चाहिये और प्रतिमा सिद्ध समझना चाहिये-ये कथन सूत्र विरुद्ध हैं जो सिद्धायतन नाम गुण निष्पन्न मानते हो तो.

१ भगवती शतक नववें में ऋषभदत्त ब्राह्मण कहा, तो क्या ऋषभदेव का दिया हुआ मानोगे ?

२ उत्तराध्ययन अठारहवें असंयती के कर्म करने वास्ते मृगया मारने गया उसका नाम संयति राजा कहा. तो क्या वह संयति हो गया ?

३ जीवाभिगम में कहा सातवीं नरक में गए उनको पांच महापुरुष कहे, तो क्या वे लोकोत्तर पक्ष के भी महापुरुष कहे जायंगे ?

४ विजय, विजयंत जयंत, अपराजीत नामक अनुत्तर विमान के नाम कहे और इन्ही चार नाम के असंख्याता द्वीप समुद्र के चार २ द्वार के नाम कहे-तो अणुत्तर विमान से उनका क्या सम्बन्ध हुआ ?

५ अनुयोग द्वार में नो गुण नाम के भेद कहे- वहां असुद्दो निर्गुण नाम कहा। वैसेही १ ऋषभदत्त २ संयतिराजा ३ पंच महापुरुष ४ अणुत्तर विमान के नाम, ये सब नो गुण नाम हैं वैसे ही सिद्धायतन भी नो गुण नाम समझना.

६ भरतादि एकसो सित्तर विजय में एक २ क्षेत्र में तीन ३ तीर्थ कहे १ मागध २ वरदाम ३ प्रभास ये तीन तीर्थ कहे। तो ये कुछ समदृष्टि के मानने के लिये नही। उसी प्रकार सिद्धा यतन शब्द भी समझना चाहिये—

७ जो गुण निष्पन्न नाम सिद्धायतन मानते हो तो कहो-उस देहरे में कौन से सिद्ध हैं? क्या सिद्ध के घर होता है यह भी कहो?

८ द्वीप, समुद्र, देवलोक में चार २ जिन प्रतिमा कही है- उनके चार नाम सब जगह एक से हैं १ ऋषभानना २ वर्धमाना ३ चंद्रानना ४ वारिसेणा-ये तीर्थङ्कर के नाम पे नाम कहे-तो क्या ये चार जिन की प्रतिमा हुई? ये चार नाम तो अनंत काल से चले आते हैं और ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानना वारीसेणा ये चार जिन राज तो इस चौवीसी में हुए हैं। यह सुबूत कैसे सच्चा समझा जाय?

६ प्रतिमा सिद्ध और प्रतिमा का घर सिद्धायतन ऐसा अर्थ करते हो तो तुम्हारे कहने के अनुसार द्रौपदी के यहां के प्रतिमा के घर को सिद्धायतन क्यों नही कहा? वहां तो जिन घर कहा है। प्रतिमा के निवास स्थान को सिद्धायतन कहे तो द्रौपदी के देहरे में प्रतिमा थी या नही? जो प्रतिमा न थी तो क्या पूजा और प्रतिमा थी तो सिद्धायतन क्यों न कहा? यह बतलाओ-और सूर्याभादि देवता के देहरे हैं उन्हें सिद्धायतन कहे हैं तो क्या वहां प्रतिमा के निवास के कारण सिद्धायतन नहीं कहा? परमार्थ तो यह है कि जो अशाश्वते देहरे है उन्हें तो नागघर, भूनघर, यक्षघर, वैसमण घर कहे हैं। ज्ञाता अध्ययन दूसरे में साक्ष है, और जो अनंत काल के देहरे हैं उनकी स्थिति के आश्रय से उन्हें सिद्धायतन संज्ञा से सम्बोधित किये हैं। अनंत काल की स्थिति की जो वस्तु हो उसे सिद्ध कहते हैं, उसकी साक्ष भी अनुयोग द्वार में है, वह लिखते हैं

से किंतं दसनामे, दसनामे दसविहे पएणंते, तंजहा, गोणे १ नोगोणे २ आयाणपएणं ३ पडिवक्खपएणं ४ पूपहाणयाए ५ आणादि सिद्धतेणं ६ नामेणं ७ अवयवेणं ८ संजोगेणं ९ पमाणेणं १०

अर्थः—से-कौन वे, द-दस नाम, द-दस प्रकार से, प-कहे, तं-वे कहते हैं, गो-गुण निष्पन्न नाम १ नो-अगुण निष्पन्न नाम२ आ-आदि पद द्वारा जो नाम पैदा होता है वह,३प-प्रतिपक्ष राग से कहते हैं वह ४ प प्रधान वस्तु के नाम के संयोग से जो नाम

पैदा होता है वह ५ अ-अनादि काल के सिद्ध शाश्वता नाम वे अनादि सिद्ध नाम ६ ना-पितादि के नाम से ७ अ-अवयव के संयोग से नाम पुकारा जाय वह नाम ८ सं-द्रव्य संयोग से नाम पुकारा जाय. ९ प-नाम स्थापनादि चार प्रकार के नाम १०

इनमें अनादि सिद्ध नाम कौन से ? वे लिखते हैं।

से किंतं अणादिय सिद्धं तेणं २ अणादिय सिद्धं तेणं धम्मत्थिकाए अधम्मात्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थि-काए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमए।

अर्थः—से-कौन वे, अ-अनादि सिद्ध के नाम, अ-अनादि सिद्ध ध धर्मास्तिकाय अ-अधर्मास्तिकाय २ आ-आकाशास्ति काय ३ जी-जीव ४ पु-पौद्गलास्थिकाय ५ अ-काल ६ ये छः द्रव्य-

इन छः वस्तुओं को अनादि सिद्ध कही हैं। इस लिये तुम्हारे मतानुसार तो ये छः अनादि सिद्ध वस्तुएं भी वंदनीक हुई ? वहां सिद्ध प्रतिमा का आयतन घर इसलिये सिद्धायतन सम-झते हो तो यहां काल, पुद्गल, जीव, धर्मास्थि, अधर्मास्थि, आकाश, परमाणु, जीव अनंत प्रदेशिक बंध इन्हें भी सिद्ध कहे हैं। इस लिये ये भी पूजनीक हुए। सिद्ध के घर को वंदनीक सम-झते हो तो सिद्ध को क्यों नहीं वंदना करते हो ? पर यहां तो सूत्र परमार्थ का यही अर्थ है। अनंत काल की स्थिति है और स्वयं सिद्ध विना किसी के बनाये हुए हैं इसलिये सिद्धायतन कहते हैं.

तब हिंसा धर्मी कहेंगे कि वैताढ आदि पर्वत के नो कूट हैं,

वे अनंत काल के हैं, तो उन नो को सिद्धायतन कूट क्यों नहीं कहे? सिद्धायतन कूट एक ही क्यों कहा? इसका प्रतिमा पूजने वाले को उत्तरः—

"मंहते महिषः" जो वृद्धि को पाता है वह महिष तो क्या भैंसे के सिवाय और प्राणी नहीं वढ़ते हैं? अर्थात् वढ़ते हैं। इस हिसाव से प्राणी मात्र को ही महिष कहना चाहिये परन्तु नहीं भैंसे को ही महिष कहा है "कुञ्जःअस्ति यस्य सः कुञ्जरः" वन है जिसके उसे कुंजर (हाथी) कहते हैं। तो क्या और प्राणी के जंगल (वन) नहीं है? अर्थात् और के भी है। इस हिसाव से प्राणिमात्र को कुंजर कहना चाहिये परंतु नहीं केवल हाथी को ही कुंजर कहा है। इसी तरह नो कूट अनंत काल सिद्ध हैं तो भी देव देवी के अधिष्ठित है इसलिये देव देवी के नाम से उन कूटों के नाम कहे, और यहां देव देवी का विशेपण नहीं,इस लिये सिद्धायतन कूट कहा। पर प्रतिमा के निवास के कारण सिद्धायतन नहीं कहा श्रीगणधर देव कभी भूल नहीं सकते इस पर खूव विचार करियेगा.

१० गौतम स्वामी अष्टापद् पर गए उसका उत्तर.

१—हिंसा धर्मी कहते हैं कि भगवंत श्रीमहावीर स्वामी ने गौतम से कहा कि तुम अष्टापद पर्वत पर जाओ और भरत के किये हुए विम्व की वंदना करो तो तुम्हें केवल ज्ञान पैदा हो जाय। यह वात वे सूत्र विरुद्ध कहते हैं। जम्बू द्वीप पन्नंती में कहा है कि श्रीऋषभदेव को केवल ज्ञान पैदा हुआ उस समय उनने प्रथम देशना देवता और मनुष्य को सुनाई। वहां कहा है किः—

धम्मं देसमाणे विहरइ तंजहा पुढविकाइए भायणा-गमेणं पंचमहव्वयाइं भावणगाइं

अर्थः—ध-ऐसा धर्म्म दिखाते-प्ररूपते हुए वि-विचरते हैं तं-कहते हैं, पु-पृथ्वीकाय भा-ऐसी भावना के कारण का आचारंग सूत्र का दूसरा श्रुत स्कंध का भावना अध्ययन पं-५ महाव्रत स-पच्चीस भावना सहित।

पंच महाव्रत. वारह व्रत, छःकाया की दया, सलेषणा यह धर्म वताया, यही धर्म श्री महावीर स्वामीने आचांरग सूत्र के दूसरे श्रुत स्कंध के भावना अध्ययन में प्रथम उपदेश में यही दिया।

२—फिर उववाई सूत्र में कौणिक राजा के सामने भी पंच महाव्रत, वारह व्रत, सलेषणा. छः काय की दया,यह धर्म दिखाया पर कहीं भी सिद्धान्त में यात्रा. पूजा,संघ निकालना, पहाड़ पर जाना, प्रतिमा घड़ाना, देहरे बनाने का उपदेश तीर्थं-कर गणधर ने कहीं भी नहीं दिया, तो गौतम को अष्टापद पर चढ़ने को कैसे कहा?

३—कथा प्रचलित है कि श्रेणिक राजा के नरक में न जाने के चार बोल (उपाय) फरमाये (१) कालु कसाई भैंसा न मारे (२) कपीला दासी साधु को दान दे (३) पुणिया श्रावक सामायिक वेचे (४) तू नौकारसी मात्र के प्रत्याख्यान करे तो नरक में न जाय। पर अष्टापद शत्रुंजय यात्रा करना न वताया।

४-शालिभद्र ने संयम लिया पर कितने धन से देहरे वना-ए, संघ निकाले. यह उपदेश न दिया।

५-प्रदेशी राजा ने अपनी इच्छा से दान शाला प्रारंभ की पर केशी स्वामी ने देहरे बनाने, प्रतिमा घड़ाने या संघ निकालने का उपदेश नही दिया।

६-कौणिक राजा को भी ऐसा उपदेश भगवान् ने नहीं दिया।

७-द्वारका जलने का प्रस्ताव सुनकर भी नेमनाथ ने कृष्ण को देहरे बनाने, प्रतिमा पूजने का उपदेश नहीं दिया, तो गौतम को यात्रा जाने के लिये कैसे कहा होगा?

८-उत्तराध्ययन सूत्र के १० वें अध्याय की अट्ठावीसवीं गाथा मे कहा है किः—

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो; कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेह वज्जिए, समयं गोयम मापमायए॥ २८॥

अर्थः-वो-निवारण कर, सी-स्नेह राग को, अ-आत्मा को कु-कमल की तरह, सा-शरद् ऋतु का, पा-पानीको त्याग कमल ऊंचा रहता है वैसे ही तू भी से-उन स-सब सी-स्नेह रहित स-समय मात्र भी गो-हे गौतम! मा-मत हो प्रमादी (प्रमाद मत कर)॥ २८॥

इसमें कहा है कि अपने में बहुत समय से स्नेह है, तो तू इसे हटा तो तुझे केवल ज्ञान पैदा हो पर यात्रा जाने की नहीं कहा।

८-फिर भगवती शतक १४ वें उद्देशे सातवें में कहा है कि-

रायगिहे जाव परिसा पड़िगया गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी चिरसं

सिट्ठोसि मे गोयमा चिरसंथुतोसि मे गोयमा चिरपरि चीतोसि मे गोयमा चिरजूसिओसि मे गोयमा चिराणु गओसि मे गोयमा चिराणुवत्तीसि मे गोयमा अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे किंपरं मरणकार्यस्स भेदा इत्तो चुयादो वितुल्ला एगट्ठा अविसेसमणापत्ता भविस्सामो।

अर्थः—रा-राज्यगृह नगर में भगवंत श्री महावीर स्वामी गौतम को केवल ज्ञान की प्राप्ति न होने से स्वदया ला गौतम को आश्वासन देने के लिये निमंत्रित कर अपनी और गौतम की होनहार तुलना दिखाते हुए कहते हैं कि हे गौतम ! हम और तुम अतीत काल से स्नेह संबंध से बंधे हैं, हे गौतम ! वहुत काल से तुझ से मेरा संवंध है। हे गौतम ! वहुत समय से तुझसे मेरा परिचय है, हे गौतम ! वहुत समय से चिर-काल से हम सेवक, सेव्य ज्यों रहे हैं। हे गौतम ! चिरकाल से तू मेरा अनुयायी है, हे गौतम ! वहुत समय से मेरे भावों का तू आदर करता आया है। हे गौतम ! वहुत समय तक देवलोक में और असंख्य समय मनुष्य भव मे अर्थात् त्रिपद वासुदेव के भव में हे गौतम ! तेरा जीव मेरा सारथी था, अधिक क्या कहूं यहां से दोनों चवकर समान होंगे। यहां जीव द्रव्य दोनों के एक ही अर्थ का प्रयोजन है। दोनों को अनंत सुख मिलेगा। लघुपन और वड़प्पन मिटेगा और दोनों समान ज्ञानवान् होंगे, इत्यर्थ।

ऐसा कहाकि, हे गौतम ! तुझसे मेरा वहुत भव से स्नेह है यहां से दोनों चवकर मुक्ति जावेंगे और दोनों समान होंगे।

पर सूत्र पाठ में अष्टापद जाने की नही कहा, इसकी टीका

में अष्टापद जाने का उल्लेख है और टीका मूल सूत्र के पाठ का अर्थ है जिसमें यात्रा जाना सिद्ध किया है तो वह किस मूल पाठ से ऐसा अर्थ लिया है वह दिखावें। जब पाठ में यात्रा जाने का नाम नहीं तो टीका में कहां से आया ?

६-हिंसा धर्मी कहते हैं कि सूर्य की किरणें पकड़ कर उसके सहारे अष्टापद पर्वत पर चढ़े। ऐसा कहना झूठ है, क्योंकि किरण के पुद्गल विस्सेसाइया हैं। उत्तराध्ययन अट्ठावीसवें गाथा बारहवीं में कहा है वह लिखते हैं।

सद्दन्धयार उज्जोओ, पभा छाया तवो इवा ॥
वण्ण गंध रस फासा, पुग्गलाणंतु लक्खणं ॥ १२ ॥

अर्थः—स-सूक्ष्म २ शब्द अहंकार, उ—उद्योत रत्नादि का, प—प्रभाकांति चंद्रादि की, छ—छाया शीतल, आ-आतप सूर्यादि की उष्ण ताप, अ-ये कहे वे सब, व- वर्ण १२ गं गंध ८ र-रस ३ फा-स्पर्श १७ पु-पुद्गलास्थि कायके ल ये २७ लक्षण समझना चाहिये ये छः द्रव्य गुण के लक्षण कहे हैं।

किरण ताप के पुद्गल को कोई देवता भी पकड़ने में समर्थ नहीं। जिस प्रकार कि कोई पानी की धारा को पकड़ कर नहीं चढ़ सकता।

१० समवायांग सूत्र में कहा है किः-जंघाचारण साधु रतन प्रभा से।

सतरस्स जोयण सहस्साइं उड्ढ उप्पातित्ता तओ पच्छा
चारणाणं तिरियगई यावत्तती ।

अर्थः-सत्रह हजार योजन ऊंचे जाकर फिर तिरछी गति करते हैं पर जंघाचरण जैसे साधु भी सूर्य की किरण पकड़ने का साम-

र्थ्य नहीं रखते तो जो किरण पकड़ कर चढ़े ऐसा कहते हैं वे केवल झूंठ बोलते हैं।

११-अट्ठाईस लब्धी के नाम कहते हैं।

१ आमोसही २ विप्पोसही ३ खेलोसही ४ जलोसही ५ सव्वोसही ६ संभिन्नसोतीया ७ अवधिनाणी ८ ऋजु-मति ९ विपुलमति १० चारण ११ आसीविप १२ केवल १३ गणधर १४ पूर्वधर १५ अरिहंत १६ चक्रवर्त्ती १७ वलदेव १८ वासुदेव १९ खीरासवा महुयासवा सप्पि-यासवा अमियासवा २० बीज वुद्धि २१ कोट्ठवुद्धि २२ पादानुसारिणी २३ तेजोलेश्या २४ शितललेश्या २५ आ-हरिक २६ वैक्रीय २७ अखीणमाणसी २८ पुलाक

ये अट्ठावीस लब्धी के नाम हैं इनमें सूर्य किरण पकड़ कर चढ़ाने वाली कौन सी लब्धी है ?

१२-भगवती सूत्र में कहा है। कोई अणगार लब्धी फोड़े तो प्रायश्चित् लगता है, प्रायश्चित् लिये विना वह काल कर जाय तो विराधिक होता है, फिर शतक वीसवें उद्देशे तथा अन्य कई जगह लब्धी फोड़ने वाले के लिये प्रायश्चित् कहा है, जो वात विराधिक हो उसका उपदेश भगवंत गौतम को कैसे दे ? अगर कहते ही हो कि विना किरण पकड़े चढ़ नही सकते तो पंद्रह सो तपस्वी क्यों वैठे रहे ? तथा गौतम के साधु किस प्रकार चढ़े ? सव तो लब्धी धारी नही थे ?

१३-हिंसा धर्मी कहते हैं कि पंद्रहसो तपस्वी केवली हुए यह भी सूत्र विरुद्ध है। सिद्धांत भगवती शतक पांचवें उद्देशे चौथे में कहा हैं कि सातवें देवलोक के देवता ने भगवंत के पास आकर पूछा कि हे भगवंत ! आपके कितने साधु केवल प्राप्त कर मुक्ति जावेगे ? तब भगवंत ने कहा कि–

ममं सत्तं अंतेवासि सयाइं सिज्झिहिंति।

मेरे सातसो केवली मुक्ति जावेंगे पर अधिक नही कहे। इसके सिवाय कल्पसूत्र मे भी भगवंत की ७०० केवली की सम्पदा दिखाई है।

१४- कदाचित् हिंसा धर्मी कहें कि ये पंद्रहसो तो गौतम की सम्पदा मे थे। इसलिये उन सातसो में इनको नहीं गिने तो यह कहना भी इनका झूठ है, क्योंकि जगह २ सिद्धांत मे गौतम के पांचसो शिष्य कहे है और कल्प सूत्र में भी गौतम और सौधर्म स्वामी के ५०० शिष्य कहे हैं।

१५--कृत्रिम वस्तु की स्थिति भगवति सूत्र में संख्याते काल की कही है। तो फिर भरत के भराये हुए विम्ब श्रीमहावीर के समय तक कैसे रह सकते हैं? और गौतम कैसे वंदन कर सकते हैं? विचार करियेगा।

११ नमोत्थुणं का पाठ और सूत्र की साक्षी.

हिंसा धर्मी नमोत्थुणं कहते है तब अंत में

जिय भयाणं। जे अ अ ई आ सिद्धा॥ जे अभविस्संतणा गएकाले॥ संपइ अवइमाणा॥ सव्वे तिविहेणं वंदामि॥ १॥

अर्थः- जी सात प्रकार के भय रहित जे-जो भूतकाल मे तीर्थंकर हो सिद्ध पद पाये, जे-जो भविष्य काल में तीर्थंकर पद पा सिद्ध पद प्राप्त करेंगे, सं-वर्तमान काल में जो सिद्ध होते हैं अर्थात् वर्तमान में जो महा विदेह में छद्मस्थ विचर रहे हैं उन सबसे ति मन, वचन, काया से त्रिविधि सहित, वं-मैं वंदना करता हूं॥ १॥

इतना अधिक पाठ कहते हैं यह भी सूत्र विरुद्ध है। भविष्य काल के तीर्थंकर अगर अव्रती, अप्रत्याख्यानी चारों गति मे हों तो वे कैसे नमस्कार के योग्य हुए? अगर मानलो कि भविष्य में जो तीर्थंकर होने वाले हैं उन्हे वंदना करते हैं तो गुण रहित द्रव्य निक्षेप को वंदना हुई पर ऐसा नहीं हो सकता जगह २ सिद्धांत में इन्द्र ने नमोत्थुणं दिये। उववाई में राजा कौणिक ने दिये। अंबड के शिष्यों ने दिये। रायपसेणी मे सूर्याभ ने दिये। रायपसेणी में राजा परदेशी ने दिये। भगवती में खंधक ने दिये। ज्ञाता में अर्णक श्रावक ने दिये। यों अनेक स्थानों पर नमोत्थुणं कहे हैं। वहां सिद्ध को नमोत्थुणं दिया है तो अंतिम पद ठाणं संपत्ताणं कहा है और अरिहंत को नमोत्थुणं दिया है वहां अंत में "ठाणं संपाविओ काम्मस्स" कहा है। शेष पद किसी सूत्र में नही कहे। इस लिये ये पद बढ़ाये गये हैं।

फिर हिंसाधर्मी कहते हैं, कि नमोत्थुणं तो इंद्र के कहे हुए हैं। सिद्धांत तो गणधर के मुख विना नहीं कहे जाते। ऋषभदेव गर्भ में आये तब इंद्र ने अपने मन से नहीं जोड़ा। पूर्व भव के समदृष्टि साधु, पण्डित मरण कर इंद्र पैदा हुए वे केवल नमोत्थुणं ही क्या बहुत सी बातों के ज्ञाता थे। तथा महा विदेह क्षेत्र में शास्वते नमोत्थुणं हैं या नहीं? देखो, जहां विद्यमान जिनराज हैं वहां अंत में कामस्स पद है शेष पद नहीं। इतने नये पद क्यों जोड़े?

चार निक्षेपा की जानकारी

हिंसाधर्मी कहते है कि चार निक्षेपों का सूत्र में वर्णन है। १ नाम निक्षेपा २ स्थापना निक्षेपा ३ द्रव्य निक्षेपा ४ भाव

निक्षेपा। इसलिये हम स्थापना निक्षेपा मानते हैं। यह उनका कथन सूत्र विरुद्ध है।

श्री अनुयोग द्वार सूत्र में ४ निक्षेपा कहे हैं यह तो सत्य है पर चारों ही निक्षेपा वंदनीक नहीं कहे। एक भाव निक्षेपा वंदनीक कहा है।

नाम जिण जिणनामा॥ ठवणा निक्खेओ जिणंदपडिमाओ॥
दव्व जिणजिण सरीर॥ भाव जिणाजिण अरिहंता॥ १॥

ये चार निक्षेपों का स्वरूप है। अब चारों निक्षेपों का अर्थ विस्तार पूर्वक कहते है। अनुयोग द्वार में प्रथम चार निक्षेपा आवश्यक पर घटाये है। फिर सूत्र शब्द पर घटित किये हैं। फिर स्कंध शब्द पर दिखाये है। फिर जगत् की समस्त वस्तु पर घटित करने का कथन कर यह विषय पूर्ण किया है। उसी मुआफिक—

१ अरिहंत शब्द के चार निक्षेपा कहते हैं।

१ नाम अरिहंत २ स्थापना अरिहंत ३ द्रव्य अरिहंत ४ भाव अरिहंत.

१ यहां नाम अरिहंत का तात्पर्य माता पिता के दिये हुए नाम ऋषभ, शांति, नेमि, वीर, वर्धमान, जिनदत्त, जिन रक्षक जिन पालक इस प्रकार अरिहंत के नाम से नाम दिये जैसे अर्हित समणोवासी इत्यादि नाम। अरिहंत नाम के सदृश नाम होने से नाम अरिहंत, पर अरिहंत के गुण नहीं। इसलिये अवंदनीय हैं।

२ स्थापना अरिहंत अर्थात् अरिहंत के सदृश शरीर का स्वरूप बनाया। काष्ट, पाषाण, मिट्टी, चित्र, कपड़े, पीतल, धातु

प्रभृति में अरिहंत का भाव दिखाया, पर अरिहंत के गुण नहीं इसलिये अवंदनीक है। जिस प्रकार मल्लीनाथ स्वामीने अपनी मूर्ति कराई तथा ऋषभानना २ वर्धमाना ३ चंद्रानना ४ वारीषेणा पर्वत देवलोक पर शाश्वती कही हैं। पर गुण रहित होने से अपूज्य हैं।

३ द्रव्य अरिहंत के पांच भेद। १ जाणग शरीर द्रव्य अरिहंत २ भावी शरीर द्रव्य अरिहंत ३ लौकिक द्रव्य अरिहंत ४ कुप्रावचनीक द्रव्य अरिहंत ५ लोकोत्तर द्रव्य अरिहंत नाम स्थापना अरिहंत का अर्थ सरल ही है।

१ श्री अरिहंत देव मुक्तिगए उनका शरीर पड़ा है वह शरीर जाणग शरीर अरिहंत कहाजाता है। जैसे यह घृत का घड़ा था।

२ तथा गृहवास में रहते अरिहंत अभी तक अरिहंत के गुण सहित नही हुए आगे होगे वे भावी शरीर द्रव्य अरिहंत जैसे यह घृत का घड़ा होगा, पर अभी तक नहीं हुवा।

३ तथा लौकिक द्रव्य अरिहंत, जिन्होंने शत्रु आदि जीते, वे चक्री वासुदेव, राजादि.

४ तथा कुप्रावचनीक. द्रव्य से अरिहंत, जो चौंतीस अतिशय रहित हो और देव नाम से कहे जाते हों, जैसे हरि. हर, ब्रह्मादि.

५ तथा लोकोत्तर द्रव्य अरिहंत. गौशाला आदि जिन शासन में केवल ज्ञान विना अरिहंत कहलाये, वे लोकोत्तर द्रव्य अरिहंत, ये पांच भेद द्रव्य अरिहंत निक्षेपा के कहे।

४ भाव अरिहंत, जो लोकोत्तर पक्ष में केवल ज्ञानादि सर्व गुण सम्पन्न विचरते हैं वे वंदनीक पूजने योग्य हैं, ये अरिहंत पद के चार निक्षेपा कहे।

२ अब गुरु आचार्य पद के चार निक्षेपा कहते हैं।

१ नाम आचार्य २ स्थापना आचार्य ३ द्रव्य आचार्य ४ भाव आचार्य।

१ नाम आचार्य-किसी जीव या अजीव का नाम आचार्य दिया वह नाम आचार्य।

२ स्थापना आचार्य–काष्ट, पाषाण, पीतल, चित्र, कपड़े के आचार्य बनाकर मानें वे स्थापनाचार्य, यह नाम स्थापनाचार्य है पर गुण रहित होने से अवंदनीक हैं।

३ द्रव्य आचार्य के पांच भेद १ जाणग शरीर द्रव्य आचार्य २ भावी शरीर द्रव्य आचार्य ३ लौकिक द्रव्य आचार्य ४ कुप्रावचनीक द्रव्य आचार्य ५ लोकोत्तर द्रव्य आचार्य, ये पांच भेद अब उनका स्वरूप दिखाते हैं।

१ कही गुणवंत गुरु ने काल किया उनका शरीर पड़ा है वह शरीर नाम जाणग शरीर द्रव्य आचार्य कहलाता है। जैसे यह पहले घृत का घड़ा था।

२ यह शरीर बहुत समय बाद आचार्य पद पावेगा. पर अभीतक पाया नही, इस लिये भावी शरीर द्रव्य आचार्य जैसे यह घृत का घड़ा बनेगा।

३ लोगो को ७२ कला सिखावें वे लौकिक द्रव्य आचार्य,

४ तीनसो तिरसठ ३६३ पाखंडियों के गुरु वे कुप्रावचनीक द्रव्य आचार्य।

५ जिन मार्ग में हीनाचारी, छःकाय जीव की दया न पालनेवाले, पंच महाव्रत रहित, आधा कर्मी आदि दस दोष लगा कर आहार भोगे, उपाश्रय सेवे. वे लोकोत्तर द्रव्य आचार्य ये पांच द्रव्य आचार्य कहे पर गुण विना अपूज्य है।

४ भावी आचार्य—जो लोकोत्तर पर्ज के साधु हैं, सत्ता-

वीस गुण सहित, गौतम, जम्बू सौधर्मादि भावी आचार्य, गुण-वंत वंदनीक है, ये गुरु आचार्य के चार निक्षेपे कहे।

३ अब धर्म शब्द के चार निक्षेपा कहते हैं।

१ नाम धर्म २ स्थापना धर्म ३ द्रव्य धर्म ४ भाव धर्म। उनका विस्तार

१ नाम धर्म—किसी जीव अजीव का नाम धर्म, धर्मदास, धर्मचंद, धर्मसी, नाम दिया, यह नाम धर्म अवंदनीक है।

२ स्थापना धर्म—यह धर्मवंत के आकार सा काष्ट, पाषाण, धातु, चित्र, कपड़े आदि का वनाया हुआ स्थापना धर्म गुण विना अपूज्य।

३ द्रव्य धर्म के पांच भेद— १ जाणग शरीर द्रव्य धर्म २ भावी शरीर द्रव्य धर्म ३ लौकिक द्रव्य धर्म ४ कुप्रावचनीक द्रव्य धर्म ५ लोकोत्तर द्रव्य धर्म।

१-धर्मवंत का शरीर विना जीव के पड़ा है, वह जाणग शरीर द्रव्य धर्म जैसे यह घी का घड़ा था।

२-इसका शरीर भविष्य में धर्म के गुण प्राप्त करेगा, अभीतक प्राप्त नहीं किये हैं। यह भावी शरीर द्रव्य धर्म जैसे यह घृत का घड़ा वनेगा, अभीतक नहीं वना है।

३-लौकिक द्रव्य धर्मः-ग्राम, नगर, देश, न्यात, जात, कुल, जीतादि आचार पालते है, वह लौकिक द्रव्य धर्म।

४-कुप्रावचनीक द्रव्य धर्म-तीनसो त्रेसठ पाखंड के मत, दान धर्म, सुची धर्म, यात्रा स्नान श्राद्ध, जागरणा, होम, देव, देवी के देहरे इत्यादि कुप्रावचनीक द्रव्य धर्म।

५-लोकोत्तर द्रव्य धर्म गौशाला का मत, जमालीजी का

मत, उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, पर्वादि पर छः काय की रक्षा में धर्म माने वह।

४ भाव धर्म के दो भेद (१) श्रुत धर्म ज्ञान दर्शन रूप. (२) चारित्र धर्म व्रती तप रूप साधु और श्रावक का आचार, आरंभ परिग्रह रहित विषय कषाय रहित यह भाव धर्म लोकोत्तर यह वंदनीक, पूज्य है।

ये देव, गुरु, धर्म के चार निक्षेपे कहे, इसी प्रकार समस्त आवश्यक प्रभृति बहुत से पदार्थों के चार निक्षेपों का वर्णन श्री अनुयोगद्वार सूत्र में किया है। इनमें एक भाव निक्षेपा लोकोत्तर पक्ष का पूज्य है। शेष सब अपूज्य समझना चाहिये।

१ अब कोई हिंसाधर्मी तर्क करेंगे कि तीर्थंकर के चारों ही निक्षेपे पूज्य हैं. इसलिये हम उनको पूज्य समझ वंदना करते हैं। उनको हम उत्तर देते हैं कि जो तीर्थंकर के नाम निक्षेपों को तुम पूज्य समझते हो तो तीर्थंकर के नाम के अनेक पुरुष हैं। ऋषभ, शांति, नेमी, वीर, वर्धमान आदिके तीर्थंकर के नाम पे नाम होने से क्यों नहीं पूजते ? तब हिंसा धर्मी कहेंगे कि लोगस्स में चौवीस तीर्थंकर के नाम लिये हैं उस नाम निक्षेपा को पूजते हैं. उत्तर, लोगस्स में जो २४ तीर्थंकरों के नाम हैं वे नाम संज्ञा है. नाम निक्षेपा नहीं। अनुयोग द्वार में कहा है किः—

नामाणि जाणि काणिय ॥ दव्वाण गुणाण पज्जवाणं च।
तेसिं आगम निहसे ॥ नामेति परूविया सन्ना ॥

अर्थः—ना—नाम, जा—जो कोई, द—जीव अजीव द्रव्य के, गु-ज्ञानादिक अनेक रूपादि के गुण के, प-नारकादि अनेक कृष्ण पर्णादि नाम जीव के. नाम जीव--जंतु. आत्मा. प्राणी

इत्यादि आकाश नाम आकाश नभ तारा, पथ, व्योम, अंबर इत्यादि गुणनाम ज्ञान, बुद्धि, बोध तथा रूप, रस, गंध, स्पर्श, इत्यादि तथा पर्याय नाम नारकी तिर्यंच मनुष्य देव तथा एक गुण कृष्ण इत्यादि आ-आगम ज्ञान रूपी कसोटी में नाम पद्वी संज्ञा रूपी जैसे सोना, चांदी की कसोटी पे परीक्षा ले वैसे ही सोना, रुपया सरीखी जीव पदार्थ की पहचान कर नामादि का ज्ञान करले यह कसोटी है।

लोगस्स मे नाम है वे तो मुक्त हुए वे भाव सिद्धनिक्षेपा मे आगये, यह नाम निक्षेपा नही है। तीर्थंकर के नाम अन्य वस्तु में मिलें। उस वस्तु का नाम तीर्थंकर के नाम से पुकारा जाय उसको नाम निक्षेपा कहते हैं। इसलिये तुम्हारे मतानुसार जिन नाम के जितने पुरुष हों वे सव तुम्हारे पूजनीक होने चाहिये। उन्हें क्यों नही पूजते ? जव चौवीस जिनराज विचरते थे तव भी नाम तो यही थे. पर नाम निक्षेपा न था साक्षात् भाव निक्षेपा था. ऋषभादिक का नाम ऋषभादि यह नाम निक्षेपा नही पर नाम संज्ञा है, जो अन्यों का नाम ऋषभादि हो तो उसे नाम निक्षेपा कहते हैं, तो तुम उन्हें क्यो नहीं पूजते ?

२ तुम स्थापना निक्षेपा मानते हो इसकी चर्चा आगे करेंगे पहिले द्रव्य निक्षेपा का वर्णन करते है !

१ तुम कहते हो कि भरतेश्वर ने त्रिदंडिये को चरम तीर्थंकर होने वाला समझ वंदना की, तो यह द्रव्य निक्षेपा हुआ। पर यह वात सिद्धान्त में कहीं नहीं है, सिद्धान्त में अंतगढ़ सूत्र के पांचवें वर्ग में श्रीकृष्ण से नेमनाथ स्वामी ने फ़रमाया कि

एवं खलु तुम्हें देवाणुप्पिया तच्चाओ पुढविओ उज्जलित्तए नरयाओ अणंतरं उवट्टित्ता इहेव जंबूद्वीवे २

भारहेवासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए पुंडेसु जणवएसु सत-दुवारे नयरे वारसमो अममो नामं अरहा भविस्सइ तत्थ तुम्हं बहुइं वासाइं केवलीपरियागं पाउणित्ता सिज्झिहिस्सि तएणं से कन्हे वासुदेवे अरहओ अरिट्ठनेमी अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठ तुट्ठे अफोडेइ २ त्ताग वगाइ २ त्ता छुदेइ २ त्ता सिंहनायं करेइ २ त्ता ।

अर्थः—ए-इस प्रकार, ख-निश्चित, तु-तुम, दे-देवानु प्रिय, त-तीसरी, पु-पृथ्वी, उ-उज्वल, न नरक से, अ-अंतर विना, उ-निकल कर, इ-यही, जं- जम्बू द्वीप में, भ-भरतक्षेत्र में आ-आगतकाल की उ-उत्सर्पणी काल में पुं-पुंड, ज-देश में, स-सयद्वार, न-नगर में, वा-वारहवे, अ-अमम, ना-नामक, अ-अरिहंत, भ-होओगे, त-वहां, तु-तुम, व-वहुत, वा-वर्ष, पर्य्यंत के, केवल प-पर्याय. पा-पालकर, सि-सर्व कार्य सिद्ध करोगे मुक्ति जाओगे, त-तव, से-वे, कृ-कृष्ण, वा वासुदेव, अ-अरि-हंत. अ-अरिष्ठनेमी के, अं-पास, अ-शंखनाद किया । हर्ष पूर्वक त्रि-तीन फलांग उछल २ कर, सिं-सिंहनाद कर करके ।

हे कृष्ण, तुम वारहवें जिन होओगे ऐसा कहा । यह सुन कर श्रीकृष्ण खुशी हुए, नाचे, कूदे । तीन फलांग ऊंचे उछले सिंहनाद किया । अपने मन में वहुत आनंदित हुए, पर जिन द्रव्य समझकर किसी गणधर साधु या भावक एवं देवादि ने वंदना न की । प्रशंसा न की । तो द्रव्य निक्षेपा वंदनीक कैसे हो सक्ता है ?

२ फिर ठाणांग सूत्र के नववें ठाणे में श्री महावीर स्वामी ने सभा में कहा कि श्रेणिक राजा मेरे समान प्रथम जिनराज

होगा। आयुष्य अवगहना, परिवार, प्ररूपणा मुझ सरीखी करेगा। पर उस समय भी किसी साधु, श्रावक, गणधर, देवता ते वंदना न की तो फिर द्रव्य निक्षेपा वंदनीक कैसे हो सक्ता है?

३ फिर ज्ञाता अध्ययन आठवें अरणक श्रावक मिथिला नगरी गए। कुंभ राजा को कुंडल का जोड़ा भेंट किया। पर अंतेउर में जाकर मल्लीनाथ स्वामी जो तीन ज्ञान, क्षायक सम्यकत्व सहित चौंसठ इन्द्रों के पूजनीक थे और वे उन्हें जानते थे तो वे द्रव्य निक्षेपा वंदने क्यों नही गये? तथा किसी के साथ वंदना भी क्यों नहीं कहलाई? तथा कुंडल जिन समझ कर भेंट क्यों न किये? तो द्रव्य निक्षेपा वंदनीक कैसे हुवा?

४ जब छः राजा मोहन घर में आये। वहां मल्लीनाथ स्वामी को साक्षात् जिन समझे। स्वयं को जाति स्मरण ज्ञान पैदा करानेवाले समझे पर वंदना क्यों नही की? तो द्रव्य निक्षेपा वंदनीक कैसे हो सक्ता है?

५ मल्लीनाथ स्वामी की प्रतिमा को स्थापना निक्षेप समझ और अपने जाति स्मरण तथा चारित्र का प्रत्यक्ष कारण समझ क्यों न वंदना की? तो स्थापना निक्षेप किस प्रकार वंदनीक हो सक्ता है?

६ समवायांग में वर्तमान चौवीस जिनराज भाव निक्षेपा के धणी जिनके नाम गणधर ने लिये वहां कहाः—

उसभमाजियं च वंदे जिणं च चंदं पहं वंदे धम्मं संतिंच वंदामि वंदे मुनिसुव्वयं नेमिं जिणं च वंदामि।

अर्थः—उ–ऋषभदेव स्वामी, म–अजितनाथ स्वामी, वं–वंदन करता हूं, जि–रागद्वेष के जीतनेवाले, च–फिर, चं–चंद्रप्रभु स्वामी, वं–वंदना करता हूं, ध–धर्मनाथ स्वामी, स–शांतिनाथ स्वामी, च फिर वं–वंदता हूं.

यहां "वंदे" शब्द कहा और भविष्य में जो चौवीस जिन राज होनेवाले हैं श्रेणिक कृष्णादिक जीव उनके नाम ही कहे पर वंदे शब्द नहीं कहा। अभी तक अव्रती अप्रत्याख्यानी हैं, इसलिये द्रव्य निक्षेप वंदनीक कैसे हो सकता है ?

७ भगवती शतक नववें उद्देशे छत्तीसवें में गांगेय अणगार ने श्री महावीर स्वामी को द्रव्य जिन समझे वहां तक नमस्कार नहीं किया। फिर भंगजाल पूछ संदेह मिटाया, साक्षात् भाव निक्षेप केवली जाने तब वंदना की। वह पाठ लिखते हैं।

तुप्पभिइंचणं से गंगेय अणगारे समणं भगवं महावीर पच्चभि जाणइ सव्वण्णु सव्वदरिसी॥

अर्थः-त-उस समय भगवंत ने अनंतरोक्त कहा। उस समय गंगेय अणगार भगवंत श्री महावीर स्वामी को समझे कि ये सब वस्तु के ज्ञाता, सब वस्तु के देखने वाले हैं

तो द्रव्य निक्षेपा वंदनीक कैसे हुवा ?

८ जब तक तीर्थंकर गृहवास में रहते हों, छः काय के आरंभ करते हों वहां तक साधु, श्रावक उन्हें नमकार नहीं करते क्योंकि वे अव्रती हैं तो फिर द्रव्य निक्षेप को नमस्कार कैसे कर सक्ते हैं ?

९ देखो, जब कि द्रव्य निक्षेपा में तीन ज्ञान क्षायक सम्यक्त्व कितने ही अतिशय हैं तो भी उन्हें साधु, श्रावक नहीं वंदते तो स्थापना निक्षेप में ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि एक भी गुण नहीं रहता फिर वह कैसे वंदनीक हो सकता है ? तथा द्रव्य गुरु द्रव्य निक्षेपा में विचरते हैं उन्हें भी सिद्धान्त में अवंदनीक कहे हैं।

१ उपासक दशांग में सातवें अध्ययन में सकडाल कुंभार समकित पाये। फिर साधु के भेष में गौशाला को अपने घर आते देख भी वंदना न की। लिंग साधु का है पर गुण नहीं।

२ सीलंग राज ऋषि के चारसो ६६ शिष्य गुरु का आचार शिथिल समझ त्याग गये, पर द्रव्य गुरु समझ पास न रहे।

३ जमाली के साधु जमाली को मिथ्यात्वी समझ द्रव्य गुरु को त्याग भाव गुरु श्रीमहावीर स्वामी के पास आये।

४ गौशाला ने भगवंत के वहां तेजु लेशा छोड़ी, यह देख कर गौशाला के शिष्य द्रव्य निक्षेपा के गुरु गौशाला को छोड़ भगवंत के पास आगए तो द्रव्य निक्षेपा के गुरु वंदनीक कैसे हो सक्ते हैं?

५ साधु चारित्री साधुके भेष में हों पर आरंभ, परिग्रह विषय, कषाय सेवते हों तो साधु श्रावक उन्हें नही वंदते। फिर द्रव्य निक्षेपा वंदनीक कैसे हो सक्ता है? इसी प्रकार अनेक सूत्र की साक्ष हैं। भाव निक्षेप के सिवाय सब अवंदनीक हैं, जो द्रव्य निक्षेप गुण विना अवंदनीक है तो स्थापना निक्षेप निर्गुण कैसे वंदनीक हो सकता है?

१० जिस प्रकार पत्थर के लड्डू स्थापना लड्डू की कर खाने वैठे पर भूख न लगे, स्वाद न आवे, इसी प्रकार पत्थर के घोड़े, नर, नारी वनस्पति जितनी भी वस्तु स्थापना रूप वनावे उनसे कुछ भी ग़रज़ (मतलव) नहीं निकल सक्ती, माता के स्थान पर माता की स्थापना, भरतार के अभाव में पति की स्थापना करे पर वालक के दूध की आवश्यकता न मिटे, स्त्री भोग की चाहना न जाय। इसी प्रकार एक पत्थर के तीन टुकड़े किये। एक की गाय वनाई, एक का वाघ वनाया और एक से देवता वनाये। गाय दूध देवे नहीं, वाघ आवाज दे नहीं और देव तार सके नहीं, तो स्थापना निक्षेप कथन मात्र है, पर गुण रहित होने से गरज नहीं मिटा सक्ता, यह विचारणीय है।

११ तथा हिंसा धर्मी कहते हैं कि तुम द्रव्य निक्षेप को अवंदनीक कहते हो पर सूत्र तो देखो। गर्भ में रहे हुए तीर्थंकर तथा तीर्थंकर के मृतक शरीर को इन्द्र ने वंदना की है तो अवंदनीक कैसे हो सक्ता है? उत्तरः-जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में छप्पन दिशा कुमारी जन्मोत्सव के लिये आई वहां जात आचार कहा है। वह पाठ लिखते हैं।

उप्पणे खलु भो जंम्बूद्दीवे २ भगवं तित्थयरे तंजीयमेयं तीयपच्चुप्पन्न मणागयाणं अहोलोग वत्थव्वाणं अट्ठएहं दिसाकुमारी महत्तारियाणं भगवओ तित्थयरस्स जम्मण महिमं करित्तए.

अर्थः—उ-उत्पन्न हुए, ख-निश्चय, भो-हुए आमंत्रित, जं-जम्बू द्वीप नामक द्वीप में, भ-भगवंत, ति-तीर्थंकर, तं-उनके लिये, जी-जीत आचार है, ए-यह, अ बहुत समय से हुआ, प-वर्तमान काल में होरहा है, अ-भविष्य काल में होगा, अ-अर्द्धलोक की, व-वसनेवाली, अ आठ दिसा कुमारी, म-मोटी ऋद्धिकी स्वामिन् भगवंत तीर्थंकर का, ज-जन्म महोत्सव महिमा, क-करने का आचार है।

ऐसा सब इंद्रोंने भी सोचा। फिर ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण समय भी इन्द्र ने यही सोचा, उसका पाठ।

इसी सूत्र मेंः—

परिनिव्वुए खलु जंबुद्दीवे २ भारहे वासे उसहे अरहा कोसालिए तं जीयमेयंतिय प्पच्चुप्पन्न मणाग याणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थयराणं परितिव्वाणं महिमं करित्तए.

अर्थः—प-परिनिवृत मोक्ष पहुंचने पर, ख-निश्चय, जं-

जम्बू द्वीप नामक द्वीप में, भ-भरत क्षेत्र मे, उ-ऋषभदेव स्वामी, अ-अरिहंत को. कोसलीक तं-उनके लिये, जीत आचार है, अ-इस तरह भूत, प-वर्तमान अ-भविष्य काल के, स-सौधर्मेन्द्र, दे-देवता के इन्द्र, दे-देवता के राजा हुए. तीर्थंकर का. प-परिनिर्वाया, म-महिमा करे।

ऐसा सब इंद्रों ने सोचा, यह व्यवहारिक कार्य हुआ, पर द्रव्य निक्षेपा की भक्ति निर्जरा हेतु न हुई । जो निर्जरा हेतु होती तो जित आचार में क्यों लेते ? जैसे अनार्य पुरुष मांस भक्षण धर्म जानकर त्यागे तो उसे धर्म लगे और वैश्य अपने कुलाचार के कारण मांस नहीं खाते तो यह कुछ धर्म नहीं, कुलाचार के कारण त्यागा है, व्रत के लाभ से नहीं। तथा मनुष्य कुशील का त्याग करता है धर्म समझ कर करता है तो धर्म लगता है, अन्न त्यागता है. उपवास करता है तो लाभ होता है पर अनुत्तर वासी देव तेंतीस हजार वर्ष में आहार करते हैं पर उनके लिये एक नवकारसी तक का लाभ नहीं. उनकी यही रीति है । इसलिये जीताचार. कुलाचार धर्म में नहीं गिना जाता, तथा राजा श्रावक समदृष्टि ने श्री भगवंत को वंदना की वहां कुलाचार नहीं कहा. तथा येही भगवंत को भाव पूर्वक नमस्कार करते आये वहां भी कुल व्यवहार नहीं कहा पर देवता नमोत्थुणं कहते है वह भी जीत व्यवहार में ही है। जो देवलोक की प्रतिमा के आगे तथा गर्भ में रहे हुए तीर्थंकर को नमोत्थुणं कहते हैं वे साक्षात् भगवान् को नमस्कार करने आये जब भगवंत को नमोत्थुणं कहते तो क्या पाप लगता था ? पर ऐसा नहीं, यह तो देवता का वैसा ही जीत व्यवहार नजर आता है। वैसे ही तीर्थंकर के मुक्त हुए बाद इन्द्र तीन रूप बनवाते यह

भी उनका जीत व्यवहार है। जो स्तूप वनाते धर्म होता तो कोई राजा या श्रावक क्यों न वनाते ? इसलिये यह समझ लो कि देवता की ऐसी क्रिया जीत व्यवहार में है पर मनुष्य, श्रावक ने कही द्रव्य निक्षेप की वंदना नहीं की। यह खूब मनन कर लेना चाहिये।

१२ हिंसा धर्मी कहते हैं कि स्थापना निक्षेपा में श्री वीतराग गुण नहीं पर हमारे ध्यान पैदा होने का कारण मात्र है। इसलिये वंदना करते हैं। उसका उत्तरः- जो प्रतिमा देखने ही से शुभ ध्यान पैदा होता तो मल्लीनाथ स्वामी का रूप देख कर छः राजाओं को काम व्याप्त क्यों होता ? उप सम भाव तो मल्लीनाथ स्वामी के उपदेश से ही पैदा हुआ है। जो प्रतिमा देखें तो शुभ ध्यान आवे तो कई अनार्य मनुष्य प्रतिमा को खंडित तक कर डालते हैं उन्हें शुभ ध्यान क्यों नहीं पैदा होता ? इसलिये दयाकर द्वेष भाव त्याग कर विचार करो।

---

१३ नमूना देख नाम याद आता है इसका उत्तर.

हिंसा धर्मी कहते हैं कि नमूना देखने से भगवंत का नाम स्मरण हो आता है, इसलिये स्थापना वंदते हैं। इसका उत्तर सूत्र उत्तराध्ययन अठारहवें गाथा ४६ वीं में कहा है किः—

करकंडू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो । नमीराया विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गई ॥ ४६ ॥

अर्थः— क-करकंडू राजा क-कलिंग देश में पं-पंचाल देश में दुः-दुम्मुह राजा न-नमीराजा विदेह देश में प्रतिबोध पाये। गंधार देश में न-निग्गई राजा प्रतिबोध पाये ॥ ४६ ॥

१ करकंडु राजा ने कलिंग देश का राज त्यागा। वृषभ देख कर प्रतिबोध हुआ।

२ दुम्मुख राजा ने पंचाल देश का राज छोड़ा। स्थंभ देख कर प्रतिबोध हुआ।

३ नेमी राजा ने विदेह देश का राज त्यागा। चूड़ी देखकर प्रतिबोध हुआ।

४ निग्गई राजा ने गधार देश का राज त्यागा। आम का वृक्ष देख कर प्रतिबोध हुआ।

५ फिर इक्कीसवें अध्ययन में समुद्रपाल चोर देखकर प्रति· बोध पाया।

ये पांचों पांच पदार्थ देखकर प्रतिबोध पाये पर १ वृषभ २ स्थंभ ३ चूड़ी ४ आम ५ चोर इन्हें अपने जातिस्मरण उत्पन्न करने के कारण उपकारी समझ किसीने १ वृषभ २ स्थंभ ३ चूड़ी ४ आम ५ चोर इनकी पूजा नहीं की तो फिर दूसरे क्यों पूजें? वैराग्य उत्पन्न होने का खास कारण तो अपना २ क्षयो- पशम है, और बाह्य कारण तो अनेक है, भरतेश्वर आरीसा भवन में केवल ज्ञान पाये, तो इसलिये आरीसा के भवन की वंदना न की और पूजा न की। इसलिये बाह्य कारण वंदनीक नहीं। जैसे छः राजा मोहन घरमें आये और मल्लीनाथ की प्रति- मा देख मल्लीनाथ को देखे उनने उन्हें अपने संयम तथा जाति स्मरण ज्ञान के कारण समझ प्रतिनाथ या मल्लीनाथ को वंदना नहीं की। यह सूत्र साख है। इसी प्रकार प्रतिमा को ध्यान का कारण समझ जिनमार्गी वंदना करे तो राजगृही, चम्पा, आलं- बिया, तुंगिया, हस्तिनापुर, द्वारका, वनिता इत्यादि नगरियों के कोट, खाई, चौहट्टे, राजभवन, वैश्या के समूह आदि की प्रशंसा की उनका वर्णन किया। उस नगरीमें बहुत से श्रावक भी रहते थे। राजा भी भगवंत के परम भक्तिवान् थे तो उस

नगरी के देहरो का वर्णन क्यों नहीं किया? यक्ष के देहरे का स्थान २ पर वर्णन किया। तो जिन राज के देहरे क्यों न कहे? तथा भगवंत के अभाव में आनंद शंख, पोखली आदि श्रावकों ने चित्र की प्रतिमा भी न पूजी? आज प्रतिमा पूजाके लिये संघ निकालते हो तो साक्षात् भगवंत वीतराग को वंदना करने के लिये श्रावकों ने संघ क्यों न निकाले? उनके धनकी क्या कमी थी। तथा सुबाहु कुमार ने विपाक सूत्र मे तथा उदाई राजाने भगवती में यह भावना भाई, कि जो भगवंत यहां आवे तो वंदना करूं पर यह भावना न आई कि संघ निकालकर वंदना करने जाऊं तो फिर प्रतिमा पूजन तो दूर ही है।

कितने ही दया के द्वेषी कहते हैं कि प्रतिमा भगवंत का नमूना है यह बात कैसे मिल सक्ती है? उववाई सूत्र में कहा है कि स्थेवर भगवंत कौन है?

अजिणा जिणसंकासा जिणाइव अवित्तहं वागरेमाणा।

अर्थ—अ-परम अ-रागद्वेष जीते नही पर जी-जीते ऐसे जिन वीतराग स-समान हैं जि—जिन वीतराग की तरह अ-सच्चे है वा-उत्तर प्रत्युत्तर करते हुए।

ऐसा साधु का विरद कहा पर प्रतिमा को "अजिणा जि· ण संकासा" कहते हुए परम राग द्वेष जीते नहीं पर जीते ऐसे जिन वीतराग के समान हैं ऐसा नही कहा।

भगवंत ने देवानंदा ब्राह्मणी से कहा "मम अम्मगा" पर कहीं ऐसा नहीं कहा कि "मम पडिमा" तो नमूना किस का हुआ?

नमूना किसे कहते हैं? जहां बहुत सी चीज़ पड़ी हो उस में से थोड़ी सी लेकर दिखाते हैं उसे नमूना कहते हैं। पर वस्तु

का अंतर हो तो नमूना नहीं । जैसे सोने का नमूना सोना पर पीतल नही । आम का नमूना आम पर आक नही । हाथी का नमूना हाथी पर गधा नहीं । स्त्री का नमूना स्त्री पर पुतली नही । रत्न का नमूना रत्न पर कंकर नहीं । ऐसे अनेक दृष्टान्त है । वैसे ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र, गुण सहित साक्षात् वीतराग देव का नमूना वे साधु जिनमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र. आदि गुण हों पर ज्ञानादि गुण रहित प्रतिमा नहीं । साधु का नमूना साधुही है पर गौशाला जमाली मती पासथ्था वेषधारी नि नव नमूना नही गुण राहित है । भेष समान होने से समदृष्टि श्रावक उन्हें वंदना नहीं करते तो वीतराग के गुण रहित वीतराग की प्रतिमा कैसे पूज्य हो सक्ती है ?

---

१४ नमो बंभीए लिवीए कहते हैं. इसका उतर.

हिंसा धर्मी कहते हैं ।कि भगवती के आदि में, नमो बंभीए लिवीए ऐसा पाठ है उसका अर्थ नमस्कार हो ऐसा होता है, उसका उत्तर। ब्राम्ही लिपि के विषय मे वहां इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि अठारह लिपि अक्षर की स्थापना श्री ऋषभदेव स्वामी ने अपनी पुत्री ब्राम्ही को सिखा कर की । इस लिये ऋषभदेव को नमस्कार होओ, अर्थात् लिपि कर्म के सिखाने वाले ही लिपि हुए । जैसे अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है कि, "पाथा" का ज्ञाता "पाथो" कहलाता है वैसेही लिपि के वताने वाले सिखानेवाले को अर्थात् लिपि को नमस्कार हुआ । इस प्रकार भावनय से श्री सौधर्म स्वामीने ऋषभदेव को ही नमस्कार किया । मूल अर्थ तो यही है पर कितने ही। ऐसा कहते हैं कि लिपि विधि अठारह प्रकार की स्थापना को नमस्कार किया। वे सिर्फ स्थापना निक्षेप को ठहराने के लिये ही ऐसा अर्थ करते हैं पर

यह कथन सूत्र विरुद्ध है । वह किस तरह कि जिनागम सिद्धांत वाणी सौधर्म स्वामी के समय में अक्षर रूप में कहां लिखी गई थी ? वीर निर्वाण ६८० वर्ष बाद ज्ञान पुस्तक रूप में लिखागया है तो फिर अक्षर स्थापना की सुधर्म स्वामीने कैसे वंदना की ? अगर भाषा में लिखित स्थापना रूप अक्षर वंदनीक माने जांय तो अठारह लिपि में जितनी भी पुस्तकें लिखी गई वे सब अक्षर मात्र तुम्हें वंदनीक माननी होंगी । कुरान, पुराण वेद, ज्योतिष, वैदिक, विकथा वार्ता, मंत्र, यंत्र, तंत्र, लोक सामुद्रिक, उन्तीस पापसूत्र के अक्षर स्थापनार्थ सब वंदनीय होंगे और जो २६ पाप सूत्र भगवान् ने कहे हैं वे भी तुम्हें पूजनीय समझना होंगे फिर उन्हें वंदना क्यों नहीं करते ? पापसूत्र कहते हो और वंदनीक भी मानते हो, इसका विचार करलो । वंदनीक तो सिर्फ भाव सूत्र जिन वचन द्वादशांगी सिद्धान्त है शेष मत के ग्रंथ अवंदनीक है ।

जंघाचारण विद्याचारण का उत्तर—

हिंसाधर्मी कहते है कि भगवती सूत्र शतक बीसवें उद्देशे नववें में भी जंघाचारण, विद्याचारण साधुने प्रतिमा की वंदना की है, यह भी केवल सफेद झूठ है । सिद्धान्त में कहा है कि, " जंघाचारण, विद्याचारण लब्धि फोड़कर प्रथम मानुष्योत्तर पर्वत पर जायं, फिर नंदीसर आठवें द्वीप जायं, वहां से रुचक द्वीप पंद्रहवें द्वीप में जायं" । यह बात सच्ची है और ठाणांग सूत्र में चौथे ठाणे में मानुष्योत्तर पर्वत के चार दिशा में चार कूट कहे हैं । जहां भवन पति के इंद्रों का आवास है. पर प्रतिमा के कारण सिद्धायतन कूट बिल्कुल ही न कहा । तो प्रतिमा मानुष्योत्तर पर्वत पर कहां से आई ? और वंदना किसे की ? देखो ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे के दूसरे उद्देशे का पाठः—

माणुसुत्तरस्सणं पव्वयस्स चाउद्दिसिं चत्तारिकूडा पन्नता, तंजहा रयणे १ रयणुच्चय २ सव्वरयणाए ३ रयणसंचए ४

अर्थः—मा-मानुष्योत्तर क्षेत्र के, च-चारों ओर, च-चार कु-कूट शिखर, प-हैं, तुं-वे कहते हैं-र-रतनकूट १ र-रतन काचय कूट २, स-सर्व रतनकूट ३, र-रतन संचय कूट ४।

१ इसके अर्थ में भी ऐसाही कहा कि १ आग्नेय कोण में रतनकूट गुरु लेवेणुदेव का आवास स्थान, २ नैऋत्यकोण में रतन काचय कूट (ग्रंथों में जिसका दूसरा नाम वेलंब सुखद भी है) जहां वायुकुमार का वास है। ३ तथा ईशान कोण में सर्व रतन कूट जहां वेणुदाली नामक सुवर्ण कुमार के इंद्र का आवास है तथा वायव्य कोण में रतन संचय कूट जिसका दूसरा नाम प्रभंजन कूट जहां वायुकुमार के इन्द्र का आवास स्थान है। ऐसा भाव द्वीप सागर पन्नति में संग्रहणी गाथा के अनुसार कहा है वैसा यहां लिखा है, वहां चार कूट चार दिशामें कहे हैं पर किसी ग्रंथ में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर प्रत्येक दिशा में तीन २ कूट कहे हैं जो एक २ देवताके आधीन हैं।

पुव्वेण तिन्नि कूडा; दाहिणउ तिन्नि २ अवरेणं।
उतर उं तिन्नि भवे, चउदिसी माणुस्स नगस्स॥

सूत्र पाठ में चार कूट कहे वहां सिद्धायतन कूट न कहा। देखो द्वीप सागर पन्नति में संग्रहणी गाथाएं।

दाहिणं पुव्वेणं रयणकूडं गुरु लस्सवेणु देवस्स सव्व रयणंच पुव्वं तरेणं तेवेणुदालीस्स रयणस्स अवर पासे तिन्नि विममझिउणं कुडाइं वेलंब सुहयं सया होई सव्व रयणस्स

अवरेणं तिन्नि समय छिउण कूडाइ कूडं पभंजणस्सई पभंजण आढियं होइ वृत्तौइहवंतु स्थानकानुरोधेन चत्तारि शुक्ता तथा अन्यान्य द्वादस संति पूर्व दक्षिण परोत्तरासु त्रिणी द्वादशांपिचैकैकदेवाधिष्टतानीति स्थानांगवृत्तौ.

मूल सूत्र में चार कूट कहे, वृत्ती में वारह कूट कहे उनमें चार दिशाके चार कूट में भवनपति की मालकी बताई और विदिशा में वारह कूट बताये वहां एक २ देव का निवास कहा पर मानवक्षेत्र पर सिद्धायतन कहा, जो सिद्धायतन कूट में न हो तो इस न्याय से मानवक्षेत्र पर प्रतिमा विलकुल ही न हुई, फिर प्रतिमा कैसे वंदी ?

२ रुचक पर्वत पर भी दिशा कुमारी के चालीस कूट कहे, देखो सिद्धांत जम्बू द्वीप पन्नति. पर सिद्धायतन कूट रुचक द्वीप पर सिद्धांत में न कहा. तो रुचक द्वीप में प्रतिमा कैसे पूजी ?

३ नंदीश्वर द्वीप में प्रतिमा है, पर नंदीश्वर द्वीप में सम भूतल में नही। अंजनगिरि पर्वत चौरासी हजार योजन ऊंचा है, उसपर चार सिद्धायतन है । वहां जंघाचरण विद्याचारण गये नही। यह तुम भी मानते हो। अगर प्रतिमा वंदी मानलें तो "चेइयाइं वंदित्तए" यह पाठ ऊपर क्यों कहा। अगर प्रतिमा वंदी पूजी होती तो प्रत्यक्ष वंदइ नमंसइ पाठ होना चाहिये था। वंदे शब्द का अर्थ गुण ग्राम करना और नमंसइ शब्द से नमस्कार करना है, पर वहां नमंसइ शब्द तो है भी नहीं, फिर "वंदमाणं न जाएज्जा" दशवे कालिक सूत्र के पांचवे अध्ययन के दूसरे उद्देशे में कहा है कि गुण ग्राम करता हुआ साधु गृहस्थ से भिक्षा मांगे नही । इस साक्ष-से वंदइ शब्द का अर्थ गुण ग्राम करना होता है। जो प्रतिमा को प्रत्यक्ष देखी होती तो नमंसइ शब्द क्यों न कहा होता ? तथा चैत्य वंदणा नमो

त्थुणं क्यों न किया गया ? अगर तुम कहोगे कि चेइयं शब्द प्रतिमा नहीं, तो चेइयं शब्द से किसकी वंदना की ? उत्तर- साधु की यह रीति है कि आहार, निहार, विहार कार्य कर जब स्थान पर आकर बैठते हैं तो समवसरण समोसर्या कहते हैं और इरयावही पडिकमे कहकर लोगस्स कहते हैं। उस लोगस्स में भी श्री वीतराग के गुण ही हैं। जहां चैत्य शब्द से अरिहंत की वंदना करते हैं यही उसका परमार्थ है। कई जयवंते जिनराज केवली को नमस्कार किया इसलिये बहुवचनी शब्द "चेइयाइं" कहा। यहां लोगस्स कहते हुए बिना प्रतिमा के कई अरिहंत की वंदना की इसमें क्या संदेह रहा ? फिर मानव क्षेत्र पर्वत पर सिद्धायतन कूट नहीं, प्रतिमा भी नहीं, फिर वहां चेइयं वंदइ यह पाठ कहा, वहां चेइयं शब्द से क्या पूजा ? तो यह निश्चय समझो कि प्रतिमा के बिना चैत्य श्रीवीतराग केवली हैं उन्हें वंदना की है। वैसे ही नंदीश्वर द्वीप और रुचक द्वीप में भी अरिहंत ही वंदे हैं। मानवक्षेत्र, नंदीश्वर, रूचक-द्वीप आदि में वंदना के शब्द में हेर फेर नही है। जहां प्रतिमा है वहां भी "चेइयं वंदइ" यह पाठ है और जहां प्रतिमा नहीं है वहां भी चेइयं वंदई ही है, कुछ अंतर नहीं। तो यह निश्चय समझो कि तीनों जगह चैत्य वंदे हैं। वहां तो यही चैत्य वंदे हैं। श्री वीतराग को तो जहां रहकर वंदना चाहो वहीं रहकर वंदना कर सक्के हो। सब जगह वीतराग चैत्य की ही वंदना है। जो प्रतिमा के लिये चैत्य कहोगे तो नंदीश्वर द्वीप के लिये ही यह पाठ मिलेगा। क्योंकि वहां प्रतिमा है, पर मानवक्षेत्र पर्वत पर मूल में ही प्रतिमा नहीं है, सिद्धायतन नहीं है, वहां चेइयाइं वंदइ पाठ कैसे मिलेगा ? और चैत्य शब्द से वीतराग की वंदना की यह अर्थ सब जगह मिलेगा, तो यह निश्चय

सिद्ध हुआ कि चैत्य शब्द से वीतराग की वंदना की है, जहां साधु आते हैं वहां समोसरे ऐसा कहते हैं और चौवीस स्तवन करते हैं तो चैत्य वंदना की ऐसा कहते हैं । फिर जंघा-चारण विद्याचारण प्रतिमा वंदने यात्रा करने गये ऐसा कहते हैं वे एकांत असत्य बोलते हैं । क्योंकि अगर यात्रा करने गये तो जंघाचारण जब रुचक द्वीप से पीछे फिरे और नंदीश्वर द्वीप आकर अपने स्थान पर आये तो मानवक्षेत्र के चैत्य क्यों न वदने गये ? तथा ऊंचे पंडक वन में जाकर पीछे आये और नंदन वन में जाकर अपने स्थान पर आये तो सोमनसवन और भद्रसालवन की प्रतिमा पूजने क्यों न गये ? तो यह सिद्ध है कि वे प्रतिमा पूजने नहीं गये पर चारित्र मोहनी के उदय असंवुडे अणगार वन लब्धि फोड़ बे परवाही से प्रमाद का स्थानक सेवने लगे । फिर अपने स्थान पर आये वहां भी कहा कि "चेइयाइं वंदिते" । तो जो मुनि ग्राम, नगर, पर्वत वन में जहां थे वहीं पीछे आये तो अपने २ स्थान पर आये, वहां कौन से चैत्य पूजे ? तो यह निश्चय है कि जब वे अपने स्थान पर आये तब वहां आकर उनने इरयावही प्रतिक्रमण करके लोगस्स चौवीसं स्तव किया । वही इस चैत्य की श्री वीतराग देव रूपी चैत्य की वंदना की । वीतराग चैत्य तो जिस स्थान पर रह कर वंदना चाहें वंदना कर सके हैं । और प्रतिमा तो मुनिराज के स्थानक में कहां से आसकी है ? यह समझना चाहिये । फिर इसी उपदेश के अंतमें कहा है किः—

तस्स ठाणस्स अणालोइए अप्पडिकंते कालं करेई नत्थि तस्स आराहणा.

अगर लब्धि फोड़कर जाने वाले उस कार्य की आलोचना न करते काल कर जायं तो वे विराधक होते है पर जो जिन प्रतिमा जिन सरीखी मानते हैं वे उन्हे पूजते हुए काल कर जायं तो विराधिक कैसे हो सक्ते है ? पर ऐसा नहीं, मोहनीय कर्म के उदय से प्रमादी वन द्वीप, समुद्र देखने जाने वाले चक्षु इंद्रिय के विषयी होने से वे अवश्य प्रमादी विराधिक होते हैं।

हिंसा धर्मी कहते है कि प्रायश्चित् उनके लिये नही है जो प्रतिमा पूजने जाते हैं। जाते आते अगर अयत्ना हुई हो तो उसके लिये आलोयणा करलेना बस है। इसका उत्तरः–तुम कहते हो कि संघादि के लिये अगर चक्रवर्ती के सैन्य को मार डाला जाय तो भी महान् लाभ है। धर्म कार्य करते हिंसा हो तो पाप नहीं लगता तो इन गगन गामी साधुओं को छःकाय में से कौन से काय की हिंसा लगी ? और महा फल उपार्जन किया जिससे उस हिंसा या प्रमाद का दोष किस गिनती मे है ? ये बातें तुमने मिथ्या कही। जो प्रतिमा पूजने गये हों तो तुम्हारे मत से वे विराधिक नहीं हो सक्ते। फिर भगवती सूत्र में कहा है कि आलोयणा लेने के लिये जाते हुए राह मे मुनि काल कर जाय तो आलोयणा के भाव के कारण वह आरा· धिक है। वैसे ही जिन प्रतिमा वंदन के लिये भाव से चले तो वे निश्चय में आराधिक ही हैं। प्रमाद, अनसमझ का फल उन के लिये गिनती में नहीं ?

हिंसा धर्मी कहते हैं कि प्रतिमा को चैत्य कहते हैं। पर अरिहंत को चैत्य कहां २ लिखे हैं ? उसका उत्तरः– भगवती उववाई, रायपसेणी, ठाणांग, आदि कई जगह साधु को चैत्य लिखा है। देखो पाठः–

तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि.

अर्थः-ति-तीन वक्त, आ-आदान अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर दाहिने कान से बायें कान तक, प प्रदक्षिणा करके, वं-वंदना करता हूं, पांव पड़ता हूं,न-नमस्कार करता हूं, सिर झुकाकर, स-सत्कार करता हूं , स-सम्मान देता हूं, क कल्याण प्रद, मं-मंगलीक, दे-धर्म देव समान, चे-ज्ञानवंतकी, प-सेवा करता हूं मन, वचन, काया से.

इस पाठ में कल्याणं का अर्थ कल्याणकारी मंगलं का अर्थ मंगलिक चत्तारी मंगलं सूत्र में साधु को मंगलिक कहे ही हैं । देवयं अर्थात् धर्म देव चेइयं अर्थात् ज्ञानवंत ये (द्वितीय) कर्म कारक के वचन समझना चाहिये.

फिर समवायांग सूत्र में चौवीस जिनराज को केवल ज्ञान पैदा हुआ उस वृक्ष को भी चैत्य वृक्ष कहा । ज्ञान चैत्य के आधार पर । वह समवायांग सूत्र का पाठ लिखते हैंः-

एएसिंणं चउव्वीसाए तित्थगराणं चउव्वीसं चेइय रुक्खा होत्था तंजहा निग्गोह सत्तिवन्ने साले पियए पियंगु छत्तोए सरिसेय नागरुक्खे मालीय पिलुंक रुक्खेय १ तिंदुल पाडल जंबू आसत्थे खलु तहेव दहिवण्णे णदीरुक्खे तिलए अंवगरुक्खे असोगेय २ चंपय वहुलेय तहा वेतसिरुक्खेय धायईरुक्खे सालेय वद्धमाणे चेइय रुक्खजिणवराणं ॥ ३ ॥

अर्थः- चौवीस चैत्य वृक्ष हैं, जिनके नीचे केवल ज्ञान पैदा हुआ उन वृक्षों को चैत्य वृक्ष कहते हैं। श्री आदिनाथ को

न्यग्रोध वट वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान पैदा हुआ। इसी प्रकार अनुक्रम से चौवीस ही समझना चाहिये। निग्रोध १ सत्तवन २ प्रिया ३ पियंगु ४ छत्र ५ सरसडा ६ नाग ७ मालती ८ पीलू ९ टींबरू १० पाडल ११ जांबू १२ पीपल १३ निश्चय दधि वर्ण १४ नंदी १५ तीलक १६ आम १७ अशोक १८ चम्पा १९ वकुल २० वैसेही वेतस २१ वैसेही घावणी २२ साल २३ वर्धमान २४ ये चैत्य वृक्ष चौवीस जिनराज के समझना चाहिये, क्योंकि इनके नीचे केवल ज्ञान पैदा हुआ है।

इस ज्ञान के उत्पन्न होने से वृक्ष को भी चैत्य कहे तो ज्ञान वंत अरिहंत या साधु को चैत्य कहैं इसमें क्या संदेह है? इस कारण जंघा चारण ने भी चैत्य अर्थात् वीतराग, तीर्थंकर, अरिहंत, केवल ज्ञानी को वंदना की है। प्रतिमा वंदी तो मानुष्योत्तर पर्वत पर प्रातिमा नहीं वहां क्या कहोगे? और पाठ तो तीनो जगह एक से हैं, अधिक कम नहीं। जहां प्रतिमा है और जहां प्रतिमा नहीं वहां पाठ में अंतर नहीं है। इस लिये प्रतिमा वंदी यह सूत्र विरुद्ध है।

१६ आणंद श्रावक के विषय का स्पष्टी करण

हिंसा धर्मी कहते हैं कि आनंद श्रावक ने प्रतिमा पूजी वह एकांत मिथ्या है। उपासक दशांग के अध्ययन पहले में जो पाठ है वह लिखते हैं।

णो खलु मे भंते कप्पइ; अज्जप्पभिइओ; अण्णउत्थिएवा अण्णउत्थिय देवयाणि वा अण्णउत्थिय परिग्गहियाणि वा चेइयाइ नमंसित्तएवा वंदित्तएवा पुव्विं अणालतेणं आलवित्तएवा संलावित्तएवा तेसिं असणंवा पाणंवा खाइमंवा साइमंवा दाउवा अणुपदाउवा.

अर्थः—णो नहीं, ख-निश्चय, मे-मुझे, भ-भगवंत, क-कल्पता अ-आज से, अ—अन्यतीर्थि, अ—अन्यतीर्थि के देव, अ—अन्य तीर्थि के माने हुए आचार्य, अ—अरिहंत के चैत्य भ्रष्टा चारी साधु, वं वंदना करना, न—नमस्कार करना, आ—बुलाना, सा—वारंवार बुलाना,ते उन्हें, अ-असन, पा-पानी, खा-खादिम सुखड़ी सा—सादीम, मुखवास, दा गुरु हैं। इस धर्म बुद्धि से देना, अ-आज्ञा करके दिलाना।

ऐसे भगवंत के सामने आनंदजी ने प्रत्याख्यान किये कि आज से मुझे नहीं कल्पता १ अन्य तीर्थी सावयादि को २, अन्य तीर्थि के देव अनेक प्रकार के ईश्वरादि को ३,अन्य तीर्थी के बनाये अरिहंत के चैत्य, अन्य तीर्थो से मिलते श्रद्धा भ्रष्ट पासत्थे वेषधारी,गौशाला मती जमाली मती जिनका लिंग तो साधु का है पर जिन मार्ग से श्रद्धा भृष्ट जिन आज्ञा बाहर ऐसे साधु रूप चैत्य इन तीनों को मैं वंदू नहीं २ बुलाये बिना बोलूं नहीं ३ असणादि दान दूं नहीं। कोई देवाभि उगेणवा (देवता के पर वश पड़ जाने पर) आदि कारण से वंदना, बुलाना, असणादि देना पड़े तो उसका आगार पर निर्जरा के कारण भूत समझूं नहीं। यह मेरी सम्यक्त्व शुद्ध ऐसा अभिग्रह लिया। अब मुझे क्या कल्पता है। उसका पाठः—

कप्पइ मे समणे निग्गंथे पासू एसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं वत्थ पडिग्गहकंबलपायपुछणेणं पडि हारिय पीढ फल गसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेणं पडि-लाभेमाणस्स विहरित्तए।

अर्थः—क-कल्पता है, मे-मुझे, स-श्रमण, नि निर्ग्रंथ पा-

प्रासुक, ए एषणीक लेने योग्य, अ अन्न पा-पानी, खा-सुखड़ी मेवादिक, सा-मुखवास, व वस्त्र प-पात्र, क-कंबल, पा पाद प्रमार्जक तथा रजो हरण, पी-बाजोठ, फ-पाटिये, सी-स्थानक, सं-दर्भादिक संथारा, उ-ओषधि, भे-गोली, प-उन्हे वहिराना सदैव ऐसे मनका अभिग्रह।

कल्पेन योग्य तो देव अरिहंत श्रीमहावीर ओर गुरू साधु इन दोनों को वंदना, बुलाना ओर प्रतिलाभना कहा, स्वमत की प्रतिमा वंदना कल्पती होती तो यहां प्रतिमा कहेत। पर ऐसा सूत्र में पाठ नहीं है। रखे हुए बोल में भी प्रतिमा न कही और वोसिराये हुए में भी प्रतिमा नहीं कही। जिन मत के देव ओर गुरु को वंदना करना रखा ओर अन्य मत के देव गुरु वोसिराये। जिन मत के भ्रष्ट साधु भी वोसिराये ऐसा अर्थ है।

अब हिंसा धर्मी कहते हैं कि वोसिराये हुए में अन्य तीर्थी के चैत्य नहीं वंदू वहां प्रतिमा अर्थ है। पर यह सूत्र विरुद्ध है। क्योंकि जिन राज की प्रतिमा बैठी हुई पद्मासन, आयुद्ध, सवारी ओर स्त्री रहित है और अन्य मती की प्रतिमा संजोगी, सायुद्ध सस्त्री, ससवारी वाली है। यह रीति जो मूर्ख हैं वे भी जानते हैं और भिन्न २ पहचानते हैं। तो अन्य तीर्थी की प्रतिमा के स्थान पर जिन मत की प्रतिमा क्यों बैठायेंगे ? तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश माता, हनुमान, क्षेत्रपाल इत्यादि की प्रतिमा जिन मत की प्रतिमा से भिन्न ही है। यह तो नहीं सोचते और प्रतिमा अर्थ लगालेते हैं। अगर प्रतिमा का ही अर्थ मानोगे तो वहां कहा है कि १ अन्य तीर्थी को २ अन्य तीर्थी के देव को ३ अन्य तीर्थी के माने

हुए चैत्य को १ पूजूं नहीं २ बुलाऊं नहीं ३ दान दूं नहीं-ये तीन बोल निषेध किये। तो देखो चैत्य शब्द पासथ्थे, भेष-धारी, निः नव पर तो ये तीन बोल मिलते हैं जो बुलाने से बोलते हैं। दान देने से लेते हैं। पर चैत्य शब्द प्रतिमा हो तो वह बुलाने से कैसे बोल सक्ती है, दान देने से कैसे ले सक्ती है? पर हिंसा धर्मी अन्य मत ग्रहित प्रतिमा का निषेध अपनी मानी हुई प्रतिमा पर बिठाते हैं पर यह सूत्र न्याय से असंगत है।

हिंसा धर्मी कहते हैं कि जिन प्रतिमा कहां बोलनी है, दान भी कहां लेती है? ऐसा कह कर प्रतिमा का अर्थ उड़ाते हो तो अन्य तीर्थी के देव कहां बोलते हैं? दान कैसे ले सक्ते हैं? इस का उत्तरः—जिनके देव बोलते हैं, तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश गणेश, माता, हनुमान, नारद आदि आहार लेते हैं या नहीं? स्वमेव जीवित थे तब आहार लेते थे यह सोचनेकी बात है। अन्य तीर्थी के देव पर तो ये तीनों बोल सुख से लागू होते हैं पर प्रतिमा पर लागू नहीं होते। तथा प्रतिमा को अपने देव अन्य तीर्थी मानते हैं उन्हें तुम देव नहीं मानते हो तथा अन्य तीर्थी के देहरे में रही जिन प्रतिमा को अन्य स्थान में होने के कारण तुम नहीं मानते हो! तो क्या चाण्डाल के घर किसी कारणवश किसी का बाप बैठा हो, उसे वह अपना बाप नहीं मानेगा? यदि वह उसका बाप है तो इसी तरह वे तुम्हारे देव हैं। अगर अन्य तीर्थी के देहरे विराजने से प्रतिमा अवंदनीक होती है तो साधु अन्य तीर्थी के आश्रम में उतरें उन्हें गुरु मानते हो या नहीं? जो चाण्डाल के घर बैठे हुए को बाप मान ते हो,मठ में उतरे हुए साधु को गुरु मानते हो तो अन्य तीर्थी के देहरे गई हुई प्रतिमा को देव क्यों नहीं मानते हो?

अगर अन्य तीर्थी के माने हुए चैत्य शब्द से प्रतिमा का अर्थ निकालोगे तो द्रव्य लिंगी, पासथ्थे, निः नव, भेषधारी भृष्टाचारी किस शब्द से वोसिराये मानोगे ? ये भी अवंदनीक है। जो कहोगे कि अन्य तीर्थी में गिनेंगे तो मिथ्या कथन साबित होगा। भगवती शतक पहले पन्नवणा पद वीसवें "सलिंगी दंसण वावनगा" समकीत के वमने वाले भी सलिंगी कहे हैं, पर अन्य तीर्थी मे नही कहे और अन्य तीर्थी के देव तो हैं ही नहीं। फिर अन्य तीर्थी के माने हुए चैत्य में नहीं मान सक्ते तो चौथा शब्द सूत्र पाठ से दिखाओ ? या स्वमत के चैत्य, देहरे, प्रतिमा आनंद श्रावक ने पूजी ? यह पाठ दिखाओ।

१७ अंबड़ श्रावक के पाठ का वर्णन

ज्यों समकित की विधि आनंद श्रावक ने कही है उसी प्रकार सव श्रावक शंख, पोखली, प्रमुख ने कही है। कुछ भी अंतर नहीं। इस के सिवाय उववाई सूत्र में अंवड़ श्रावक के अधिकार में ऐसा पाठ है:-

अंबडस्सणं परिव्वायगस्स णो कप्पइ अरणउत्थिए वा अरणउत्थिय देवयाणिवा अरणउत्थि परिग्गहियाणि-वा अरिहंत चेइयाणि वा वंदित्तएवा नमं सित्तएवा जाव पज्जुवा सित्तएवा णरणत्थ अरिहंतेवा अरिहंत चेइयाणिवा

अर्थ -अ-अंवड सन्यासी को, णो-नही कल्पता, अ-अन्य तीर्थी शाक्यादि, अ-अन्य तीर्थी के देव हरि हरादि, अ अन्य तीर्थी के पूजित अरिहंत के चैत्य भ्रष्ट साधु, वं-वंदना करना, न-नम-स्कार करना जा-यावत् पूजा करना। यावत् शब्द में सव ऊपर के बोल मानना।

इतना पाठ है कि नहीं कल्पता १ अन्य तीर्थी २ अन्य तीर्थी के देव ३ अन्य तीर्थी के माने देव १ वंदना, २ नमस्कार करना ३ दान देना ये तीनों बोल आनंद जी की तरह ही हैं। और कल्पता है अरिहंत तो देव और अरिहंत के चैत्य साधु गुरु इन दोनों को वंदना करना। अरिहंत ये देव और अरिहंत के साधु ज्ञानवंत ये चैत्य ये दोनों कल्पते हैं। कल्पता है इस में भी आनंद जी की तरह ही पाठ आया है। वहां श्रमण निर्ग्रंथ कह कर गुरु रखे और यहां अरिहंत चैत्य कह कर गुरु रखे, अर्थात् देव गुरु को वंदना करना रक्खा। यहां हिंसाधर्मी कहते हैं कि चैत्य शब्द से प्रतिमा रक्खी पर इनका यह अर्थ नहीं मिलता क्योंकि अरिहंत भी देव और प्रतिमा भी देव तो गुरु वंदन का तीसरा पाठ कहां है? वह तो नहीं है तो अंबड को साधु गुरु है या नहीं? जो चैत्य शब्द प्रतिमा है तो गुरु वंदन का तीसरा पाठ दिखाओ और अंबड तो साधु को वंदते हैं, असनादि देते हैं। बारह व्रत सूत्र पाठ में कहा है—तुम तो प्रतिमा को देव मानते हो तो गुरु साधु का पाठ कहां है? पर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्या अर्थ सूझता है। जो वस्तु श्रावक को कल्पती है वह आनंद जी की तरह समझना चाहिये।

१८ सात क्षेत्र के लिये धन निकाले; इसका उत्तर

हिंसा धर्मी कहते हैं कि सात क्षेत्र के लिये धन खर्च करना चाहिये यह सूत्र विरुद्ध है। सात क्षेत्र के लिये धन लगाना कौन से सूत्र में लिखा है? आनंदादि श्रावक ने व्रत आराधे प्रतिमा अंगिकार की, संथारा किया। ये सब सूत्र में है पर धन कितना खर्चा तथा कौन २ से क्षेत्र में खर्चा। यह सूत्र के पाठ

से दिखाओ तो प्रमाण करें तथा संघ निकाले, तीर्थ यात्रा की, देहरे बनाये, प्रतिमा की प्रतिष्ठा की इत्यादि आनंद, शंख, पोखली के अधिकार में कहा होवे तो सूत्र में दिखाओ। श्री महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी के सामने कितने क्षेत्र कहे वह बतलाओ तुम सात क्षेत्र कहते हो १ देहरा २ प्रतिमा ३ पुस्तक ४ साधु ५ साध्वी ६ श्रावक ७ श्राविका। ये तो श्री वीतराग के प्ररूपित नहीं है। पुस्तक लिखना तो श्री महावीर स्वामी के निर्वाण पश्चात् ६८० वर्ष में प्रचलित हुआ तो पहिले पुस्तकों के लिये धन निकालने की क्या जरूरत थी? इसलिये ये सूत्र विरुद्ध है।

साधु, साध्वी के लिये धन खर्च कर के आहार, उपाधि उपाश्रय किये जायं तो वे साधु और साध्वी के काम मे नहीं आ सके, तो साधु और साध्वी के लिये धन क्यों निकालें? दसवें कालिक सूत्र के छट्ठे अध्ययन की अड़तालीसवी गाथा में कहा है:-

पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पियं न इच्छेज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥४८॥

अर्थः—पहले बोले पि-आहार दूसरे बोले सी-स्थानक पाट, पाटले, संथारा, तीसरे बोले व-वस्त्र, पछेवड़ी चोलपट, मुंहपोत्त च-फिर, च-चौथे बोले पा-पात्रा, पाडगा उडग, प्रमुख ए-इसी प्रकार, य-फिर कल्पनिक दण्डादि संयम निर्वाह, अ-अकल्पनिक, न-नही इच्छे तथा वांच्छा न करे, प-लेवे, क-कल्पनिक—

इस प्रकार आचारंग, निशीथ, कल्प आदि सूत्र में मोल लाये हुए आहार का भी निषेध किया है तो साधु और साध्वी उस धन को क्या करें? यह भी सूत्र विरुद्ध है।

श्रावक, श्राविका जो पुण्यवंत हों तो धर्मार्थ दान नहीं लें-रंक, कंगाल, दीन, अनाथ के अंतराय नहीं दें। देहरे, प्रतिमा

आदि पहले थे नहीं, तो उनके लिये धन क्यों निकाले? तुम्हारे विचारानुसार पहिले देहरे प्रतिमा थी तो वताओ आनंद श्रावक ने जात को भोजन दिया, परदेशी राजा ने दान शाला वैठाई, श्रीकृष्ण ने संयम की दलाली की, श्रेणिक राजा ने अमर ड्योंढ़ी पिटवाई कौणिक राजा ने वधाई दी । पर कितना धन निकाल इन ने देहरे वनाये, प्रतिमा कराई ? अगर सूत्र में पाठ हो तो दिखाओ । नहीं तो ये सात क्षेत्र नये कल्पित रचकर मूर्ख लोगो का धन लूटते हो तो चौहटे के चोर वनते हो । जो ये सात क्षेत्र के नाम दिखाते है वे एकान्त सूत्र विरुद्ध कहते है ।

द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी उसका उत्तर.

हिंसा धर्मी कहते हैं कि द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी है । उस का उत्तर सूत्र न्याय से देते हैं । सब सूत्रों में देखते साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, समदृष्टि ने कहीं भी वीतराग की प्रतिमा वनाकर नहीं पूजी । राजगृही, चम्पा, मथुरा, वाणिया ग्राम, तुंगीया, आलंवीया, सावत्थी, द्वारका, वनिता, हस्तिनापुर इत्यादि नगरियों के वाहर यक्ष के देहरे कहे हैं । पर श्री वीतराग के देहरे नहीं कहे । सिर्फ द्रौपदी ने विवाह के समय प्रतिमा पूजी कहा । वह भी सारे भव में एक समय ही-पद्मोत्तर राजा के यहां उस को लेगये, वहां भी वह आम्बिल सहित वेले २ पारणा करने लगी पर वहां भी उसने प्रतिमा की पूजा न की ।

१ उसी द्रौपदी ने पूर्व भव में धर्म रुची को कडुआ तुम्वा वहिराया ।

२ सुख मालिका के भव में भिक्षुक को पति बनाया।

३ संयम लेकर अवनीत पासथ्थी बनी।

४ फिर नगरी के बाहर आज्ञा लोप कर आतापना लेने लगी।

५ फिर पांच भर्तार का नियाणा किया।

६ फिर संयम विराध कर वैश्या देवांगना पने उत्पन्न हुई।

७ फिर पांच भर्तार करके जगत् निंदनीय कार्य किया।

ऐसे २ अनुचित काम करने वाली, मिथ्या दृष्टि, नियाणे वाली, ने प्रतिमा पूजी और उस पूजा की उपमा भी अव्रत सुरियाभ देव से दी, पर आनंद, कामदेव, संख.पोखली श्रावक की तरह न बताई! आनंदादि श्रावक की उपमा दें भी तो क्यों?

१ द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी उस समय वह समदृष्टि नहीं थी, २ श्राविका भी न थी, ३ द्रौपदी के माता पिता भी सम दृष्टि न थे, ४ द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी वह प्रतिमा तीर्थंकर की भी नहीं थी, घर में देहरे भी न थे। इन चारों बातों का सिद्धान्त के न्याय से विचार करते हैं।

१ प्रथम तो द्रौपदी श्राविका न थी। जो श्राविका होती तो पांच भर्तार क्यों व्याहती? सब संसार की रीति है कि एक स्त्री के एक भर्तार होता है। वैसे ही द्रौपदी भी एक भर्तार समझती थी। वह ऐसा न समझती थी कि मेरे पांच भर्तार होंगे; पर पूर्व भव के नियाणे के योग से पांच भर्तार व्याहे तो क्या द्रौपदी ने जब श्राविका व्रत लिये तब भर्तार १०, २० खुले रक्खे थे? और जब भर्तार की मर्यादा ही नही तो वह श्राविका कैसे कही जा सक्ती है। बाल वय में उसने श्राविका के व्रत लिये, ऐसा भी नहीं कहा।

द्रौपदी समद्रष्टि भी नहीं। "दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र" के दसवें अध्ययन में नियाणे के भाव कहे हैं, उस में मनुष्य के काम भोग का नियाणा करे तो उत्कृष्ट रस के नियाणे का फल यह है कि नियाणा करने वाला केवली प्ररूपित धर्म कानों से सुनना भी न पावे, और मध्यम जघन्य रस का नियाणा हो तो इच्छित भोग मिले पश्चात् समकित व्रत पावे· पर जहांतक नियाणे का फल उदय न हो जाय वहां तक समकित व्रत नहीं पा सक्ता। नियाणे के दो भेद हैं १ द्रव्य प्रत्यय २ भव प्रत्यय। वासुदेव चक्रवर्त्ती को नियाणे के प्रभाव से उन्हें जाव जीव तक व्रत उदय न आ सके यह भव प्रत्यय नियाणे का फल है। और दूसरा द्रव्य प्रत्यय नियाणा, कि जिस द्रव्य की चाह, की वह मिलगया कि द्रव्य नियाणा पूर्ण हो गया। फिर देस व्रत्ती, सर्व व्रत्ती हो सक्ते हैं। तो द्रौपदी का द्रव्य प्रत्यय नियाणा था। जब पांच भर्त्तार रूप द्रव्य मिल गया कि उसका द्रव्य नियाणा पूर्ण हो गया। पर जब तक वह नही विवाही थी तब तक नियाणा का उदय था। स्वयंवर मंडप में सब राजाओं को छोड़ उसने पांच पाण्डव व्याहे वहां पाठ में कहा हैः—

पुव्वकय नियाणेणं चोइयमाणी.

अर्थ पूर्व कृतः--पिछले भव के किये नि--निदान से, चो--प्रेरी हुई थी, पूर्व कृत निदान के कारण पांच पाण्डव पाये, ऐसा पाठ है। तो यहां समझना चाहिये कि जब तक नियाणा पूरा न हो वहां तक सम्यक्त्व तथा व्रत नहीं पा सकते तो दौपदी विवाह के पहिले एकांत मिथ्या दृष्टि थी।

२ फिर द्रौपदी के माता पिता भी मिथ्यात्वी थे। घर में

देहरे थे। प्रतिमा पूजते थे। यह बात जो कहते हैं वे सूत्रके विरुद्ध कहते हैं। क्योंकि जब द्रौपदी के पिता ने स्वयम्वर के लिये श्रीकृष्ण आदि अनेक राजाओं को बुलाये और उनके लिये छः आहार निपजाये जिन में मद्य था और मांस भी बहुत पकाया। यदि वे जिन मार्गी होते, घर में देहरे होते और जिन की पूजा करते होते तो भला त्रस जीव मार कर मद्य, मांस क्यों निपजाते? जो जिनमार्गी होते हैं वे मद्य नहीं पीते, मांस नहीं खाते, त्रस जीव नही मारते न मरवाते- यही जिन मार्गी के लक्षण हैं। और जहां द्रुपद राजा ने मांस भोजन निपजाया है वहां सूत्र का पाठ नीचे लिखे प्रकार है।

विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च मज्जं च महुयं च मंस च। सिंधुं च पसन्नं च सुबहु पुप्फवत्थगंध मल्ला-लंकारं च वासुदेव पामोक्खाणं रायसहस्साणं आवासेसु साहिरह तेवि साहरंति।

अर्थः—वि-खूब; अ-असन, पा-पानी, खा-सुखड़ी मेवादिक, सा-मुखवास, सु-सुरा, म-मदिरा म-महुए का बना दारू, मं-मांस सी-सिंधु, प-प्रसन मदिरा की जाति, सु-बहुत व-विपुल, पु-फूल व-वस्त्र, ग-गंध, म-माला, अ-अलंकार, च-वासुदेव, पा-प्रमुख,रा-राजा के हजार, आ-महल में, सा-रक्खो, ते-वे भी, सा-उसी प्रकार रक्खे।

ऐसा सेवक से कहा और सेवक ने वैसा ही किया। जहां समदृष्टि का घर होता है वहां मद, मांस का भोज्य कैसे हो सक्ता है? सूत्र में मद, मांस कई जगह निषेधा है. समदृष्टि के घर चार आहार हो सक्ते हैं पर छः आहार नहीं हो सक्ते। इस न्याय से द्रुपद राजाका सब घर मिथ्यादृष्टि था।

४ हिंसा धर्मी कहते हैं कि प्रतिमा श्री वीतराग की थी। उसे जिन प्रातिमा कह कर पुकारी है। उसका उत्तरः—

तएणं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जण घरे तेणव उवा· गच्छइ २ त्ता एहाया कयबलिकम्मा कय कोउय मंगलं पाय च्छित्ता सुद्ध पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवर परिहिया मज्जणघराउओ पडि निक्खमइ २ त्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता।

अर्थः-त-तब, सा उस, दो-द्रौपदी, रा-राज वर कन्या ने जे-जहां, म-स्नान का घर, ते-वहां, उ आ २ कर, एहा-स्नान किया क-किये वलि कर्म पीठी आदि विलेपन किये, क-कौतुक मंगलीक पानी की अंजुली भर कर कुल्ले किये, पा—आभूषण पहिन, तिलक, मस लगा, सु—शुद्ध निर्मल, पा—उत्तम, मं—मंग· लिक, व वस्त्र, प-प्रधान, प-पहिने, म-मंजन-स्नान, घर से, प— निकल निकल कर, जे जहां, जी—यक्ष का घर, ते·वहां, आ आ कर।

यहां तीत्थयरे घरे नहीं कहा। जिण शब्द तो सब चार जाति के देवताओं के लिये आता है और तीत्थयरे में तो तीर्थंकर ही आते हैं। जब तीर्थंकर का घर न हो तो तीथयरे घर कैसे कह सक्ते हैं?

जिणघरं अणुप्पेवेसइ २ त्ता जिण पडिमाणं आलोए पणामं करेइ २ त्ता लो महत्थगं पमज्जइ २ त्ता एवं जहा सुरियाभो जिण पडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणियव्वं जाव धुवं डहइ २ त्ता वामे जाणुं अंचेइ २ त्ता दाहिणे जाणुं धर- णितलंसि णिसीयइ २ त्ता तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ २ त्ता इसि पच्चुणमइ २ त्ता करयल जाव तिकट्टु एवंवयासी नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं वंदइ नमंसइ २ त्ता.

अर्थः—जि-जिनके घर में प्रवेश कर कर के उस प्रतिमा को देखकर प्रणाम किया, वंदना की, नमस्कार किया, नमस्कार करके मोर की पिंछी से पूंज के जिस प्रकार सुरियाभ देव ने जिन प्रतिमा की पूजा की थी उसी प्रकार सब पूजा की। यावत् धूप दी। धूप देकर बायां घुटना ऊंचा रख दाहिना घुटना जमीन पर झुका झुका कर, ती-तीन वक्त, मु-सिर, ध-धरती पर, नी-लगा लगाकर धरतीपर सिर रख रख कर दोनों हाथ जोड़कर ऐसा कहने लगी। चैत्य वंदन करती हूं, नमस्कार ओंकार वचनालंकार अरिहंत भगवंत आप ज्ञान मय हैं आप मुक्ति प्रदायक हैं और आप को नमस्कार करती हूं, करके।

इतना पाठ ज्ञाता में है और जहां सूरियाभ जिण पडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणियव्वं जाव धुवंडहइ,

अर्थः-जि-जिन प्रतिमा को यावत् धूप दी-इतना सूरियाभ की उपमा में पाठ है वह लिखते हैं।

जिण पडिमाणं लोमहत्थएणं पमज्जइ २-त्ता जिण पडिमाओ सुरभिणं गंधोदएणं न्हाणेइ २ त्ता सरसेणं गोसीस चंदणेणं गायाइं अणुलिप्पइ २ त्ता जिण पडिमाणं आहियाइं देवदूसाइं जुयलाइं नियंसेइ २ त्ता अग्गेहिं विरेहिं गंधेहिं अच्चेइ पुप्फारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं वन्नारुहणं चुन्नारुहणं वत्थारुहणं आभरणारुहणं करेइ कयग्गह गिण्हित्ता करयल पब्भट्ठइ विप्पमुक्केणं दिव्ववण्णेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजो वयारकलियं करइ २ त्ता आसत्तासत्त विउलवट्ट वग्घारिय मल्लदाम कलावं करेइ २ त्ता जिण पडिमाण पुरतो अत्थेहिं

सएहिं रययामए हिं अच्छरसतंदुलेहिं अट्ठट्ठ मंगलए आलिहइ २ त्ता तंजहा सोत्थिय जावदप्पणं तयाणं तरंचणं चंदप्पह- रयणं विमल दंडं कंचन मणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवर- कुंदरक्कतुरुक्क धूव मघमघंत गंधूत्त माणु चिट्ठंति ।

अर्थः जि जिन प्रतिमा को, लो-मोर पिंछी से, प-पूंज कर पूंज के जिन प्रतिमा, सु-सुगंध, गं-गंधोदिक, न्हा-स्नान कराया, स-आर्द्र, गो-गोसीर्ष, चं-चंदन से, गा-गात्र पर, अ-लेप किया जि-जिन प्रतिमा को, अ-अमूल्य, दे-देवकृत, जु-युगल वस्त्र नी-पहिना पहिना कर, पु-फूल चढ़ाये, म-माला पहिनाई, चु-चूर्ण वासखेप चढ़ाया, व-वस्त्र चढ़ाये, ध्वजा बांधी, आ-आभूषण पहि- नाये क-पहिनाकर, आ-ऊपर जमीन तक चंदोवा बांधा, वी-विस्ती र्ण लम्बा गोलाकार, म-फूल की, द-दाम, क-करके जिन प्रतिमा के, पु-आगे, अ-निर्मल, से धन लेकर, रु-रूपयादि, अ-छोटी वस्तु जिसमें प्रतिबिम्ब पड़े ऐसा, तं-चांवल, सा-स्वस्ति, जा- यावत् शब्द में आठ कहे, द-आरसा, त-पीछे, रं-चंद्रप्रभा, र-वैडुर्य रत्नमय, वि निर्मल है, म-मणिरत्न की, भ-भांति, ची-चित्रित है, का-कृष्णा गुरु, प-प्रधान, कुं-चीड़गुंद तु- सिलारस, धु-धूप, म-मघमघायमान, ग उत्तम गंध द्वारा ।

इतना पाठ राय पसेणी में सूरियाभ ने प्रतिमा पूजी वहां का दिया है अर्थात् सूरियाभ की प्रतिमा और द्रौपदी की प्रतिमा एकसी और पूजाभी एक सी समझनी चाहिये। सूरियाभ ने भी प्रतिमा को वस्त्र पहिनाए और द्रौपदी ने भी प्रतिमा को वस्त्र पहिनाए और आज हिंसा धर्मी प्रतिमा को वस्त्र नहीं पहिनाते और कहते हैं कि तीर्थंकर की प्रतिमा को वस्त्र नहीं होते। तो फिर

सूरियाभ और द्रौपदी के प्रतिमा को वस्त्र कहां से आये? और ये प्रतिमाएं किस की थीं? वहां तो वस्त्र पहिनानेका सूत्र पाठ है।

फिर ज्ञाता सूत्र में भद्रा सार्थ वाही नाग, भूत वेसमण को पूजने गई वहां पूजा विधि लिखी है। देखो अध्याय दूसरा-

जेणामेव नागघरएय जाव वेसमणघर एय तेणेव उवागच्छय २ त्ता तत्थणं नागपडिमाणं य जाव वे समण-पडिमाणं य आलोए पणामं करेइ २ त्ता ईसिं पच्चुएणमइ २ त्ता लोमहत्थगं परामुसइ २ त्ता नागपडिमाओय जाव वेसमण पडिमाओय लोमहत्थेणं पमज्जइ २ त्ता उदगधाराए अब्भुक्खे २ त्ता पम्हल सुकुमालाए गंधकासाइं गायाइं लुहेइ २ त्ता महरिहं पुफारुहणं च गंधारुहणं वत्थारुहणं च मल्लारुहणं च चुन्नारुहणं च आभारणारुहणं च करेइ २ त्ता जाव धूवं डहइ २ त्ता।

अर्थ—जे-जहां, ना नाग का घर है, जा-यावत् यक्ष के वे-वेसमण के घर हैं, ते-वहां, उ-आ-आकर, त-वहां, ना-नाग की प-प्रतिमा को, जा-यावत्, वे वेसमण की, प-प्रतिमा को, आ-दर्शनादि, प-नमस्कार करके, प-थोड़ा सा शिर झुका २ करके लो-मोर पिंछी की पूंजणी, प-ले ले कर, ना-नाग प्रतिमा को, जा-यावत्, वे-वेसमण की, प-प्रतिमा को, लो-मोर की पूंजणी से, प-पूंज पूंज कर, उ-पानी की धारा से, अ-अभि-पेक किया पखाल करके, प-फिर, उ-पानी की धारा द्वारा अ अभिषेक कर पखाल पखाल कर, प-फिर निर्मल, सु-सुहावने वस्त्र से, गं-गंध लाल सुगंधी साड़ी उन्हें, गा-गात्र, लु-पूंछ

पूंछ कर, म-फिर अमूल्य, पु-फूल पहना कर,व वस्त्र पहिनाये, मं-माला पहिनाई, गं-सुगंध चढ़ाये, चु-चूर्ण चढ़ाया अबीर आदि छिटक कर, आ-आभरण पहिनाये, क-पहिनाकर, जा-यावत्, धु-धूप लगा लगा कर।

यह सब पूजा का पाठ विना नमोत्थुणं के द्रौपदी सूरियाभ जैसा समझिये।

अब जम्बू द्वीप पन्नंती में भरतेश्वर चक्री ने चक्र की पूजा की, वह विधि लिखते हैं।

भरहेराया जेणेव आउहघर साला तेणेव उवागच्छइ २ त्ता चक्करयणस्स आलोए पणामं करेइ २ त्ता जेणेव चक्करयणे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता लोम हत्थयं परामुसइ २ त्ता चक्करयणं पमज्जइ २ त्ता दिव्वाए उदगधाराए अब्भुक्खेइ २ त्ता सरसेणं गोसीस चंदणेणं अणुलिप्पइ २ त्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं मल्लेहिं अच्चीणइ पुप्फारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं वण्णारुहणं चुन्नारुहणं वत्थारुहणं आभारणारुहणं करेइ २ त्ता अच्छेहिं सण्णेहिं सेएहिं रययामएहिं अच्छरसा तंदुलेहिं चक्करयणंस्स पुरओ अट्ठट्ठ मंगलए आलिहइ तंजहा सोत्थियं सिरिवच्छ नंदियावत्त वद्धमाणग भद्दासण मच्छ कलस दप्पण अट्ठ मंगलए आलिहित्ता काऊण करेइ उवयारं किंते पाडल मल्लिय चंपग असोग पुण्णाग चूयमंजरी णवमालिअ वउल तिलग कणवीर कुंद कोज्जय कोरंटपत्त दमणय वरसुरहि सुगंध गंधि यस्स

कयग्गह गहिय करयल पब्भट्ठ विप्पमुक्कस्स दसद्धवरणस्स कुसम निगरस्स तत्थ चित्तं जाणुस्सेह पमाण मित्ते ओहिं- निगरं करित्ता चंदप्पहवइर वेरुलिय विमल दंड कंचण मणिरयण भत्ति चित्तं काला गुरु पवर कुंदरुक्क तरुक्क धूवगंधुत्त माणुविद्धं च धूमवट्टिं विणिमुअंते वेरुलिय मय कडुच्छुयं गहाय पयत्ते धूवं डहइ २ त्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोस कइ २ त्ता वामंजाणुं अच्चेइ जाव पणामं करेइ २ त्ता आउध घर सालाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता.

अर्थः-भ-भरत राजा, जे-जहां, आ-आउध घर, सा-साला है, ते वहां, उ,आ आकर, च-चक्ररतन को, आ-देखकर,प-प्रणा- म करके, जे जहां, च-चक्ररतन है, ते वहां, उ-आ आकर, लो- मोर पिंछी की पूंजणी, प-ले लेकर, च-चक्ररतन, प-पूंज २ कर, दी-दिव्य, उ पानी की धारासे, अ-सींच २ कर, स-सरस रस सहित, गो-गोसीर्ष, चं-चन्दन, अ-लेप २ कर, अ-अग्र उत्तम व प्रधान, गं-सुगंध वस्तु द्वारा, म-फूल की माला से, अ-अर्चा पूजा करी, पु-फूल की मालाएं चढ़ाईं, म-फूलकी मालाएं पहि- नाईं, गं-गंध द्रव्य चढ़ाया, व-अनेक आरोपण, चु-चूर्ण, गंध, पुड़ी के आरोपण, व-वस्त्र साड़ी का आरोपण, आ-आभरण गहने का आरोपण,क-कर २ के,अ-निर्मल सु-सुलक्षणी सकोमल से श्वेत, सफेद, र-रजत रूपा मय, अ-अत्यंत स्वच्छ हैं स्फटि- क.जैसे तं-चांवल द्वारा, च-चक्ररतन के, पु-आगे, अ-आठ २, मं-मंगलिक, आ-लिखकर, तं-कही, सो स्वस्ति १ श्री श्रीवत्स २ नं-नंद्यावर्त ३, व-वर्द्धमान, सराव संपुट ४, भ-भद्रासन ५, म- मच्छ ६, क-कलस ७, द-दर्पण ८, अ-आठ, मं-मंगलिक, आ-

कर करके, का-किया, उ-उपचार, की-वह कैसा उपचार, पा पाटन वृक्ष के फूल, म-मालती वृक्ष के फूल, च चम्पा के फूल, अ-अशोक वृक्षके फूल, पु-पुण्णागवृक्ष के फूल, चु आम की मंजरी, न-नव मालती के फूल, ब-बकुरसीरी के फूल, ती-तिलक वृक्ष के फूल, क-करोर के फूल कुं-कुंद वृक्ष के फूल,कुं-कुंज्य कुवा के फूल,को-कोरंट वृक्ष के फूल,प-दमना के फूल,व प्रधान,सुं-सुरभी,सु सुगंध,गं-गंधित ऐसे,क-हाथ से ग्रहण करना चाहे पर ग्रहे नहीं अथवा हाथ से गिर पड़े। जिससे क-हाथ से रख उन्हें बिखेर, तथ-वहां चक्ररतन के चारों ओर जो पृथ्वी प्रदेश है वहां, ची चित्र संयुक्त ढेर किया, द-पांच वर्ण के, फु फूल के, नी-समूह, त वहां आश्चर्यकारी, जा-ढेर तक अर्थात् जितना प्रमाण था वहां तक, उ-सीमा मर्यादा तक फूलको बिखेर कर, चं-चंद्रकांत रतन, व वज्रहीरा, वे-वैडूर्य रतन मय ऐसा, क-धूप का कुडछा, ग लेकर, प-उदयमवंत हुए, धु-धूप खेया, द-दिया, धूप खेकर स-सात आठ पैर, प-पीछे सरक कर वा-बायां घुटना अ-ऊंचा रख, जा-यावत्, प-प्रणाम कर करके, आ-आउध घर, सा-शाला में से, प-निकल निकल कर.

यहां चक्र पूजने की विधि भी नमोत्थुणं रहित द्रौपदी सूरियाभ के पूजन जैसी समझना चाहिये।

अब विस्तार पूर्वक कौणिक राजाने श्री महावीर स्वामी को किस प्रकार वंदे और पूजे उस विधि को "उववाई सूत्र" से लेकर लिखते हैं।

चंपाए णयरीए मझं मझेणं निग्गछइ २ त्ता जेणेव पुण्ण भद्दे चेईए तेणेव उवागछइ २ त्ता समणस्स भगवउ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादीए तित्थयराइसेय पासइं २

त्ता अभिसेकं हत्थि रयणं ठवेइ २ त्ता अभिसेकाओ हत्थि-रयणाओ पच्चारुहइ २ त्ता अवहट्टु पंचराय ककुहाइं तंजहा खग्गं १ छत्तं २ उप्फेसं ३ वाहणाओ ४ बालवीयणं ५ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं पंच विहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति तंजहा सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाइं अचित्ताणं दव्वाणं अवि उसरणयाए एगसाडियं उत्तरासगं करणेणं चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं मणसोएगत्त भाव करणेणं समणं भगवं महा-वीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ त्ता वंदइ नमंसइ २ त्ता तिविहाए पज्जुवासणायाए पज्जुवासंति तंजहा काइया वाइया माणसियाए काइया तावसं कुयंग्गाहत्थयाए सुस्सु समाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडा पज्जु वासंति वाइयाए जं जं भगवं वागरेइ तं तं एवमेयं भंते अवि-तहमेयं भंते असंदिद्धमेयं भंते इच्छियमेयं भंते पडिच्छियमेयं भंते सेजहेणं तुज्झे व यह अपडि कूलमाणे पज्जुवासइ माणसियाए महयसंवेगं जणइत्ता तीव्वधम्माणुरागरत्ते पज्जुवासंति ॥

अर्थः—कौणिक राजा च-चंपा, न-नगरीके, म-मध्यभाग से, नी निकल निकल कर, जे जहां, पु-पूर्ण भद्र चैत्य है, ते वहां, उ आ आकर, स-श्रमण, भ-भगवत, म-महावीर के, अ न अधिक दूर न अधिक पास, छ-छत्र आदि, ती तीर्थं करके, से-अतिशय, पा-देख देखकर, अ पाटवी, ह-हाथी, र-रतन से. प नीचे उतर २ व.र. अ.अलग रक्खे. प पांच राजा के.

कु चिन्ह, तं वे कहते हैं, ख.खड्ग १, छ.छत्र २, उ-मुकुट ३, वा मोजे ४, वा चामर ५, जे-जहां, स-श्रमण, भ-भगवंत, म महावीर, ते-वहां, उ आ २ कर, स-श्रमण, भ-भगवंत, म महावीर देव को, प, पांच प्रकार से अ-सन्मुख-अ-जाने की विधि करके सन्मुख गये, तं-वह कहते हैं, स-सचीत फूल तबोलादि, द-द्रव्य, वो अलग रख, अ-अचित्त द-द्रव्य आभरणादि, अ-अनित्य पास में रक्खे, ए-एक पन्हे का वस्त्र उसे, उ-उत्तर स वायें कंधे पर रख, च-भगवंत को दृष्टि गोचर देखे, अं-दोनों हाथ जोड़कर, म मन का एकाग्र भाव, क-कर करके, स-श्रमण, भ-भगवंत, म-महावीर को, ती तीन वक्त, आ-दाहिनी ओर से शुरू कर, प-प्रदक्षिणा कर करके, व-स्तुति कर नमस्कार करके, ती-तीन प्रकार की, प-सेवा सेवा करने लगे, तं-वह कहते हैं, का-काया से १ वा-वचन से २, मा-मनसे ३, ता-प्रथम तो संकुचित किये, अ-अग्रहाथ पगको, भ-अच्छी तरह सेवा करते हुए, अ-सन्मुखं, वी-विनय कर, पं-दोनों हाथ जोड़, प-सेवा करते हैं, वा-वचन की, जं-जो २ भगवान, वा-कहते हैं. अे. इसी प्रकार आपका वचन, भं-हे पूज्य, अ मिथ्या नहीं हो सक्ता तुम्हारा वचन, भ हे पूज्य, अ-संदेह रहित, अे-आप का वचन, भं-हे पूज्य, प विशेष चाहता हूं आप का वचन, भं हे पूज्य, से-जैसा, तुं-आप कहते हो वैसा ही, अ-न उलांघते, प-सेवा करता हुआ, मा-मन को, म-गहरे वैराग्य, ज पैदा किया पैदा करके, ती-तीव्र उत्कृष्ट धर्म पर, रा-राग भाव लाते हुए; प-सेवा करते हैं।

यहां श्री वीतराग वंदन की विधि इस प्रकार कौणिक राजा ने की। पर सावद्य पूजा कुछ न की। सूरियाभ, द्रौपदी, भद्रासार्थवाही भरतेश्वर की पूजा प्रतिमा संबंधी जैसी है वैसी

यह नहीं है। उनने प्रथम१ मोर पिंछी से पूंजकर२ स्नान कराया ३ चंदन लगाया ४ वस्त्र पहिनाये ५ सुगंध द्रव्य से अर्चकर ६ फूल ७ फूलमाला ८ चूर्ण ६ वस्त्र आभरण ये पांच वस्तु मुख आगे चढ़ाई, १० फूलमाला विखेर कर ११ चांवल के आठ मंगलिक किये १२ धूप दिया। इतने वोल सूरियाभ की तरह प्रतिमा के आगे द्रौपदी ने किये। भद्रा ने यक्ष के आगे किये। भरतेश्वर ने चक्र के आगे किये और उन्हीं की तरह तुम भी प्रतिमा के आगे करते हो। जिन प्रतिमा जिनराज सरीखी भी कहते हो तो तुम से तो राजा कौणिक अत्यंत भक्तिवान था और प्रतिमा से अधिक श्री भगवंत स्वयं मौजूद थे तो फिर उनने तुम्हारी तरह सावद्य पूजा क्यों न की ? अगर भगवंत और भगवंत की प्रतिमा की पूजा एकसी कही होती तो समझते कि जो प्रतिमा द्रौपदी ने पूजी है वह भगवंत की ही है पर पूजा विधि तो नाग, भूत, यक्ष, वैसमण, चक्ररत्न के समान ही द्रौपदी ने की। इसलिये वह प्रतिमा भगवंत की सिद्ध नहीं हो सक्ती। जो आरंभ, परिग्रह सहित विषय कषाय रक्त जिन हैं अवधि अज्ञानी तथा विभंग ज्ञानी देवता जिन हैं उन जिनकी प्रतिमा होगी।

तब हिंसा धर्मी कहेंगे कि पूजा की विधि भगवंत कौणिक से भिन्न हुई पर जिन प्रतिमा तो कही है नाग, भूत, यक्ष, वैसमण प्रतिमा तो नहीं कही ? इस का उत्तर ठाणांग के तीसरे ठाणे में कहा है।

तओ जिणा पण्णत्ता तंजहा ओहिनाण जिणे, मण-पज्जवनाण जिणे, केवलनाणजिणे, तओ केवली पण्णत्ता तंजहा ओहिनाण केवली, मणपज्जवनाण केवली, केव-

लनाण केवली, तओ अरहा पएणत्ता तंजहा ओहिनाण अरहा, मणपज्जवनाण अरहा, केवल नाणअरहा।

अर्थः—त-तीन, जि-जिन, प-कहे हैं, तं-वे कहते हैं। उ-अवधि ज्ञान सहित वे अवधि जिन कहलाते हैं, म-मनपर्यव ज्ञानी जिन, के-केवल ज्ञानी जिन, त-तीन, के-केवली, प-कहे, तं-वे कहते हैं, उ-अवधि ज्ञान केवली, म-मन पर्यवज्ञानी केवली, के-केवल ज्ञानी केवली, त-तीन, अ-अरिहंत, प-कहे, तं-वे कहते हैं, उ, अवधि ज्ञानी अरिहंत, म-मन पर्यवज्ञानी अरिहंत, के-केवल ज्ञानी अरिहंत।

यहां अवधि नाणी को भी जिन, केवली अरिहंत कहा है पर केवल ज्ञानी केवली, केवल ज्ञानी अरिहंत, केवल ज्ञानी जिन, इन तीनों को तो सचित वस्तु धूप, पुष्प, चंदन, विले पन, दीप आदि पांच इंद्रिय के भोग नहीं कल्पते। वे जिस दिन से अणगार हुए उसदिन से ही उनने वोसिरा दिये हैं। उन की भक्ति कौणिक राजा ने की उसी प्रकार से हो सक्ती है पर द्रौपदी ने की उस तरह से नहीं, और मन पर्यव ज्ञानी केवली मन पर्यव ज्ञानी अरिहंत, मन पर्यव ज्ञानी जिन ये तीन तो सर्व व्रत्ति साधु हैं इन्हें भी सचित वस्तु आरंभ सहित भक्ति नहीं कल्पती। जिस दिन से अणगार हुए उस दिन से उनने वोसिरा दिये हैं। अब तीर्थंकर, साधु, केवली की भक्ति सावद्य क्रिया द्वारा किसी ने की हो तो सूत्र में दिखाओ। जैसे पुरुष हों वैसी ही भक्ति भी होती है।

रायपसेणी में तीन आचार्य कहे १ कलाचार्य २ शिल्पाचार्य ३ धर्माचार्य। उन में कलाचार्य, शिल्पाचार्य की भक्ति करना जहां लिखा है वहां स्नान कराना, भोजन कराना और धन देना कहा है. पर धर्माचार्य की भक्ति के वर्णन में स्नान,

भोजन, धन देने का उल्लेख नही है क्योंकि वृत्तिवंत को अकल्पनीक हैं। उनके लिये तो " वंदइ नमंसइ ' और सूझता आहार पानी और चौदह प्रकार का दान देना कहा है। इसी प्रकार जो पुरुष जैसा हो उसकी प्रतिमा भी वैसी ही होती है और उसकी भक्ति भी वैसी ही होती है। द्रौपदी ने पूजा की वह प्रतिमा भगवंत की नहीं हो सक्ती। वीतराग को साक्षात् किसी श्रावक ने द्रौपदी की तरह न पूजे, तो भगवंत से प्रतिमा बड़ी कैसे हो गई? वह प्रतिमा भगवान् की नहीं थी।

फिर जो प्रतिमा अभी तुम पूजते हो उसे वस्त्र नहीं पहिनाते हो पर आभूषण तो पहिनाते हो यह अधूरी भक्ति करते हो। दिगम्बर तो वस्त्र और गहने एक भी नही पहिनाते। बौद्ध की प्रतिमा के गले में जनोई ही होती है, मस्तक पर शिखा रखते हैं, इन में सच्ची रीति कौन सी? द्रौपदी ने, देवता ने तो आभूषण और वस्त्र दोनों पहिनाये। इस प्रकार उनकी तरह तुम्हारी प्रतिमा तो नहीं दीखती? प्रतिमा किस तरह बनाना, पूजना ऐसा उल्लेख सूत्र में हो तो दिखाओ? तब हिंसा धर्मी कहेंगे कि जब जिनवर क्यों कहा? इसका उत्तरः—

१ जम्बू द्वीप पन्नती में श्रीऋषभदेव स्वामी ने संयम लिया वहां " आगाराओ अणगारीयं पव्वइया " कहा अर्थात् आगार से अणगार हुए अर्थात् घर त्याग कर अणगार हुए।

२ ज्ञाता में मल्लीनाथ ने संयम लिया वहां भी " आगाराओ अणगारीयं पव्वइया " आ-गृहवास त्यागकर अणगार पना अंगीकार किया।

३ आचारंग में श्री महावीर ने संयम लिया वहां " आगाराओ अणगारीयं पव्वइया " अर्थात् घरवास त्यागकर अण-

गारपना अंगीकार किया। ऐसा कहा। इस प्रकार सूत्र में जगह २ जिन ने दीक्षा ली उन ने ऐसा ही कहा है। श्री वीतराग, गणधर, राजा, सेठ, सेनापति, गाथापति, महाबलकुमार सुदर्शन सेठ, ऋषभदत्त, देवानंदा, जेवंती, मृगावंती, उदाई राजा, कार्तिक सेठ, मेघकुंवार, थावर्चापुत्र, सेलक राजा, सुखदेव इत्यादि जिन ने संयम लिया वहां उन्हो ने यही कहा "आगारओ अणगारीयं पव्वइया" घरवास त्यागकर अणगारपना अंगीकार किया। घर त्यागकर निकले, इस हिसाब से केवल ज्ञानी जिन और मन पर्यवनाणी जिन इन दो जिन के तो घर नही हो सकता। जो केवली जिन के घर है ऐसा कहते है वे महा मूर्ख, मंद बुद्धि, भारी कर्म वाले, दुर्लभ बोधि जीव है।

राजगृही, चंपा, तुंगीया, आलंबिया, सावत्थी आदि कई जगह श्रीवीतराग तथा मुनिराज पधारे वहां राजा, सेठ और सेनापति आदि वंदने गये वहां भी ऐसा कहा कि चलो हे देवानु प्रिय! गुणशील, पूर्णभद्र बाग में भगवंत तथा साधु आये है उन्हे वंदने जाते हैं, पर ऐसा किसी ने नहीं कहा कि चलो जिन घर जाते हैं। तो इस से स्पष्ट है कि केवली भगवान् के घर नहीं होता, जो ऐसा न कहकर उनके घर होता है ऐसा कहते है वे झूंठ बोलते हैं।

फिर सूत्र में जगह २ आचारंग, ठाणांग, वृत्तिकल्प में जहां २ साधु रहते हैं उस स्थान को "उवासय" अर्थात् अल्प काल के आश्रय वास्ते उपाश्रय कहा है। पर कहीं भी जिनघर, मुनिघर, ऐसा नही कहा। "दशाश्रुत स्कंध" में भो प्रतिमा धारी साधु को भी तीन प्रकार के उपाश्रय में रहना कहा है पर घर में रहना कही कहा। इस प्रकार अनेक उदाहरण हैं। इस लिये द्रौपदी के अधिकार में जिनघर कहा यह पाठ सच्चा है, पर केवल ज्ञानी जिन उसका अर्थ नहीं है।

जिन जिन के घर होता है वे जिन समझना चाहिये। घर वासी जिन केवल ज्ञाणी मनपर्यय ज्ञाणी जिन नहीं हो सक्ते। जिन घर अर्थात् अवधि ज्ञानी जिन, चार गति के जीव, चार जाति के देवता, उनके घर होता है। अवधि ज्ञानी जिनके सूत्र में कई जगह घर कहे हैं। ज्ञाता अध्ययन दूसरे में कहा है, विजय चोर राजगृही नगरी के जितने स्थान जानता है उन के उल्लेख में लिखते हैं:—

राय गिहस्स नगरस्स वहुणि अइगमणाणिय निग्ग मणाणिय दाराणिय अवदाराणिय छिंडिउय खंडीउय नगरणिद्धमणाणि य संवट्टणाणि य निवट्टणाणिय जुयखं- लिय पाणागाराणिय वेस्सागाराणिय तक्करठाणाणिय संघाडगाणिय तियाणिय चउकाणिय चच्चराणिय णाग घराणिय भूयघराणिय जक्खदेउलाणिय।

अर्थः—रा-राजगृही, न-नगर में, व-वहुत, अ-घुसने के स्थल जानता है, नी-निकलने के गुप्त मार्ग आदि जानता है, पा-मद्यपान के घर, वे-वैश्या के घर, त--चोर के घर, सं--दो रास्ते मिलें. ती- तीन मार्ग मिलें,च-चार राह मिलें,च-ऐसे चौक में, ना.नागदेव के घर, भू-भूत के घर, ज--यक्ष के देवालय।

ये अवधि ज्ञानी जिन, यक्ष और भूत के घर कहे! विज- य चोर यक्षादिक के घर जानता है इत्यादि ज्ञाता सूत्र में कई जगह विस्तार पूर्वक वर्णन है। जो विजय चोर इतने स्थानं जानता है तो तीर्थंकर के देवालय नहीं जानता था क्या? पर यह सिद्ध है कि उस समय राजगृही में तीर्थंकर के देहरे नहीं थे।

फिर ज्ञाता दूसरे अध्ययन में भद्रा सार्थवाही पुत्र की वांछा होने के कारण पूजन करने की इच्छा करती है। वहां कहा है—" जेणेव नागघरे जाव वेसमण घरे "। नाग के घर हैं, यक्ष के और वेसमण के घर हैं। जाव शब्द में सब घर समझना चाहिये। नागघर, भूतघर, यक्षघर, इन्द्रघर, वंघघर, रुद्रघर, शिवघर, वेसमणघर, तो यह समझना चाहिये कि अवधि ज्ञानी जिनके घर कहा है। जिन देवता के घर हैं उन की प्रतिमा के भी घर हैं और वीतराग के ही घर नहीं तो प्रतिमा के घर कहां से हुए?

फिर कोई पूछे कि तीर्थंकर के सिवाय अन्य को जिन कहां कहा है उसका उत्तरः-

१ तीर्थंकर को जिन कहते हैं। २ सामान्य केवली को जिन कहते हैं। ३ अवधि ज्ञानी को जिन कहते हैं। ४ मन पर्य्यव ज्ञानी को जिन कहते हैं। ५ बारहवें गुण स्थान वाले को जिन कहते हैं। ६ चउदह पूर्वी को जिन कहते हैं। ७ यहां तक कि दस पूर्व वाले को भी जिन कहते हैं। ८ ग्यारहवें गुण स्थान वाले को भी जिन कहते हैं। ९ आवती चौबीसी को कहते हैं। १० जिन नामक द्वीप को जिन कहते हैं। ११ जिन नामक समुद्र को जिन कहते हैं। १२ कंदर्प को जिन कहते हैं। १३ नारायण कृष्ण को जिन कहते हैं। १४ बहु धनवंत को जिन कहते हैं।

वीतरागो जिनश्चैव। जिनः सामान्य केवली।
कंदर्पो हि जिनश्चस्यात्। जिनो नारायणो हरिः ॥१॥

अर्थः—१ अरिहंत घातिक कर्म को जीत गये इस लिये

जिन, २ इस प्रकार सामान्य केवली ने भी चार घन घाती कर्म जीते इसलिये जिन, ३ कंदर्प सब जीवों को व्याप्त हुआ इस लिये जिन, और वासुदेव ने अपने भुज बल से तीन खंड विजय किये इस लिये जिन, फिर जैसा समय हो वैसा अर्थ करना चाहिये।

द्रौपदी ने विवाह के समय निदान के तीव्र उदय काल में भर्तार की इच्छा पूर्ण होने के लिये प्रतिमा पूजी है, उस समय चारित्र मोहनीय का तीव्र उदय है। मिथ्या दृष्टि है। उस मिथ्यात्व के कारण श्री वीतराग निरागी पर भाव भक्ति नहीं है। इसलिये वह प्रतिमा किसी अवधि ज्ञानी जिन की होना चाहिये। तव हिंसा धर्मी कहेंगे कि अवधि ज्ञानी जिन की प्रतिमा होती तो नमोत्थुणं क्यों कहती? अवधि ज्ञानी में तो नमोत्थुणं के गुण नहीं है। यह बात सच्ची है पर अन-अरिहंत को मूर्ख अरिहंत मान वैठते हैं। तीर्थंकर मान वैठते हैं और नमोत्थुणं दे देते हैं। ऐसे उदाहरण शास्त्र में प्रस्तुत हैं।

इच्चेए दुवालस आजीवियोवासगा अरहंत देवयागा अम्मापिउसुस्सूसगा।

अर्थः-इस प्रकार ये बारह आजीविय गौशाला के मुख्य श्रावक कहे। इस गौशाला को ये अरिहंत समझ अर्हत् पन से माता पिता की सेवा सुश्रुषा करने वाले अरिहंत की भक्ति करने वाले कहे गये। हम आनंद पूर्वक कहते हैं कि हमारे लिये गौशाला अरिहंत है तो ये श्रावक गौशाला को नमोत्थुणं देते हैं या नहीं? अरिहंत समझे कि नमोत्थुणं कहने का नियम लागू हुआ।

२ फिर शतक पंद्रहवें में कहा कि गौशाला मंखली पुत्र सावत्थी नगरी में:-

अजिणा जिणप्पलावी अणअरहा अरहप्पलावी अकेवली केवलीप्पलावी असवन्नू सव्वन्नूप्पलावी अजिणे जिण इंप्पगासमाणे विहरइ

अर्थः-जिन नहीं पर जिन हूं ऐसा प्रलाप करते हैं अरिहंत नही और अरिहंत हूं ऐसा प्रलाप कर कहते हैं । केवल ज्ञान नहीं और मुख से कहे कि केवली हूं।सब पदार्थ का जान कार नहीं और कहे कि मैं सब पदार्थ का ज्ञाता हूं। अजिन हो कर जिन हूं ऐसा शब्द कहता हुआ विचरे।

अजिन, अनअरिहंत, अकेवली, असर्वज्ञ जीव अरिहंत केवली सर्वज्ञ कहलाते हैं और उनके मानने वाले उन्हें तीर्थंकर समझते हैं और नमोत्थुणं कहते हैं ।

३ फिर पंद्रहवें शतक में गौशाला का अयंपुल श्रावक विचार करता है किः-

एवं खलु मम धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलि पुत्ते उप्पण्णणाणदंसणधरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी इहेव सावत्थीए नयरीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारा-वणंसि आजीवियसंघस्सपरिवुडे आजीविय समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

अर्थः—ए-मेरा निश्चय पूर्वक धर्माचार्य धर्म उपदेश दाता गौशाला मंखली पुत्र, उ-उत्पन्न हुए ज्ञान, दर्शनधारी,जा-आदि सर्वज्ञ, स-सबको देखने वाला, इ-यहां ही सा-सावथ्थी नगरी में, हा-हालाहल कुंभकारी के, कुं—कुंभार अपने में,आ-आजीवक के साथ आया है,आ-आजीविक शास्त्र द्वारा अपनी आत्मा को भावता हुआ विचरता है।

उन्हें प्रातःकाल में जाकर वंदना करूंगा। ये गौशाला को अरिहंत समझते हैं और नमोत्थुणं भी कहते हैं।

४ उपासक दशाङ्ग के सातवें अध्ययन में सकडाल कुंभार को देवता कह गये।

एहीतिणं देवाणुप्पिया कल्ल इह महामाहणे उप्पण्ण नाण दंसणधरे तीयप्पडुप्पण्णमणागयं जाणए अरहाजिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी तिल्लोगहिय महिय पुईए सदेव मणुस्सासुरस्स लोयस्स अच्चणिज्जे वंदणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयंचेइयं जाव पज्जुवासणिज्जे सवोकम्मं संपया संपउत्ते तएणं तुम्भं वंदिज्जाहि जाव पज्जुवासेज्जाहि पाडिहारियेणं पीढफलगासिज्जा संथारएणं उवनिमंतेज्जाहि।

अर्थः-ए-यहां आवेगा, दे-हे देवानुप्रिय, क-कल, इ-यहां, म-बड़ा महानुभाव, उ-उत्पन्न हुए, ना-ज्ञान, दं-दर्शन चारित्र का, ध-धारक, ती-भूतकाल, प-वर्तमान काल, अ-भविष्य काल, अ-अरिहंत, जि-जिन, के-केवली, स-सर्वज्ञ ज्ञाता स-सर्व दर्शी, ती-त्रैलोक्य, पै दृष्टिगत हुआ, म-वड़ा, पु-पूज्यनीक, स-देवता सहित, म-मनुष्य के अ-असुर कुमार के लो-लोक के, अ-अर्चनीक व-वंदनीक, पु-पूजनीक, स-सत्कार करने योग्य, स-सम्मान करने योग्य, क-कल्याण कारी, मं-मंगलिक, दे-देव समान, चे-ज्ञानी, जा-यावत्, प-सेवा करने योग्य सुंदर कर्म वाला, स-सत्य कर्तव्य रूप, सं-सम्पदा, सं-संयुक्त, ते-उन्हे तु-तुम, वं-वंदना करना, जा-यावत्, प-सेवा योग्य सेवा करना पा-पीठ, पी-बाजोठ, फ-पाटिया, सी शय्या पाट अथवा

स्थान, सं-संथारा तृणादि, उ-समीप जा कर आमंत्रण करना

इत्यादि उपरोक्त रीति देवता ने सकडाल कुंभार से कही। तब सकडाल ने समझा कि मेरा धर्माचार्य गोशाला मंखली पुत्र ऐसा गुणवान् है। वह कल आवेगा और देवता ने तो श्री महावीर स्वामी के सम्बन्ध में कहा था। इस तरह गोशाला के श्रावक नमोत्थुणं अन अरिहंत को अरिहंत समझ कर देते हैं।

ये चार उदाहरण सूत्र के दिये है।

५तथा छः दिसाचर आदि दे गोशालामती साधु प्रतिक्रमण करते हैं तब किस को अरिहंत समझ कर नमोत्थुणं देते है? गोशाला को ही अरिहंत समझ कर कहते है न? तथा गोशाला को अरिहंत समझ कर नमोत्थुणं देते हैं न?

६ तथा जमाली के श्रावक साधु भगवान के प्रतिनिक आवश्यक करते हुए नमोत्थुणं कहते हैं वे किसे कहते हैं? जमाली को ही केवली समझ कर कहते हैं न?

७ तथा अनुयोग द्वार सूत्र में लोकोत्तर द्रव्यावश्यक के करने वाले कहे है वे भगवान् की आज्ञा के बाहर हैं और दोनों समय प्रतिक्रमण करते हैं और भगवंत उन्हें मिथ्या दृष्टि कहते है वे नमोत्थुणं किसे देते हैं?

जे इमे समणगुण मुक्कजोगी छकायनिरणु कंपा हयाइव उद्दामा गयाइव निरंकुसा घट्ठामट्ठा तुप्पोट्ठा पंडुरपडं पाउरणा जिणाणं अणाणाए सच्छंद विहरिऊणं उभओकालं आवस्सयस्स उवट्ठंति।

अर्थः-जे-जिन ने प्रत्यक्ष, स-साधु के गुण, मु-त्यागे है, जो-व्यापार जिन के छः छः कायकी दया गई है जिनको, ह-घोड़े

की तरह, उ-चौकड़ी रहित, ग-हाथी की तरह, नी-गुरु की आज्ञा रूप अंकुश रहित, घ-घिसे हैं तालुए जिन ने, प-लगाया है शरीर और सिर पर तेलादि जिनने, तु-होठ लाल किये हैं, पं-सफेद उज्वल, पा-धुले वस्त्र, जी-पहिने हैं जिनने, अ-तीर्थंकर की अनाज्ञा मे, स-अपने स्वच्छंद, वि-विचर कर, उ-सुवह सन्ध्या, आ-आवश्यक के लिये, उ उठते हैं।

८ तथा अभवी साधु के भेष में रहकर नमोत्थुणं कहते है वे किसे कहते है ?। श्री वीतराग को तो वे देव मानते नहीं तो नमोत्थुणं का मालिक कौन ? ऐसे अनेक सूत्र में उदाहरण हैं। जो अज्ञानि,मूर्ख,मिथ्यात्वी के कारण अजिन को जिन समझते है और नमोत्थुणं भी देते हैं, पर वीतरागपना पहिचाने सिवाय नमोत्थुणं कहने का लाभ कुछ नही होता।

तथा किसी ने अपने कुल देव की पूजा सावद्य आरंभ करके, की और उसके आगे नमोत्थुणं कहे तो क्या नमोत्थुणं देने से वह कुलदेवी की पूजा सम्यक्त्व खाते हुई ? नहीं, उसी प्रकार द्रौपदी ने नमोत्थुणं कामदेवादि अवधि ज्ञानी जिनके आगे कहे तो किसी ने इन सावद्य पूजा के वंछक को तीर्थंकर केवल ज्ञानी जिनराज नहीं समझना चाहिये। फिर यही द्रौपदी विवाह होने के पीछे सम्यक्त्व पाई, संयम लिया, तव कहीं भी प्रतिमा पूजन का अधिकार नहीं लिखा, फिर प्रतिमा तीर्थंकर की थी तो उसने लोम हाथ से पूंजती हुई प्रतिमा का स्पर्श कैसे किया ? जो तीर्थंकर की प्रतिमा होती तो स्त्री ने क्यों स्पर्श किया ?

फिर तुम जिन प्रतिमा को जिन सरीखी कहते हो तो श्री वीतराग ने तो उत्तराध्ययन के सोलहवें अध्याय में तथा

समवायांग के नवमें समवायांग में तथा प्रश्न व्याकरण के चौथे संवर द्वार में। इसी प्रकार अन्य कई सूत्र में ब्रह्मचारी के लिये इतने बोल वर्जनीक कहे है।

१ स्त्री सहित स्थानक २ स्त्री की कथा ३ स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना ४ स्त्री का अंग निरखना ५ स्त्री का शब्द सुनना ६ स्त्री के भोग याद करना ७ स्त्री का स्पर्श, इतने बोल वर्जनीक कहे हैं, फिर आचारंग, प्रश्न व्याकरण, समवायांग, पच्चीस भावना में भी स्त्री का स्पर्श वर्जनीक कहा है। साधु, साध्वी, ब्रह्मचारी, श्रावक, श्राविका के लिये भी यही नियम बताया है। तो श्री वीतराग त्रिलोक के स्वामी जगत् चिंतामणि विश्वभूषण को उन्हें स्त्री कैसे स्पर्श कर सकती है ? तो यह बात बिलकुल अयुक्त है।

१ श्री वीर वर्द्धमान स्वामी को देवानंदा ने पुत्र स्नेह के कारण सन्मुख देखे तो स्तन में दूध आगया पर पुत्र समझकर भगवान् का स्पर्श नहीं किया।

२ देवकी राणी को छः अणगार को पुत्र समझ अत्यंत स्नेह जागृत हुआ स्तन में दूध आया पर मुनि का स्पर्श नहीं किया।

३ उववाई सूत्र में कहा—"कौणिक आदि ने तो भगवान् के सामने बैठ कर धर्म कथा सुनी और सुभद्रा आदि रानियों ने "ठियाचेव पज्जवासंति' खड़ी रह कर धर्म कथा सुनी।" स्त्री जाति को भगवान् के सामने बैठना भी नहीं लिखा तो स्पर्श कैसे हो ?

४ भगवती सूत्र शतक नववें देवानंदा ब्राह्मणी भगवत की माता ने खड़े रह कर धर्म कथा सुनी पर बैठने भी न पाई।

५ इसी प्रकार बारहवें शतक में जेवंती, मृगावंती आदि का अधिकार है।

६ गणधर गौतमादि "नाइ दुरमणासन्ने" न अधिक समीप न अधिक दूर बैठे।

७ इन्द्र, देवता, कौणिक राजा, श्रीकृष्ण, आनंद, कामदेव शंख, पोखली आदि श्रावक वे भी न अधिक दूर न अधिक समीप बैठे, पर स्पर्श नहीं किया।

८ तथा जेवंती, मृगावती, चेलणो, शिवानंदा आदि श्राविका दूर रहीं पर तिलक करने के लिये स्पर्श न किया। इसी प्रकार कौणिक की रानी ने भी स्पर्श न किया। इस उल्लेख से श्री वीत राग के मार्ग में स्त्री का संग भी योग्य नहीं गिना तो जिन प्रतिमा जिन सरीखी जिसे स्त्री स्पर्श करे यह कैसे योग्य समझा जाय ? इसे देखते तो वह प्रतिमा तीर्थंकर की नहीं ठहरती।

श्री वीतराग को तथा साधु को वंदने गये। श्री भरतेश्वर श्रीकृष्ण, कौणिक, उदाई राजा, राय परदेशी, चित्त सारथी आनंद आदि, उनने पांच अभि गम किये वहां "सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाइं"।

स-सचित फूल तम्बोलादि, द--द्रव्य, वि-अलग रक्खे।

सचित द्रव्य दूर रक्खे, यह रीति तीर्थंकर और साधु के वंदन करने की है, तो तीर्थंकर की प्रतिमा की रीति भिन्न क्यों हुई ? जिन प्रतिमा जिन सरीखी तो तुम कहते हो और यह पूजन विधि तो नहीं मिलती ? इसलिये द्रौपदी के अधिकार में भी इन बातों पर निर्णय कर लेना योग्य है।

१ द्रौपदी का पिता मिथ्या दृष्टि २ द्रौपदी श्राविका नहीं ३ द्रौपदी सम दृष्टि नहीं ४ प्रतिमा भी तीर्थंकर की नहीं। वह किस तरह कि प्रथम तो उसने उसे मोर पिंछी से पूंजी

२ दूसरे पूजा भोगी देवता की तरह अभोगी देवता की, की ३ फिर जिन घर कहा। तो जिनराज के घर नही होता। ४ इस न्याय से वह प्रतिमा अविध ज्ञानी जिन कामदेव की होना चाहिये। जिस जिन के घर हो तो उसे स्त्री स्पर्श कर सक्ती है, जिस जिन को पुष्प, चंदन, धूप, दीप, स्नान रुचिकर हो उन्हीं जिन की वह प्रतिमा समझना चाहिये और अवधि ज्ञानी जिन, नाग, भूत, यक्ष, वेसमण को तो स्त्री सुखसे स्पर्शती है जिसका उदाहरण नंदी सूत्र में रोहा के अधिकार में प्रस्तुत है। राजा को पांच पिता कहे उस में रानी ने काम सौभाग्य की इच्छा से वेसमण की प्रतिमा का स्पर्श किया इसलिये हे राजा! तू वेसमण देव का पुत्र है। इन अवधि ज्ञानी जिन का स्त्री ने स्पर्श किया। इस लिये द्रौपदी की भी प्रतिमा वेसमण देव की होना चाहिये! नमोत्थुणं कहे इस लिये तीर्थंकर की प्रतिमा समझना सरासर भूल है। ऐसे तो सूत्र में अनेक उदाहरण हैं। फिर हिंसा धर्मी कहेंगे कि नारद आये तव द्रौपदी खड़ी नहीं हुई इस लिये वह समदृष्टि थी- इसका उत्तर यह है कि द्रौपदी का विवाह वाद निदान पूर्ण हुआ। फिर तो वह सम्यक्त्व हो सक्ती है। इस में कुछ हरकत नहीं। विवाह के वाद निदान पूर्ण होने पर वह धर्म पा सकती है पर विवाह के पहिले समकित व्रत नहीं था। कोई कहे कि विवाह वाद द्रौपदी समकित व्रत पाई, ऐसा उल्लेख किस जगह है तथा उसके गुरू कौन थे? समकित तो उसे विवाह के पहिले ही प्राप्त हो गईथी। विवाह के वाद हुई हो तो उसके गुरु का नाम, स्थान वताओ? इसका उत्तरः-यदि द्रौपदी के गुरु के नाम ठाम का निर्णय करना चाहते हो तो

पहिले प्रतिमा का तो निर्णय कर लेते कि द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी, वह किस तीर्थंकर की, किसने बनाई, किस के समय में हुई, इतना तो निर्णय करके कहते? और सम्यक्त्व के लिये द्रौपदी का गुरु पूछते होतो श्रीकृष्ण बलभद्र, समुद्र विजय, उग्रसेन आदि यादव कौन से गुरु से सम्यक्त्व पाये उन के गुरु का नाम बताओ? तथा राजमती महासती सीयल की खान बहुसूत्री उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्याय में कही है तो संसार में ही वह बहुसूत्री कौन से गुरु के पास से हुई? उसके गुरु का नाम तुमहीं कहो, और द्रौपदी ने नारद को असंयती समझकर विनय न किया। इसलिये तुम द्रौपदी को सम्यक्त्व धारिणी कहते हो सो ठीक है पर श्रीकृष्ण तो सम-दृष्टि थे, उनने पंडुराजा के समान नारद का विनय किया है "वंदई नमंसइ" पाठ है, तो उनने नारद का विनय क्यों किया? यह पाठ ज्ञाता के सोलहवें अध्याय में है कि कोई लौकिक, मिथ्यात्व, समदृष्टि कार्य विशेष से सेवन करे तो भी धर्म न समझे।

जिनमार्ग की रीति से पादोपगमन संथारा तामली तापस ने तथा पूरण तापस ने किया पर वे जिनमार्गी नहीं होगये। तथा भरतेश्वर ने भरतक्षेत्र साधते तेरह तेले किये। पद्मोतर राजा ने द्रौपदी के लिये तेला किया पर कुछ ग्यारहवें व्रत में नहीं गिना जाता। सब रीति जिन सरीखी होती तो जिन प्रतिमा समझते। पिता को भूख लगे और वह पुत्र का भक्षण करले तो यह अनुचित कर्म है। इसी प्रकार तीर्थंकर के लाड़ले पुत्र समान छः काय के जीव तीर्थंकर की भक्ति में मारे जायं तो यह भी अनुचित कार्य है। ऐसी भक्ति वीतराग स्वीकार नहीं कर सकते।

गंध हस्ति आचार्य की की हुई ओघ निर्युक्ति की टीका को हिंसा धर्मी कहते और मानते हैं। उस में लिखा है कि द्रौपदी के एक पुत्र हुआ तब सम्यक्त्व पाई वह पाठ नीचे लिखते हैं।

ओघनिर्युक्तावुक्तं इत्थिजणसंघट्टं तिविहं तिविहेणं वज्जए साहू इति वचनात् त्रिविधि त्रिविधिना साधुनां वर्जनीयःसाधोःस्वकल्पनीये कर्मणिचरते सम्यक्तभावात् द्रौपद्या आगमेषु श्रूयते लोम हत्थे परामुसई लोम हस्तेन परामर्शति परमार्जयतीत्यर्थःतत्पमार्जनेन जिनस्य स्पर्शो जातः जिनस्य स्त्रीजनस्पर्शेत् आशातना स्यात् आशातना सम्यक्ता भावात् एतेन द्रौपदी न सम्यक्त धारिणी संभाव्यते पुनः ओघनिर्युक्त चिरंतनटीकायां गंधहस्ताचार्येणउक्तं द्रौपद्या नृपपुत्रिका निदानकर्तृभिःपञ्चभरतारं प्राप्त सति निदानफलं भुक्त्वा तत्पश्चादेकःपुत्रःप्राप्ते सति साधु सकाशात् द्रव्य सम्यक्तमार्गं प्राप्नुवति।

यह ओघ निर्युक्ति का पाठ और गंध हस्ति आचार्य कृत टीका से इस का उत्तर देख लीजिये।

सूरियाभ तथा विजैपोलिये ने प्रतिमा पूजी कहते हैं उसका उत्तरः—

कितने ही हिंसा धर्मी कहते हैं कि सूरियाभ देवता ने तथा विजय पोलिये ने प्रतिमा पूजी है इस लिये हम भी पूजते हैं, इस का उत्तर कहते हैं, सूरियाभ और विजय पोलिये का

उन्हें प्रातःकाल में जाकर वंदना करूंगा। ये गौशाला को अरिहंत समझते हैं और नमोत्थुणं भी कहते हैं।

४ उपासक दशाङ्ग के सातवें अध्ययन में सकडाल कुंमार को देवता कह गये।

एहीतिणं देवाणुप्पिया कल्ल इह महामाहणे उप्पण्ण नाण दंसणधरे तीयप्पडूप्पणमणागयं जाणए अरहाजिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी तिल्लोगहिय महिय पुईए सदेव मणुस्सासुरस्स लोयस्स अर्चणिज्जे वंदणिज्जे पूयणिज्जे सकारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयंचेइयं जाव पज्जुवासणिज्जे सवोकम्मं संपया संपउत्ते तएणं तुम्मं वंदिज्जाहि जाव पज्जुवासेज्जाहि पाडिहारियेणं पीढफलगसिज्जा संथारएणं उवनिमंतेज्जाहि।

अर्थः—ए-यहां आवेगा, दे-हे देवानुप्रिय, क—कल, इ—यहां, म-बड़ा महानुभाव, उ-उत्पन्न हुए, ना-ज्ञान, दं-दर्शन चारित्र का, ध—धारक, ती—भूतकाल, प-वर्तमान काल, अ-भविष्य काल, अ-अरिहंत, जि जिन, के-केवली, स सर्वज्ञ ज्ञाता स-सर्व दर्शी, ती-त्रैलोक्य, पै दृष्टिगत हुआ, म-बड़ा, पु-पूज्यनीक, स-देवता सहित, म—मनुष्य के अ—असुर कुमार के लो-लोक के, अ—अर्चनीक व-वंदनीक, पु—पूजनीक, स—सत्कार करने योग्य, स-सम्मान करने योग्य, क—कल्याण कारी, मं—मंगलिक, दे—देव समान, चे-ज्ञानी, जा-यावत्, प-सेवा करने योग्य सुंदर कर्म वाला, स—सत्य कर्तव्य रूप, सं-सम्पदा, सं-संयुक्त, ते-उन्हे तु-तुम, वं-वंदना करना, जा—यावत्, प-सेवा योग्य सेवा करना पा—पीठ, पी—बाजोठ, फ-पाटिया, सी शय्या पाट अथवा

स्थान, सं-संथारा तृणादि, उ-समीप जा कर आमंत्रण करना

इत्यादि उपरोक्त रीति देवता ने सकडाल कुंभार से कही। तब सकडाल ने समझा कि मेरा धर्माचार्य गौशाला मंखली पुत्र ऐसा गुणवान् है। वह कल आवेगा और देवता ने तो श्री महावीर स्वामी के सम्बन्ध में कहा था। इस तरह गोशाला के श्रावक नमोत्थुणं अन अरिहंत को अरिहंत समझ कर देते हैं।

ये चार उदाहरण सूत्र के दिये हैं।

५तथा छः दिसाचर आदि दे गोशालामती साधु प्रतिक्रमण करते हैं तव किस को अरिहंत समझ कर नमोत्थुणं देते हैं? गोशाला को ही अरिहंत समझ कर कहते हैं न? तथा गोशाला को अरिहंत समझ कर नमोत्थुणं देते हैं न?

६ तथा जमाली के श्रावक साधु भगवान के प्रतिनिक आवश्यक करते हुए नमोत्थुणं कहते हैं वे किसे कहते हैं? जमाली को ही केवली समझ कर कहते हैं न?

७ तथा अनुयोग द्वार सूत्र में लोकोत्तर द्रव्यावश्यक के करने वाले कहे हैं वे भगवान् की आज्ञा के वाहर हैं और दोनों समय प्रतिक्रमण करते हैं और भगवंत उन्हे मिथ्या दृष्टि कहते हैं वे नमोत्थुणं किसे देते हैं?

जे इमे समणगुण मुकजोगी छकायनिरणु कंपा हयाइव उद्दामा गयाइव निरंकुसा घट्ठामट्ठा कुप्पोट्ठा पंडुरपभं पाउरणा जिणाणं अणाणाए सच्छंद विहरिऊणं उभओकालं आवस्सयस्स उवट्ठंति।

अर्थः-जे-जिन ने प्रत्यक्ष, स-साधु के गुण, मु-त्यागे हैं, जो-व्यापार जिन के छः छः कायकी दया गई है जिनकी, ह-घोड़े

की तरह, उ-चौकड़ी रहित, ग-हाथी की तरह, नी-गुरु की आज्ञा रूप अंकुश रहित, घ-घिसे हैं तालुए जिन ने, प-लगाया है शरीर और सिर पर तेलादि जिनने, तु-होठ लाल किये हैं, पं-सफेद उज्वल, पा-धुले वस्त्र, जी-पहिने हैं जिनने, अ-तीर्थंकर की अनाज्ञा में, स-अपने स्वच्छंद, वि-विचर कर, उ-सुवह सन्ध्या, आ-आवश्यक के लिये, उ उठते हैं।

८ तथा अभवी साधु के भेष में रहकर नमोत्थुणं कहते हैं वे किसे कहते हैं ?। श्री वीतराग को तो वे देव मानते नही तो नमोत्थुणं का मालिक कौन ? ऐसे अनेक सूत्र में उदाहरण हैं। जो अज्ञानि, मूर्ख, मिथ्यात्वी के कारण अजिन को जिन समझते हैं और नमोत्थुणं भी देते हैं, पर वीतरागपना पहिचाने सिवाय नमोत्थुणं कहने का लाभ कुछ नहीं होता।

तथा किसी ने अपने कुल देव की पूजा सावद्य आरंभ करके, की और उसके आगे नमोत्थुणं कहे तो क्या नमोत्थुणं देने से वह कुलदेवी की पूजा सम्यक्त्व खाते हुई ? नही, उसी प्रकार द्रौपदी ने नमोत्थुणं कामदेवादि अवधि ज्ञानी जिनके आगे कहे तो किसी ने इन सावद्य पूजा के वंछक को तीर्थंकर केवल ज्ञानी जिनराज नही समझना चाहिये। फिर यही द्रौपदी विवाह होने के पीछे सम्यक्त्व पाई, संयम लिया, तब कहीं भी प्रतिमा पूजन का अधिकार नही लिखा, फिर प्रतिमा तीर्थंकर की थी तो उसने लोम हाथ से पूंजती हुई प्रतिमा का स्पर्श कैसे किया ? जो तीर्थंकर की प्रतिमा होती तो स्त्री ने क्यों स्पर्श किया ?

फिर तुम जिन प्रतिमा को जिन सरीखी कहते हो तो श्री वीतराग ने तो उत्तराध्ययन के सोलहवें अध्याय में तथा

समवायांग के नवमें समवायांग में तथा प्रश्न व्याकरण के चौथे संवर द्वार में इसी प्रकार अन्य कई सूत्र में ब्रह्मचारी के लिये इतने वोल वर्जनीक कहे हैं।

१ स्त्री सहित स्थानक २ स्त्री की कथा ३ स्त्री के साथ एक आसन पर वैठना ४ स्त्री का अंग निरखना ५ स्त्री का शब्द सुनना ६ स्त्री के भोग याद करना ७ स्त्री का स्पर्श, इतने वोल वर्जनीक कहे हैं, फिर आचारंग, प्रश्न व्याकरण, समवायांग, पच्चोस भावना में भी स्त्री का स्पर्श वर्जनीक कहा है। साधु, साध्वी, ब्रह्मचारी, श्रावक, श्राविका के लिये भी यही नियम वताया है। तो श्री वीतराग त्रिलोक के स्वामी जगत् चिंतामणि विश्वभूषण को उन्हें स्त्री कैसे स्पर्श कर सकती है? तो यह वात बिलकुल अयुक्त है।

१ श्री वीर वर्द्धमान स्वामी को देवानंदा ने पुत्र स्नेह के कारण सन्मुख देखे तो स्तन में दूध आगया पर पुत्र समझकर भगवान् का स्पर्श नहीं किया।

२ देवकी राणी को छः अणगार को पुत्र समझ अत्यंत स्नेह जागृत हुआ स्तन में दूध आया पर मुनि का स्पर्श नहीं किया।

३ उववाई सूत्र में कहा–"कौणिक आदि ने तो भगवान् के सामने वैठ कर धर्म कथा सुनी और सुभद्रा आदि रानियों ने "ठियाचेव पज्जवासंति' खड़ी रह कर धर्म कथा सुनी।" स्त्री जाति को भगवान् के सामने वैठना भी नहीं लिखा तो स्पर्श कैसे हो?

४ भगवती सूत्र शतक नववें देवानंदा ब्राह्मणी भगवत की माता ने खड़े रह कर धर्म कथा सुनी पर वैठने भी न पाई।

५ इसी प्रकार वारहवें शतक मे जेवंती, मृगावंती आदि का अधिकार है।

६ गणधर गौतमादि "नाइ दुरमणासन्ने" न अधिक समीप न अधिक दूर बैठे।

७ इन्द्र, देवता, कौणिक राजा, श्रीकृष्ण, आनंद, कामदेव शंख, पोखली आदि श्रावक वे भी न अधिक दूर न अधिक समीप बैठे, पर स्पर्श नहीं किया।

८ तथा जेवंती, मृगावती, चेलणी, शिवानंदा आदि श्राविका दूर रही पर तिलक करने के लिये स्पर्श न किया। इसी प्रकार कौणिक की रानी ने भी स्पर्श न किया। इस उल्लेख से श्री वीत राग के मार्ग में स्त्री का संग भी योग्य नहीं गिना तो जिन प्रतिमा जिन सरीखी जिसे स्त्री स्पर्श करे यह कैसे योग्य समझा जाय? इसे देखते तो वह प्रतिमा तीर्थंकर की नहीं ठहरती।

श्री वीतराग को तथा साधु को वंदने गये। श्री भरतेश्वर श्रीकृष्ण, कौणिक, उदाई राजा, राय परदेशी, चित्त सारथी आनंद आदि, उनने पांच अभि गम किये वहां "सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाइं"।

स-सचित फूल तम्बोलादि, द--द्रव्य, वि-अलग रक्खे।

सचित द्रव्य दूर रक्खे, यह रीति तीर्थंकर और साधु के वंदन करने की है, तो तीर्थंकर की प्रतिमा की रीति भिन्न क्यों हुई? जिन प्रतिमा जिन सरीखी तो तुम कहते हो और यह पूजन विधि तो नही मिलती? इसलिये द्रौपदी के अधिकार मे भी इन वातों पर निर्णय कर लेना योग्य है।

१ द्रौपदी का पिता मिथ्या दृष्टि २ द्रौपदी श्राविका नहीं ३ द्रौपदी सम दृष्टि नहीं ४ प्रतिमा भी तीर्थंकर की नहीं। वह किस तरह कि प्रथम तो उसने उसे मोर पिंछी से पूंजी

२ दूसरे पूजा भोगी देवता की तरह अभोगी देवता की, की ३ फिर जिन घर कहा। तो जिनराज के घर नहीं होता। ४ इस न्याय से वह प्रतिमा अविध ज्ञानी जिन कामदेव की होना चाहिये। जिस जिन के घर हो तो उसे स्त्री स्पर्श कर सक्ती है, जिस जिन को पुष्प, चंदन, धूप, दीप, स्नान रुचिकर हो उन्ही जिन की वह प्रतिमा समझना चाहिये और अवधि ज्ञानी जिन, नाग, भूत, यक्ष, वेसमण को तो स्त्री सुखसे स्पर्शती है जिसका उदाहरण नंदी सूत्र में रोहा के अधिकार में प्रस्तुत है। राजा को पांच पिता कहे उस में रानी ने काम सौभाग्य की इच्छा से वेसमण की प्रतिमा का स्पर्श किया इसलिये हे राजा! तू वेसमण देव का पुत्र है। इन अवधि ज्ञानी जिन का स्त्री ने स्पर्श किया। इस लिये द्रौपदी की भी प्रतिमा वेसमण देव की होना चाहिये! नमोत्थुणं कहे इस लिये तीर्थंकर की प्रतिमा समझना सरासर भूल है। ऐसे तो सूत्र में अनेक उदाहरण हैं। फिर हिंसा धर्मी कहेंगे कि नारद आये तव द्रौपदी खड़ी नहीं हुई इस लिये वह समदृष्टि थी- इसका उत्तर यह है कि द्रौपदी का विवाह वाद निदान पूर्ण हुआ। फिर तो वह सम्यक्त्व हो सक्ती है। इस में कुछ हरकत नहीं। विवाह के वाद निदान पूर्ण होने पर वह धर्म पा सकती है पर विवाह के पहिले समकित व्रत नही था। कोई कहे कि विवाह वाद द्रौपदी समकित व्रत पाई, ऐसा उल्लेख किस जगह है तथा उसके गुरू कौन थे? समकित तो उसे विवाह के पहिले ही प्राप्त हो गईथी। विवाह के वाद हुई हो तो उसके गुरु का नाम, स्थान बताओ? इसका उत्तरः-यदि द्रौपदी के गुरु के नाम ठाम का निर्णय करना चाहते हो तो

पहिले प्रतिमा का तो निर्णय कर लेते कि द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी, वह किस तीर्थंकर की, किसने बनाई, किस के समय में हुई, इतना तो निर्णय करके कहते? और सम्यक्त्व के लिये द्रौपदी का गुरु पूछते होतो श्रीकृष्ण बलभद्र, समुद्र विजय, उग्रसेन आदि यादव कौन से गुरु से सम्यक्त्व पाये उन के गुरु का नाम बताओ? तथा राजमती महासती सीयल की खान बहुसूत्री उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्याय में कहीं है तो संसार में ही वह बहुसूत्री कौन से गुरु के पास से हुई? उसके गुरु का नाम तुमहीं कहो, और द्रौपदी ने नारद को असंयती समझकर विनय न किया। इसलिये तुम द्रौपदी को सम्यक्त्व धारिणी कहते हो सो ठीक है पर श्रीकृष्ण तो सम-दृष्टि थे, उनने पंडुराजा के समान नारद का विनय किया है "वंदई नमंसइ" पाठ है, तो उनने नारद का विनय क्यों किया? यह पाठ ज्ञाता के सोलहवे अध्याय में है कि कोई लौकिक, मिथ्यात्व, समदृष्टि कार्य विशेष से सेवन करे तो भी धर्म न समझे।

जिनमार्ग की रीति से पादोपगमन संथारा तामली तापस ने तथा पूरण तापस ने किया पर वे जिनमार्गी नहीं होगये। तथा भरतेश्वर ने भरतक्षेत्र साधते तेरह तेले किये। पद्मोतर राजा ने द्रौपदी के लिये तेला किया पर कुछ ग्यारहवें व्रत में नहीं गिना जाता। सब रीति जिन सरीखी होती तो जिन प्रतिमा समझते। पिता को भूख लगे और वह पुत्र का भक्षण करले तो यह अनुचित कर्म है। इसी प्रकार तीर्थंकर के लाड़ले पुत्र समान छः काय के जीव तीर्थंकर की भक्ति में मारे जायं तो यह भी अनुचित कार्य है। ऐसी भक्ति वीतराग स्वीकार नहीं कर सक्ते।

गंध हस्ति आचार्य की की हुई ओघ निर्युक्ति की टीका को हिंसा धर्मी कहते और मानते हैं। उस में लिखा है कि द्रौपदी के एक पुत्र हुआ तब सम्यक्त्व पाई वह पाठ नीचे लिखते हैं।

ओघनिर्युक्तावुक्तं इत्थिजणसंघट्टं तिविहं तिविहेणं वज्जए साहू इति वचनात् त्रिविधि त्रिविधिना साधुनां वर्जनीयःसाधोःस्त्रकल्पनीये कर्मणिचरते सम्यक्तभावात् द्रौपद्या आगमेषु श्रूयते लोम हत्थे परामुसई लोम हस्तेन परामर्शति परमार्जयतीत्यर्थःतत्पमार्जनेन जिनस्य स्पर्शो जातः जिनस्य स्त्रीजनस्पर्शेत् आशातना स्यात् आशातना सम्यक्ता भावात् एतेन द्रौपदी न सम्यक्त धारिणी संभाव्यते पुनः ओघनिर्युक्त चिरंतनटीकायां गंधहस्ताचार्येणउक्तं द्रौपद्या नृपपुत्रिका निदानकर्तृभिःपञ्चभरतारं प्राप्त सति निदानफलं भुक्त्वा तत्पश्चादेकःपुत्रःप्राप्ते सति साधु सकाशात् द्रव्य सम्यक्तमार्गं प्राप्नुवति।

यह ओघ निर्युक्ति का पाठ और गंध हस्ति आचार्य कृत टीका से इस का उत्तर देख लीजिये।

सूरियाभ तथा विजैपोलिये ने प्रतिमा पूजी कहते हैं उसका उत्तरः—

कितने ही हिंसा धर्मी कहते हैं कि सूरियाभ देवता ने तथा विजय पोलिये ने प्रतिमा पूजी है इस लिये हम भी पूजते हैं, इस का उत्तर कहते हैं, सूरियाभ और विजय पोलिये का

का भी विना स्पर्श किये नहीं रही। चौरासी लाख नरक वासे सात करोड़ वहोतर लाख भवन, पांच स्थावर, तीन विकलेंद्री, तिर्यंच, मनुष्य के असंख्याता स्थान, चौरासी लाख ६७ हजार तेवीस विमान, इतनी जगह (पांच अनुत्तर विमान छोड़ सब जगह) सब जीव भवी अभवी उत्पन्न हो चुके हैं। " असइं अवुवा अणंत खुत्तो ,, एक २ जगह एक २ जीव अनंत वार उत्पन्न हुवा इस लिये सूरियाभ विमान में भी सब जीव भवी, अभवी आदि वारह वोल वाले जीव अनंत वक्त उत्पन्न हो चुके हैं। तव सूरियाभ देव ने समझा कि मेरे विमान में वारह वोल के जीव सूरियाभ देवसे उत्पन्न होते हैं उनमें मै कैसा हूं, ऐसा निश्चय करने के लिये पूछा, फिर मध्य लोक में असंख्याता द्वीप समुद्र हैं। पच्चीस क्रोड़ा क्रोड़ कुए के जितने खंड हैं उनसे चौगुने पोलिये हैं, वे सब विजय पोलिये जैसे हैं। वहां भी सब जीव विजय पोलिया की तरह अनंत वक्त उत्पन्न हो चुके हैं। तव विजय पोलिये की तरह सबने प्रतिमा पूजी है, पर प्रतिमा पूजन से सब जीव भवी अभवी और समदृष्टि हुए नहीं-यह समझना चाहिये।

फिर जीवाभिगम सूत्रमें कहा है:—

सोधम्मी साणेसु णंभंते कप्पेसु सव्वेपाणा सव्वेभूया सव्वेजीवा सव्वेसत्ता पुढवीका इयत्ताए जाव वणस्स इकाइयत्ताए देवत्ताए देवित्ताए आसण सयण जाव भंडो वगरणत्तयाए उवव्वणा पुव्वा हंता गोयमा असाइं अदुवा अणंत खुत्तो सेसेसु कप्पेसु एवं चेव णवरं नोचेवणं देवित्ताए जाव गेविज्जगा अणुत्तरोववातिएसुवि एवंचेव नोचेवणं देवत्ताए देवित्ताए सेतंदेवा।

अर्थः-सुधर्म ईशान देवलोक में सब प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव, सर्वसत्व, पृथ्वीकाय, यावत् वनस्पति काय, देव, देवांगना, सिंहासन, शैय्या, भंड, उपकरण की तरह भूतकाल में उत्पन्न हो चुके हैं। तब भगवान् कहते हैं 'हां गौतम! वारम्वार निश्चय में अनंती २ वक्त सब देवलोक में उत्पन्न हो चुके हैं, पर देवांगना पने वहां नही जन्मे, कारण वहां देवांगना नहीं है। पांच अनुत्तर विमान में भी पृथ्वी आदि रूपमें अनंत वक्त उत्पन्न हो चुके हैं, पर देवता देवांगना के रूप में नहीं जन्मे, कारण वहां देवांगना नहीं और देवता भी एकावतारी है। इस लिये देवता रूप में भी सब जीव संसारी नही जन्मे। यहां भी सब जीव वैमानिक देवता में उत्पन्न हो चुके कहा पर भवी अभवी बारह बोल में टाले नहीं। फिर भगवती शतक बारहवें उद्देशे सातवें मे कहा हैः-

अयएणं भंते जीवे चउसट्ठीए असुर कुमारावास सयसहस्सेसु एगमेगंसी असुरकुमारावासंसिं पुढवीकाइयत्ताए जाव वणस्सइकाइयत्ताए देवत्ताए देवित्ताए आसणसयण भंडमत्तो वगरणत्ताए उववरणपुव्वेहंता गोयमा जाव अणंत्खुत्तो सव्वजीवाविणं भंते एवं चेव।

अर्थः-हे भगवान्! चौसठ असुर कुमार के आवास सात हजार में पृथ्वी काय वनस्पति काय देव, देवी, आसन, शयन, भंड मात्र उपकरण की तरह उत्पन्न हुए? हां गौतम! अनेक वार अथवा अनंत वार सब जीव पने हे भगवान! इत्यादि।

प्रश्नः उत्तर में इसी प्रकार अनंत चक्र कहना।

इसी प्रकार फिर स्थनितकुमार, पृथ्वी आदि मनुष्य में उत्पन्न होने की पूछना की।

वाण व्यंतर जोइसीय सोहम्मीसाणेय जहा असुर कुमाराणं।

अर्थः-वाण व्यंतर, ज्योतिपी व वैमानिक में सुधर्म, ईशान तक इसी प्रकार कहना जैसा असुर कुमार में कहा।

फिर तीसरे देवलोक से लगाकर बारहवें देवलोक तक तथा नव ग्रीवेक तक भी अनंत वक्त उत्पन्न हुआ पर "नो चेवण देवित्ताए" पर निश्चय में देवीपने उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि इशान देवलोक तक ही देवी उत्पन्न होती है, यों अनुत्तर विमान में पृथ्वी आदि पने उत्पन्न हुआ, "नो चेवणं दवता देवित्ताए" नहीं अनुत्तर विमान में देव पने अनंती वार जन्मे और देवी रूप में तो सर्वथा ही न जन्में, कारण ईशान देवलोक के आगे देवी उत्पन्न ही नहीं होती।

इसी प्रकार लोकांतिकपने छःकाय पने उत्पन्न हुआ, "असइं अदुवा अणंतखुत्तोः॥ अनेक वक्त अर्थात् अनंती वक्त।

यहां भवी, अभवी आदि बारह बोल के सब जीव उत्पन्न हुए, यह बड़ा गहन विपय है, इसे सूत्र से समझना चाहिये, यहां सिर्फ थोड़ा सा परमार्थ लिखा है।

७ फिर हिंसा धर्मी कहते हैं कि सूरियाभ देवता नया उत्पन्न हुआ तब सामान्य देव ने आकर कहा कि तुम्हें सिद्धा-यतन में जाकर एक सौ आठ जिन प्रतिमाएं और सुधर्म सभाकी जिन डाढ़ें पूजना चाहिये। यह तुम्हें प्रथम करना उचित है और शेष फिरः--

पुव्वं पच्छावि हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणु गामी यत्ताए भविस्सइ।

अर्थः--पु-पहिले, प-तथा पीछे, हा-हितकारी सु-शोभित, ख-उचित, नि-श्रेय कल्याणप्रद, आ-परम्परासे सुखदाता, भ-होगा।

ऐसा कहा तो देखो उस देवता ने भी प्रतिमा पूजने की कहा है। इसका उत्तरः-सूरियाभादि बत्तीस लाख विमान प्रथम देवलोक में हैं। उन सब विमान की एकही रीति नीति है। प्रत्येक विमान में पांच २ सभाएं हैं। एक २ सिद्धायतन है कुल छःछः वस्तु सब विमान में हैं। जब देवता वहां जन्मते हैं तब राज्याभिषेक के समय एक २ वक्त सब देव प्रतिमा पूजते हैं। वे समदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, भवी, अभवी सब पैदा होते हैं और सब पूजते हैं। सब उत्पन्न देव के सामने उन के सामान्य देव इसी प्रकार कहते हैं कि प्रतिमा और डाढ़ें पूजो। यहां यह अर्थ नहीं कि समदृष्टि हो वही पूजता है और मिथ्यादृष्टि नहीं। जीत व्यवहार के कारण सब पूजते हैं। जैसे संसार के समदृष्टी मनुष्य तो तीर्थंकर और साधु को वंदना नमस्कार करते हैं और मिथ्यात्वी घोर, मसजिद, पीर, ठाकुरद्वार, विष्णु, महेश, गणेश, माता, हनुमान और क्षेत्रपाल आदि को पूजते हैं पर अन्यमत के लोग जिन मत के देव, गुरु आदि को नहीं वंदते, नहीं पूजते। यह मनुष्य लोक की रीति है। जैन, शिव, मुसलमान के देहरे भी अलग २ हैं। पर यहां देवलोक में मत मत के देहरे भिन्न २ नहीं हैं। समदृष्टी और मिथ्यादृष्टी के पूजन पूजने का सिद्धायतन एक ही है। उनके भिन्न देहरों का कथन हो तो सूत्र साक्ष दिखाओ। समदृष्टी, मिथ्यादृष्टी के धर्म व्यवहार तो भिन्न हैं पर लोक व्यवहार तो एक से है। जैसे मनुष्य लोक

में स्नान, दांतन, भोजन, वस्त्र, भूषण, वाहन, शयन, भोग वि लास, समदृष्टी, मिथ्यादृष्टी के एक से है और धर्म व्यवहार भिन्न २ हैं वैसे ही देवताओं में लोक व्यवहार जीत आचार समदृष्टी और मिथ्यादृष्टी के एक ही हैं, और जिन वंदन आदि धर्म व्यवहार भिन्न २ हैं। समदृष्टी से मिथ्यादृष्टी देव असंख्यात गुन जियादा हैं। समदृष्टी मिथ्यादृष्टी के विमान में सिद्धायतन एकसे हैं। मिथ्यात्वी के विमान में तिमिर, मकबरा, ठाकुर द्वारे का उल्लेख नहीं है, उन सब विमानों मे सिद्धायतन और प्रतिमा तो सूरियाभ की तरह एक सी है जिसे भवी, अभवी, समदृष्टी मिथ्यादृष्टी सब एक ही रीति से पूजते हैं। इस में धर्म कर्त्तव्य कौनसा हुआ? और प्रतिमा पूजन से समदृष्टी होते हों तो विजय पोलियादि असंख्य पोलिये सब विजय पोलिये की तरह प्रतिमा पूजते हैं वे तुम्हारे मत से सब मिथ्यादृष्टी नहीं, समदृष्टी होंगे और सब जीव विजय पोलिया की तरह अनंत वक्त उत्पन्न हो चुके हैं उनके प्रतिमा पूजने पर भी अनंत वक्त जन्म मरण क्यों हुए? समकित धारी के तो अनंत भव नहीं होते, ये सूत्र साक्ष है। अरणक श्रावक, कामदेव श्रावक को परिषह दिया वे देव और गोशाला मती, जमाली मती, नास्तिक मती ऐसे मिथ्यात्वी देव जिन मार्ग के पक्के द्वेपी वे भी उत्पन्न होने पर जित आचार के कारण सिद्धायतन की प्रतिमा पूजते हैं, मसजिद, ठाकुर द्वार नहीं पूजते और वे वहां है भी नही। अगर सिद्धायतन की प्रतिमा तीर्थंकर की हो तो मिथ्यात्वी कैसे पूजें ? यह पूजा कुलाचार जीत व्यवहार की है, पर सम्यक्त्व की नहीं, सिर्फ समदृष्टी ही पूजते होते तो धर्म खाते गिनी जाती पर सब सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी समान पूजते हैं तब धर्म कैसा?

८ वहां तीर्थंकर की प्रतिमा नही, यह क्यों लिखा ? इस पर सूत्र साक्ष लिखते हैं-प्रथम सूरियाभ देव का राज्याभिषेक हुआ फिर वह व्यवसाय सभामें आया वहां "धम्मियं पोत्थरयणं वाएति" ऐसा पाठ है अर्थात् धर्मशास्त्र पढ़े, उन धर्म शास्त्र में कुल धर्म की रीतिहै पर आचारंगादि द्वादशांग प्रवचन नही, क्योंकि आचारंग आदि द्वादशांगी हों तो मिथ्यात्वी क्यों पढ़ें ? अभवी कैसे पढ़ें ? कैसे श्रद्धा करें ? और जिन वचन सच्चे कैसे समझें ? और पढ़ना तो सबको पड़ता है तथा मिथ्यात्वी के २६ पापश्रुत भी कही नही कहे कि जिस से समदृष्टी आचारंगादि पढ़ें और मिथ्यात्वी कुरान, पुराण पढ़लें। जितने वारह वोल उत्पन्न होते है वे सव ये ही धर्म शास्त्र पढ़ते हैं इस लिये ये धर्म शास्त्र भी लोकिक कुल रीतिके समझना चाहिये। फिर हिंसाधर्मी कहते है कि जो श्रावक समदृष्टी सिद्धांत पढ़ें तो अनंत संसारी न हों। अव इन का कथन देखो जो आचारंगादि धर्म शास्त्र वे शास्त्र हों तो देवता सिद्धांत पढ़कर अनंत संसारी क्यों हों ? इस लिये ये धर्मशास्त्र कुलरीति के हैं। जैसे मनुष्यों में वहोत्तर कला के शास्त्र तथा धर्म, अर्थ, काम, शाम, दंड, भेद आदि के ग्रंथ हैं वैसे ही वे भी समझना चाहिये, जो समदृष्टी और मिथ्यादृष्टी सबके काम आसक्ते है। ये प्रतिमा और शास्त्र सव एक ही खाते हैं। अनंते जीवों ने अनंती वक्त देवता होकर ये प्रतिमाएं पूजी और पुस्तक पढ़ी पर सम्यक्त्व नहीं पाया।

९ फिर यह पुस्तक पढ़कर "धम्मियं ववसायं गिन्हइ" ध-कुलधर्म सम्बन्ध, व-व्यापार, गि-ग्रहण किया, ऐसा पाठ है।

यहां धर्म का व्यापार कहा यह पद भी समुच्चय है। यह नही कि प्रतिमा पूजन ही धर्मव्यवसाय। समुच्चय पद में प्रतिमा

पुतली, स्थंभ, हथियार, तोरण, पोल, खड्ग, पुस्तक आदि ३२ वस्तुएं पूजी वे सब धर्म व्यवसाय पदभी सर्व साधारण पाठ है। उठकर ईशान कोन में सिद्धायतन में गया। जहां एक सौ आठ जिन प्रतिमाएं हैं वहां आकर उन प्रतिमाओं के शरीर चर्चे, यह सूत्र में कथन है।

१ विजय देवता की प्रतिमा का जीवाभिगम में कथन है वहां "रीड्ड मयामंसु" रिष्ठ रतन में दाढ़ी कही हैं पर रायपसेणी में सूरियाभ ने पूजी। वहां दाढ़ी न कहा।

२ "कणग मयचुचुआ"। वहां स्तन कहे। पर दो स्तन किस को होते हैं? श्रीउववाई में श्रीवीतराग के शरीर का वर्णन किया वहां स्तन मूल से ही नहीं कहे। तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती बलदेव, वासुदेव, उत्तम पुरुष, सामंत, घोड़े आदि को स्तन नहीं होते। इसलिये जिन तीर्थंकर की प्रतिमा है तो उस के स्तन नहीं होना चाहिये थे?

३ फिर इस प्रतिमा के पास दो २ चंवरधारी प्रतिमा, एक २ छत्र धारक की प्रतिमा और मुख के आगे दो २ नाग प्रतिमाएं हैं। दो २ यक्ष प्रतिमाएं हाथ जोड़े हुए विनय कर रही हैं। ऐसा कथन है तो ये नाग, भूत, यक्ष की प्रतिमा किस के परिवार में है? तीर्थंकर के पास तो सूत्र में जगह २ कहा है कि, "इसी परिसाए जइ परिसाए" जो इन प्रतिमा के पास गणधर और साधु की प्रतिमा होती तो समझते कि यह प्रतिमा सचमुच तीर्थंकर की है। नहीं तो समझना चाहिये कि यह प्रतिमा किसी भोगीदेव, कामदेव की है। आज भी हिंसा धर्मी प्रतिमा कराते हैं तो उनके पास काउसग्ग वाले साधुकी प्रतिमा कराते हैं पर नाग, भूत, और यक्ष की प्रतिमा नहीं कराते। इन दोनों प्रतिमाओं मे कौनसी सच्ची और कौनसी झूठी है?

इसलिये ये प्रतिमाएं नाग, भूत, यक्ष, ठाकुर, वेसमण, क्षेत्रपाल महेश, कामदेवादि की समझना चाहिये ।

४ फिर सूरियाभ ने पूजने के प्रारंभ में "लोम हत्थेणं पमज्जइ" कहा है अर्थात् मोर पिंछी की पूंजणी से पूंजी । जिस प्रकार द्रोपदी, भद्रा सार्थवाही ने यक्ष की प्रतिमा मोर पिंछी से पूजी और स्थानांग के पांचवें ठाणे तीसरे उद्देशे में कहा है:-

कप्पइ, निग्गंथाणं वा, निग्गंथीणं वा पंचरयहरणाइं, धारित्तए वा परिहारित्तए वा तंजहा उणिए १ उट्टिए २ सणिए ३ पच्चापिचिए ४ मुंजापिचिए ५.

अर्थः-क-कल्पता, है नि-निग्रंथ, नि-निग्रंथी को, प-पांच, र-रजोहरण, धा-धारण करना, प-रखना, तं-वे कहते हैं, उ-ऊन का कम्बल १ उ-ऊंटके रोम का २ सा-सण का ३ तृणादि विशेष का ४ मु-मुंज का. ५

इनमें भिंडी तथा मूंज के रजोहरण अपवाद से रखना कहे । पर मोर पिंछी रखने का तो नहीं कहा । जिन मार्ग में मोर पिंछी निषेधी है । यह अति सुकुमाल है पर अन्य तीर्थी से मिलता जुलता भेष होने से निषेध किया है । जब साधु को मोर पिंछी रखने की ही मनाई की तो उन साधुओं के स्वामी भगवान् के शरीर को मोर पिंछी से क्यों पूंजते होंगे ? और भगवान् के तो मूल में ही रजोहरण नहीं है तो भगवान् की प्रतिमा को मोर पिंछी कैसे कल्प सकती है ? इस रीति से तो श्रीवीतराग की ये प्रतिमाएं सिद्ध (साबित) नहीं होती ।

५ फिर सूरियाभ ने प्रतिमा पूजते समय प्रथम उस प्रतिमा को स्नान कराया, पश्चात् "अहयाइं देवदुस जुइय-

लाइं नियसेइ २ त्ता,, अर्थात् अ-अमूल्य, दे-देवनिमी,जु-युगल वस्त्र, नि-पहिनाये।

ऐसा पाठ है, कि जिन प्रतिमा को अचिक्कट, विना फटा अखंड वस्त्र का जोड़ा पहिनाया पर तीर्थंकर तो वस्त्र पहिनते नहीं, तो तीर्थंकर की प्रतिमा को वस्त्र कैसे पहिनाये? इस न्याय से तो यह प्रतिमा कौन से जिन की हुई? आभरण और वस्त्र तो एक से हैं जो साक्षात् को न कल्पते वे प्रतिमा को कैसे कल्पते हैं? और आज भी हिंसा धर्मी प्रतिमा पूजते हैं वे वस्त्र नहीं पहिनाते। तो देवता भगवान् को अचेल समझ वस्त्र कैसे पहिना सक्ते हैं? इस से यह सिद्ध है कि वह प्रतिमा वस्त्र पहिनने वाले देव की है पर भगवान् की नहीं, कभी हिंसा धर्मी कहेंगे कि वस्त्र तो भगवान् के मुंह के आगे रक्खे हैं, तो उनका कहना मिथ्या है, मुंह आगे रक्खे उस के लिये तो "वत्थारुहणं,, पाठ भिन्न है, 'वन्नारुहणं चुन्नारुहणं पुप्फारुहणं वत्थारुहणं आभारणारुहणं,, अर्थात् व-वाना आरोपण, चु चूर्णवासखेप चढ़ाया, पु-पुष्प माला चढ़ाई, व-वस्त्र चढ़ाये आ-आभरण चढ़ाये, इसमें वस्त्र चढ़ाये आया पर यहां तो देवदुसा जुवलीयं नियंसेइ २ त्ता अर्थात् देव निम्मी, जु-युगल वस्त्र, नी-पहिना पहिना कर।

यहां साफ पहिनाये कहा है तो आभरण चढ़ाये वे अलग हैं और पहिनाये वे अलग हैं। ये वस्त्र और आभरण भगवान् के लिये अनुचित वैसे ही उनकी प्रतिमा के लिये भी अनुचित हैं। तव हिंसा धर्मी कहेंगे कि भगवान् को तो दोनों वस्तुएं कल्पनीय नहीं हैं पर यह भगवान की भक्ति है कि जो सार पदार्थ हों वे भगवान की प्रतिमा के निमित्त रक्खें। इसका उत्तर—जो त्यागी पुरुष की भक्ति भोग द्वारा हो तो स्त्री

क्यों न चढ़ाई? सब भोगों में स्त्री प्रधान है। जिस प्रकार वस्त्र आभूषण वैसे ही स्त्री। यह भी भक्ति में गिन लेओ, पर ऐसी भक्ति जिन मार्ग में नहीं लिखी।

६ फिर प्रश्न व्याकरण के पांचवें अध्यायके आश्रवद्वार में देवता के चैत्य, देव कुल, परिग्रह में कहे हैं वह पाठ लिखते हैं-

एवंते चउव्विहादेवा सपरिसावि देवा ममायंति भवण वाहण जाणविमाण सयणा सणाणि य नाणाविह वत्थ भुसणाणि य पवर पहरणाणिय णाणामणी पंचवएण दिव्वंच भायण विहं णाणाविहा काम रुव वे उव्विया अच्छरगणसंघातेदिव समुद्दे दिसाओ विदिसाओ चेइयाणिय वणसंडे पव्वते गाम नगराणिय आरामुज्जाण काण णाणिय कुवसर तलाग वाविदीहाया देवकुल सभपव्वा वसाहिमाइयाइं बहुयाइं कित्तणाणिय परिगिन्हिता परिग्गहं विपुल दव्वसारं देवावि सइंदगा नतित्तिं न तुट्ठिं उवलभंति।

अर्थः-ए-इस प्रकार, ते-वे देवता, च-भवनपति आदि चार प्रकार के, स परिषद् सहित जो पहिले कहे वे, दे-देव, म-हमारे ऐसी ममता करे इतने वोल पर वे कहते हैं, भ-घर १ वा-अश्वादि २, जा-सकटादि ३, वि-विमान ४, स-पल्यंकादि ५, स-सिंहासनादि पै ममता करे ६, ना-नाना प्रकार के व-वस्त्र ७, भू-भूषण ८, प-प्रधान, प-हथियार पर ममता करे ९, णा-नाना प्रकार की मणि १०, प-पांच वर्णादि, दि-प्रधान, भा-भाजन ११, ना-नाना प्रकार के, का-काम बढ़ाने वाली १२, वे-वैक्रीय की हुई, अ-अप्सराओं पर १३, ग-समूह उनके ऊपर, द्वी-द्वीप १४, स-समुद्र पर १५, दी चार दिसा पर १६, वि-चार विदिशा पर

२३, चै-चैत्य प्रतिमा भी परिग्रह में २४, व-वन खंड पर २५, प-पर्वत २६, गा-गाम २७, न-नगर २८, आ-आराम २९, उ-उद्यान ३०, का-कानन वन पर ३१, कु-कूप ३२, स-सरोवर ३३, त-तालाव ३४, वा वावड़ी ३५, दी दीर्घिका ३६, दे-शिखरबंध देहरे ३७, स-सभा ३८, प-पर्व ३९, व-तापस के आराम ४०, आ-आदि, व-वहुत से पदार्थों पर की-ऐसा कहे कि ये मेरे हैं, प-ग्रहण करे इस प्रकार, प परिग्रह कहते हैं, वि-विस्तीर्ण, द-द्रव्य, सा-प्रधान ऐसे परिग्रह को पा कर, दे-देव-भी, स इन्द्र सहित देव, न-तृप्ति न पावे, उ-कोई देव।

इस पाठ में जो २ पदार्थ कहे वे २ पदार्थ सब परिग्रह में गिने हैं। उनमें देवकुल, प्रतिमा भी परिग्रह में गिनी हैं, तो परिग्रह पूजने से धर्म नहीं होता। हिंसा धर्मी कहेंगे कि पूर्ण भद्रादि यक्ष की प्रतिमा परिग्रह में है। शेष प्रतिमाएं परिग्रह में नहीं। इसका उत्तरः-जो तिरछे लोक में व्यंतर की प्रतिमाएं हैं वे प्रतिमाएं परिग्रह में कहोगे तो यहां तो " चउ विहा विदेवा" कहे हैं। इन्द्र सहित उनकी प्रतिमा मध्यलोक में कहां है ? और कौन पूजते हैं ? और " दीव समुद्दे चेइयाणि य ,, कहा तो क्या व्यंतर की प्रतिमाएं हैं ? तुमतो सब द्वीप, समुद्र की प्रतिमाएं तीर्थंकर की ही मानते हो। यहां तो सब मिलाकर कही है और देवलोक में विमान २ की अलग २ प्रतिमाएं हैं वे उनके परिग्रह की हैं, यह कैसे ? सब अपनी २ पूजते हैं, कोई दूसरे की नहीं पूजते और सूरियाभ को सामान्य देव ने पूजन की कहा तब उसने भी सूरियाभ विमान के सिद्धायतन की प्रतिमा सूरियाभ देव के पूजन की कहकर दिखाई और उनने भी वही पूजी। अन्य स्थानों की-जैसे मेरू की, नंदीश्वर द्वीप की पूजने की न कही। जीत आचार से जो

पूजी जाती है, वही वताई। वे उसे अपनी मानते हैं इसलिये परिग्रह में गिनी है, अन्य तीर्थंकर के जन्मादि महोत्सव पर सब इंद्र इकट्ठ होते हैं वे क्यों होते हैं ? भगवान् तो भरत, ईरवभरत महा विदेह मे जितने हैं वे कुछ देवता के परिग्रह में नही है और प्रतिमा तो जिनकी सीमा-विमान में है वही पूजते हैं। इसलिये उनके परिग्रह की कही है और तीर्थंकर तथा साधु किसी की भी हद्द में नही कहे, फिर हिंसा धर्मी पूछें कि सूरियाभ की प्रतिमा तीर्थंकर की नही ऐसा तुम किस आधार से कहते हो ? इसका उत्तर यह है:—इस प्रतिमा के लक्षण भगवान से भिन्न हैं १ प्रथम दाढ़ी २ स्तन ३ मोर पिंछी ४ नागभूत का परिवार ५ कपड़े पहिनाये ६ आभूषण पहिनाये, इससे जान पड़ा कि यह प्रतिमा भगवान् की नही। इन छ बोल के विरुद्ध होने से और द्रौपदी की प्रतिमा में सातवां स्त्री का स्पर्श विरुद्ध। फिर हिंसा धर्मी कहेंगे कि जिन प्रतिमा वीतराग की नही तो 'धूवं दाऊ जिणवराणं,, क्यों कहा? इसका उत्तरः-जो जिनवर धूप, सुगंध लें तो सूरियाभ ने प्रत्यक्ष भगवान को धूप क्यों नही दिया? जो धूप और सुगंध के भोगी देव हैं उनकी-उन जिनवर की वह प्रतिमा होगी। इस प्रकार आठ बोल हुए। तब हिंसा धर्मी कहेंगे कि जिनवर की प्रतिमा नहीं, तो सूरियाभ ने नमोत्थुणं क्यों दिये? इसका उत्तरः-सूरियाभ के नमोत्थुणं धर्म खाते नही पर व्यवहार कुलाचार खाते हैं, नमोत्थुणं तीन तरह के हैं १ लौकिक २ कुप्रावचनीक ३ लोकोत्तर

१ लौकिकः-वे लौकिक देव, गुरुदेव, गुण रहित जिनके आगे नमोत्थुणं कहना। जिस प्रकार द्रौपदी ने मिथ्यात्व व निदान के कारण भोगी देव के सामने नमोत्थुणं कहा। जैसे

ओसवाल महाजन के सामने भोजक, पोखरणा, चौवीस जिन-राज के नाम सुनाते हैं पर स्वयं श्रद्धा नहीं रखते केवल आजीविका के लिये कहते हैं । इस प्रकार समझना इस में धर्म नहीं

२ कुप्रावचनीकः—गौशाला, जमाली के शिष्य—श्रावक गौशाला,जमाली को नमोत्थुणं दे। यह कुप्रावचनीक तथा अनु-योगद्वार में द्रव्योपासक, भेषधारी नमोत्थुणं दे वे सव कुप्रा-वचनीक।

३ लौकोत्तर नमोत्थुणंः-जो साधु, श्रावक श्रीवीतराग को पहिचान गुण समझकर कहे वह एकांत मुक्ति दाता नमोत्थुणं है।

जैसे सूरियाभ ने प्रतिमा के आगे नमोत्थुणं कहा, वैसे ही विजय देवता, असंख्याते विजयंत देवता, असंख्याते जयंत देवता, असंख्याते अपराजित देवता एक २ जगह अनंत २ हुए और अनंत २ होंगे। समकिती, मिथ्यात्वी, भवी,अभवी वे सव नमोत्थुणं दें। असंख्याते भवनपती,असंख्याते व्यंतर,असंख्याते ज्योतिषी,असंख्याते वैमानिक ये सव सूरियाभ की तरह प्रतिमा पूजते हैं, डाढ़ें पूजते हैं, धर्म शास्त्र पढ़ते हैं। भवी, अभवी सव देवताओं की यही क्रिया है। वे सव क्रियाएं और इनके नमोत्थुणं लौकिक रीति में गिने जाते हैं, जो सिर्फ समदृष्टी ही पूजा करते तो समकित में गिनते! अगर प्रतिमा की पूजा धर्म निमित्त हो तो मनुष्य लोक में राजा, सेठ, सेनापति, श्रावक ने प्रतिमा पूजी, घर में विठाई, देहरे वनाये, संघ निकाले क्यों न कहा? देवता ने प्रतिमा आगे नमोत्थुणं दिया। गर्भ में रही हुई अव्रती को उनने नमोत्थुणं दिया पर साक्षात् केवली भग-वान को वंदना करने आये वहां नमोत्थुणं नहीं दिया। तो क्या प्रतिमा से भगवान् कम थे? पर देवता अपने जीत व्यवहार

कुलाचार की रीति करते हैं, यहां धर्म कर्म का विचार नहीं है।

१० सूरियाभ ने प्रतिमा को नमोत्थुणं दिया वह इसलोक के खाते दिया। परलोक के खाते नहीं। जिसकी साक्ष भगवती शतक दूसरे उद्देशे पहिले में है। वहां खंधक सन्यासी ने श्री महावीर स्वामी से कहा कि जैसे कोई गाथापति घर जलता देखकर धन निकाले वह उस समय यह समझे-

निच्छारीए समाणे पुव्विं पच्छा हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए अणुगामीयत्ताए भविसइ ॥

अर्थ -नि-मेरी आत्मा इस फंद से निकलने पर, पु-प्रथम और प-पीछे, हि-हितकारी, सु-सुखकारी, ख-क्षमाके लिये, नि-मुक्ति के लिये, अ-अनुगामी, भ-होगा.

यह धन निकालना मुझे पहिले और फिर हितदायक होगा। इस दृष्टान्त से खंधक कहते हैं कि लोक में आदीप, प्रदीप्त,जरा-मरण रूप अग्नि लग रही है उसमें से सार भूत मैं अपनी आत्मा को निकालता हूं। इस आत्मा को संसार से निकालने पर मुझे-

पेच्चा हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए अणुगामी पत्ताए भविस्सइ ॥

अर्थः-प-पर भव जन्मांतर, हि-हितकारी पथ्य की तरह, सु-सुखदाई, ख-योग रोग का विनाश करने योग्य औषधि की तरह, नि-मोक्ष तक, अ-भव की परस्परा तक यह सुखदाई, भ-होगी।

पेच्चा अर्थात् परभव में हितकारी होगा। यहां हियाए आदि पांच बोल तो एक से हैं पर धन निकाला वहां "पुव्वि पच्छा" कहा है अर्थात् इस लोक में धन निकालने से मुझे पहिले और फिर धन "हियाए" आदि पांच बोल प्राप्त

होंगे और संयम लेने में पांच बोल तो यही, पर पेच्चा अर्थात् परलोक में भी "हियाए" आदि प्राप्त होगा। ऐसे शब्दों का फर है। वैसे ही सूरियाभ ने भगवान को नमोत्थुणं दिया वहां "पेच्च हियाए" आदि पांच बोल कहे। वैसेही संयम लेते समय खंधक ने कहे और प्रतिमा पूजने के समय सामान्य देवने कह कर बताये। वहां "पुव्वि पच्छा हियाए" आदि पांच बोल कहे जैसे धन निकालने के विषय पर कहे। इस न्याय से खंधक का संयम और सूरियाभ का भगवान् को नमोत्थुणं देना परलोक खाते और धन निकालना तथा प्रतिमा पूजना इस लोक खाते हुआ। यही इस का परमार्थ है।

११ हिंसाधर्मी कहते हैं कि प्रतिमा पूजी वहां "निस्सेसाए" कहा है। इस निस्सेसाए शब्द का अर्थ मोक्ष का हेतु है। इस लिये उस प्रतिमा का पूजन मोक्ष हितार्थ हुआ। इस का उत्तरः-भगवती शतक पन्द्रहवे में चौथी वांबी को फोड़ते हुए एक पुरुष ने मना किया वह पुरुष वांबी तोड़ने वाले पुरुष का

हियकामए सुहकामए पत्थकामय अणुकंपियाए निस्सेसियाए। अस्य काटी—हितमिहापायाभावकामनायै सुखमानन्दकामनायै पथ्यमानन्द कारण कामनायै अनुकंपा कामनायै नैश्रियसिको मुक्ति कामः

हित का वांच्छा आनदकारी उसके वंच्छक पथ्य के समान मोक्ष के इच्छुक। यहां निश्रेयस शब्द का मोक्ष अर्थ किया। यहां मोक्ष का क्या कारण था? स्कन्ध के अधिकार में निश्रेय कहा। वहां धन निकालने में मोक्षका अर्थ क्या था? प्रत्यक्ष धन तो इस लोक के अर्थ आता है। वैसे ही शब्द सा भावार्थ करना चाहिये। जो प्रतिमा की पूजा मोक्षार्थ हो तो भवी

अभवी,पूजनेवाले सब मुक्ति जाते पर वैसा तो नहीं होता। यदि कोई कहे कि अभवी देवता ने प्रतिमा पूजी उसकी साक्ष कहां है ? इस का उत्तरः-सिद्धांत मे तो अभवी, भवी सब देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां की नीति पालने के लिये सब ने प्रतिमा पूजी है। यह सूत्र साक्ष है। इस पर भी प्रत्यक्ष पाठ देखना हो तो ओघ निर्युक्ति की टीका में जिसे तुम मानते हो उस में कहा हैः-

इच्चंमि जिए हराइति व्याख्या द्रव्यलिंगि परिग्रहीतानि चैत्यानि सम्यग्दृष्टिना संभावितानि इति कस्मात् यस्माद्‌द्रव्य-लिङ्गिनो मिथ्यादृष्टित्वात् यद्येवं तर्हि दिगम्बरसम्बन्धीनि चैत्यानि यद्येतत्सत्यं तर्हि स्वर्गलोकेषु शाश्वतानिचैत्यानि सुर्या-भाद्यादेवा सम्यग्दृष्टयः प्रपूजयन्ति चैत्यानि संगमकवत् अभ-व्यदेवा मदीयं मदीयमिति बहुमानात्प्रपूजयन्ति तानि पूर्वापरं विरुद्धं न स्यात् न तु सुर्याभाद्यादेवा स्वर्गलोकेषु शाश्वतानि चैत्यानि प्रपूजयन्ति तत्कल्पस्थितिवशानुरोधात् अतएव विरोधो न संभवति ॥

ऐसा कहा, यहां अभवी संगमक देवता ने प्रतिमा पूजन सूर्याभादि देव की तरह क्यों की ! इसके उत्तर में कहा है कि वहां की स्थिति के लिये पूजी। स्थिति का कल्प ऐसा ही है। इस न्याय से अभवी सरीखे भी प्रतिमा पूजते हैं। वे केवल जीत व्यवहार के कारण धर्म बुद्धि रहित हो पूजते हैं हो अब यह पूजन लौकिक रीति से ठहरी या धर्म रीति से ? इसका विचार करना चाहिये.

२१ डाढ़ें पूजने के प्रश्नोत्तर

१२ हिंसाधर्मी कहते है कि सूरियाभ ने तथा विजय पोलिये ने जिन डाढ़ें पूजी हैं। डाढ़ों के लिये सौधर्म सभा में

भोग नहीं भोगते। इस लिये डाढ़ों की पूजा मुक्ति दायक है। इस का उत्तरः- डाढ़े पूजना समकित खाते नही। "धम्मिय-सत्थे १ जिणपडिमा २ जिणदाढ़ाइ" ये तीनों ही एक खाते हैं। डाढ़ों को भी भवी, अभवी, समदृष्टि; मिथ्यादृष्टि सब पूजते हैं। सब के भवन मे, विमान में चार जाति के देवताओ के यहां ये डाढ़ें है। अनंत तीर्थंकर मोक्ष गये जिन के चार डाढ़ें थीं और उन के लेने वाले भी ४ है। १ शक्रेन्द्र २ ईशानेन्द्र ३ चमरेन्द्र ४ वलेन्द्र ये ही लेते हैं। उन्हें बॉक्स में रखकर पूजते है। इन डाढ़ों को धर्म समझकर ले तो धर्म पर वे तो कुल धर्म जीतव्य व्यवहार समझ कर लेते है। ये श्रुत, चारित्र रूप धर्म समझकर नहीं लेते। जो धर्म समझकर लेते होवें तो अच्युत इन्द्र जो सब इन्द्रो में बड़े हैं वे क्यो नही लेते? उन्हें कौन इन्कार कर सक्ता है! पर जिन के लेने का जित व्यवहार है वेही लेते हैं और उसी रीति से लेते हैं। ऊपर की दाहिनी डाढ़ शक्रेन्द्र लेते हैं ऊपर की वाई डाढ़ें ईसानेन्द्र लेते है, नीचे की दाहिनी डाढ़े चमरेन्द्र लेते हैं और नीचे की वाई डाढ़ें वलेन्द्र लेते हैं। ये डाढ़ें औदारिक है। असंख्यात काल से अधिक टिक नहीं सक्ती। चारों इन्द्रों के विमानों में ही रक्खी रहती है। परंतु इन्हें तो शक्रेन्द्रादि इन्द्र, सूरियाभादि, सामानिक तथा विजयादिक पोलिया एवम् असंख्याते भवन पति आदि पूजने है। तो वताओ कि सब के यहां जिन डाढ़े कहां से आई? पर ऐसा समझना चाहिये कि जो शाश्वते पुद्गल डाढ़ों के आकार के होते हैं उन्हें ये सब देव पूजते हैं और उन्ही का नाम जिन डाढ़े हैं पर जो ये ले जाते है वे सदा काल नही रह सकती तथा सब स्थानों पर भी नहीं पाई जा सक्ती। जैसे जमाली, मेघकुंवार आदि ने दीक्षा ली

तब माता ने सिर के केस लिये, उस समय "अपच्छिमे दंसणे भविस्सइ" अर्थात् मोहनीय के उदय से लिये, ऐसा पाठ है। उसी प्रकार ये भी मोहनीय के कारण जीत व्यवहार से लेते हैं। इन डाढ़ों का लेना एवम् पूजना धर्म खाते नहीं, जो धर्म खाते हो तो देवता जब डाढें ले जाते हैं तब मनुष्य, श्रावक, समदृष्टी भी वहां रहते हैं वे क्यों नहीं लेते ? पर धर्म खाते नहीं। सिर्फ देवता अपने जीत व्यवहार के कारण लेते हैं। जो डाढें पूजने में केवली प्ररूपित धर्म हो तो भवी, अभवी, समदृष्टी मिथ्यादृष्टी सब क्यों पूजते हैं ? अभवी मिथ्यादृष्टी को जिन मार्ग नहीं रुचता और मनुष्य लोक की तरह देवलोक में भी देव, समदृष्टी, मिथ्यादृष्टी अलग २ हैं, पर जिनमार्गियों के पुस्तक पृथक २ नहीं और जिनमार्गी सिद्धान्त वांचते हैं और अन्य मार्गी कुरान पुराण वांचते है ऐसा भी नहीं। सबके "धम्मिय सत्थे" एक हैं वे लौकिक रीति से सब के मानने लायक हैं।

१ प्रतिमा भी मनुष्य लोक में शिव और मुसलमान की भिन्न २ हैं पर देवलोक में समदृष्टी, मिथ्यादृष्टी के देहरे भिन्न नहीं विमान विमान में एक २ सिद्धायतन, जिन प्रतिमा हैं और वे इन्हें ही पूजते हैं।

२ मनुष्यलोक में जिन मति व अन्य मति अपने २ गुरु के पूजने योग्य अंग पूजन की जानकारी रखते हैं पर देवलोक में जिन मति और अन्यमति सब एक सी जिन डाढ़ें पूजते हैं

१ इस लिये जो काम समदृष्टी ही करते हो तो वह काम लोकोत्तर खाते गिना जाता है।

२ जो काम केवल मिथ्यात्वी ही करते हों तो वह कुप्रावचनीक मिथ्यात्व खाते गिना जाता है।

३ जो काम समदृष्टी, मिथ्यादृष्टी दोनों करते हैं वे लौकिक

जीत व्यवहार तथा अपने स्वार्थ के हेतु करते हैं। पाप भी करना पड़ता हो तो लौकिक रीति के कारण करना पड़ता है। इसी प्रकार ये डाढ़े सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी सब पूजते हैं तब यह करनी लौकिक सिद्ध होती है। ये तीनो वस्तुएँ अनंत जीवों ने अनंत समय पूजीं पर समकिती नहीं हुए।

फिर देवता सुधर्म सभा में भोग नहीं भोगते कारण डाढ़ों की प्रतिष्ठा रखते हैं। इसका उत्तरः—ज्ञाता के सोलहवें अध्याय में कृष्ण वासुदेव के में भी सुधर्म सभा का वर्णन है। वहां जिन डाढे नहीं है तो क्या वे सुधर्म सभा में भोग भोगते होंगे? कदापि नहीं। यहां डाढों का सम्मान दिखाया सो ठीक है पर जिन प्रतिमा, राज सभा, दरबार, बाजार, हाट आदि स्थानो पर जिन डाढें नहीं हैं तो क्या वहां भोग भोगे जाते हैं? भोग तो भोग के स्थान पर ही भोगे जाते हैं। देखो जिस सुधर्म सभामें जिन डाढ़ें हैं वहां बैठे हुए देवता चार भाषा बोलते हैं। सावद्य भाषा जिससे जीवों की विराधना होवे ऐसी भाषाभी बोलते हैं तथा सब इन्द्र सुधर्मेन्द्र सभा में बैठ हास्य, विनोद, विलास, कटाक्ष, कामचेष्टा, नाटक, नारी निरीक्षण, गीत श्रवण आदि करते हैं। संसार के समस्त काम करते हैं। वहां भवी, अभवी, समदृष्टी आदि के आचार विचार में कुछ अन्तर नही और न वहां कोई मुक्ति ही का प्रश्न है।

१२ तथा सब जीव देवतापने उत्पन्न होकर विधि पूर्वक पुस्तक, प्रतिमा, और डाढ़ें पूजते हैं। भवी, अभवी, समदृष्टि मिथ्यादृष्टी परस्पर भिन्नता नही दिखाते। जीत आचार एक सा रखते हैं तब हिंसाधर्मी कहते हैं कि विमान के जिन २ अधिपति ने प्रतिमा पूजी है वे तो एकान्त समदृष्टी थे। मिथ्या-

त्वी विमान के अधिपति नही हो सके। यह बात भी सूत्र विरुद्ध कहते हैं। सूत्र में तामली तापस, बाल तपस्वी, पूर्ण बाल तपस्वी, मिथ्यात्वी, कालकर, इसानेन्द्र, चमरेन्द्र उत्पन्न हुए कहे हैं। उन ने अपनी स्थिति में जीत आचार के कारण प्रतिमा पूजी होगा या नही? वे सम्यक्त्व तो फिर पाये हैं और प्रतिमा तो शय्या में उत्पन्न होते ही पूजना पड़ती है। इसलिये ऐसी कोई बात नही कि प्रतिमा समदृष्टी ही पूजते हैं। देखो, हरिभद्र सूरि का बनाया हुआ "अभव्य कुलक" है उसमे ऐसा कहा है कि इन्द्रपने, सामानिक इन्द्रपने, त्राय-त्रीसकपन, लोकपालपने तथा प्रतिमा हो उस पत्थर पने, प्रतिमा के भोग के फूलपने, पानीपने अभवी जीव उत्पन्न नही हो सकते इस का उत्तरः-

१ इन्द्रपने उत्पन्न न हो, विमान के अधिपति पने भी न जन्मे तो बारहवे देवलोक के इन्द्रसे नौ ग्रीवेक के देव अधिक गिने जाते हैं वे अहमिंद्र है, उनकी अधिक ज्योति, कांति और पुण्याई है वे चौंसठ इन्द्र से अधिक पुण्यवान् हैं तो उन मे अभवी और मिथ्यादृष्टी उत्पन्न होते हैं ऐसा सूत्र में कहा है और "भगवती शतक" में सबजीव नवग्रीवेक में अनंत वक्त उत्पन्न हुए, ऐसा भी कहा है। इसलिये इससे सिद्ध है कि अभवी नौ ग्रीवेक तक उत्पन्न होते हैं।

२ तथा तुम्हारी ही माननीय आवश्यक की वृत्ति बावीस हजारी हरिभद्र सूरि कृत जिसके सामाइक नामक अध्ययन की टीका में अभवी संगम देवता का अधिकार है कि जब संगम महावीर स्वामी को उपसर्ग देने आया तो शक्रेन्द्र ने प्रशंसा की कि महावीर को कोई चला नही सकता, तब संगम अभवी देवता शक्रेन्द्र का सामानिक यों बोलाः- '

संगामओ नाम सोहम्मकप्पवासी देवो सकस्स सामा णितो अभवसिद्धितो सोभणइ देवराया अहो रागेण उल्ल- वई को माणुसे देवेण न चालिज्जइ अहं चालेमि ताहे सक्को तं न वारेति मा जाणिहिई पर निस्साए भयवं तवोकम्मं करे इति एवं सो आगतो ।

यहां शक्रेन्द्र का सामानिक देवता संगम कहा और अभवी भी कहा ।

३. फिर संदेह दोहावली ग्रंथ है उसकी वृत्ति में कहा हैः-

नन्वेवं तर्हि संगमकः प्रायोमहामिथ्यादृष्टिः देव विमानस्य सिद्धायतनं प्रतिमा अपि तन मिति चेतत् प्रत्यक्ष संगमवत् अभव्या अपिदेवा मदीयामिति बहुमानात् कल्प स्थितिवशानुरोधात् तद्भूत प्रभावाद्वान् कदाचिद् असमंजस क्रिया आरभ्यते ॥

इस संगम देवता को अभवी भी कहा और इन्द्र का सामानिक भी कहा । सामानिक देवता इन्द्र सरीखे विमान के स्वामी के उत्पन्न होते समय सूरियाभ की तरह प्रतिमा डाढ़ पूजते हैं क्योंकि अपनी कल्प स्थिति है । यह साक्ष ।

४ फिर सिद्धान्त की साक्ष देखो । अभवी और मिथ्या दृष्टी सामानिक देवता पने न पैदा हो तो सूरियाभ ने महावीर से क्यो पूछा कि स्वामी ? मैं भवी, अभवी, समदृष्टी, मिथ्या दृष्टी इत्यादि बारह बोल क्यों पूछे ? जो सूरियाभ विमान मे मिथ्या दृष्टी पैदा न हो अभवी न जन्मते हो तो उन्हे संदेह क्यों हुआ ? जैसे अनुत्तर विमान में अभवी नहीं जाते । इस का उत्तरः-जो प्रतिमा पूजने से समदृष्टी हो जाते हों तो

सूरियाभ ने तो पैदा होते ही प्रतिमा पूजी है। फिर भगवान् के पास वंदन करने गया है । प्रतिमा पूजते ही समदृष्टी और भवी होगया तो फिर संदेह क्यों हुआ? और फिर भगवंत को पूछने की आवश्यक्ता ही क्या थी ? तव हिंसाधर्मी कहेंगे कि उसने जान बूझ कर निःसन्देह बनने का प्रयत्न किया। इस का उत्तरः- जो नि सन्देह बनने की इच्छा से पूछा तो मनुष्य लोक में गणधर, साधु, श्रावक, समदृष्टी, राजा,सेठ,सेनापति ने अपने लिये तथा अन्य मनुष्यों के लिये कहीं भी ऐसे वारह बोल नहीं पूछे ? जहां वहां वारह बोल की पुच्छा (पूछना) देवताओं के वारे की ही है । शक्रेन्द्र के लिये वारह बोल "भगवतीसूत्र" शतक सोलहवें उद्देशे दूसरे में गौतम ने पूछे। ईशानेन्द्र के वारह बोल गौतम ने पूछे सनत्कुमार के बारह बोल "भगवती शतक तीसरे उद्देशे पहिले में गौतम ने पूछे। इस प्रकार जाव शब्द में बाहर बोल की पुच्छा कई जगह वर्णित है, पर गणधर, साधु और श्रावक मनुष्य के लिये कही ऐसी पुच्छा नही है। इस लिये इस पर से सिद्ध है कि विमान के स्वामी पने वारह बोल वाले जीव उत्पन्न होते हैं और वे सब प्रतिमा एवम् डाढ़ें पूजते हैं। इस लिये प्रतिमा एवम् डाढ़ों की पूजा संसार हितार्थ जीताचार में शामिल है पर सूत्र चारित्र धर्म में नहीं।

१४. फिर हिंसाधर्मी कहते हैं कि प्रतिमा की पूजा देव ताओं के लिये धर्म खाते है। इस का उत्तरः- प्रतिमा तो भग वान के शरीर से भिन्न है। पर साक्षात् भगवान् का शरीर व उसका महोत्सव देवताओं के जीत आचार में कहा है तो प्रतिमा की पूजा धर्म व्यवहार में क्यों गिनी जाय ? इसके

लिये जम्बू द्वीप पन्नती का पाठ जिसमें छप्पन दिशाकुंवरी के आने और उनके जीत आचार करने का वर्णन है, लिखते हैं:-

उप्पएणे खलु भो जम्बूद्दीवे २ भगवं तित्थयरे तं जीयमेयं तीयपच्चुप्पन्नमणागयाणं अहोलोग वत्थंव्वाणं अट्ठएणं दिसा कुमारीणं महत्तरियाणं भगवओ तित्थयर-स्स जम्मण महिमं करित्तए।

अर्थः-उ-उत्पन्न हुए, ख-निश्चय में, भो-हे, ज-जम्बूद्वीप नामक द्वीप में, भ-भगवान्, ति-तिर्थंकर, तं-उनके लिये, जी-जीत आचार है, ए-यह, अ-भूतकाल में था, प-वर्तमान काल में है, अ भाविष्य काल में रहेगा, अ-अधोलोककी रहनेवाली, अ-आठ दिशाकुमारी, भ-भगवान्, ती-तीर्थंकर का, ज-जन्म महोत्सव (महिमा) क-करने का आचार है।

फिर ऋषभदेव के निर्वाण के अधिकार में कहा-देखो, जम्बूद्वीप पन्नति में शक्रेन्द्र ने ऐसा सोचाः-

परिनिव्वुए खलु जंवूद्दीवे २ भरहेवासे उसभे अरहा कोसलिए तंजीयमेयंतीय पच्चुप्पन्नमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थगराणं परिनिव्वाणं महिमं करित्तए।

अर्थ-प-परिनिवृत मोक्ष पहुंचे, ख-निश्चय, ज-जम्वृद्वीप नामक द्वीप में, भ-भरतक्षेत्र में, उ-ऋषभदेव, अ अरिहंत, को-कोसलीक, तं-उसके लिये जीत आचार है, अ-भूत, प वर्तमान, अ-भविश्य काल के, स-सुधर्मेंद्र, दे देवता के राजाओं वे, ती-तीर्थंकर का, प-परिनिर्वाण, म-महिमा, क-करे।

इस प्रकार सब इन्द्रों को शक्रेन्द्र की तरह विचार पैदा हुआ। जो साक्षात् जिनके शरीर का महोत्सव करना जीत

व्यवहार में कहा तो प्रतिमा की पूजा धर्म व्यवहार में क्यों आई ? जन्म महोत्सव, दीक्षा महोत्सव, निर्वाण महोत्सव में अनेक करोड़ देवता आवें वे सब जीत व्यवहार से आते हैं। जहां जीत व्यवहार है वहां भवी, अभवी, समदृष्टी, मिथ्या दृष्टि आदि का कोई कारण नहीं और शक्र, सुरियाभ, दुदुर देवता आदि सहित जो भगवान् के दर्शनार्थ आये, वहां जीत व्यवहार नहीं कहा। तो इस से स्पष्ट है कि देवता जो २ काम करते हैं जैसे नमोत्थुणं देना, पूजा करना, जन्म महोत्सव करना, दीक्षा महोत्सव करना, निर्वाण महोत्सव करना, डाढ़े लेना, स्तंभ कराना आदि सब काम जीत व्यवहार से करते हैं। जो धर्म व्यवसाय के हों तो सेठ, सार्थवाही, मनुष्य, श्रावक, समदृष्टी राजा क्यों न करे ?

हिंसाधर्मी कहते हैं कि-ऋषभदेव स्वामी तथा ९९ भाई मुक्ति गये तब उन के बिम्ब भरतेश्वर ने भराये, यह बात झूठ है जम्बू द्वीप पन्नती में ऋषभदेव का बिम्ब एक देवता ने किया, ऐसा कथन है, वहां भरतेश्वर का नाम भी नहीं है और तेवीस तीर्थंकरों के स्तंभ इन्द्रों ने किये। कारण यह उनका कुलाचार था, श्रावक व मनुष्यों ने नहीं किये। अपना कुलाचार समझ कर भी किसी श्रावक या मनुष्य ने नहीं किये। फिर गर्भ में तीर्थंकर थे तब इन्द्र ने भी उन्हें नमोत्थुणं दिये। प्रतिमा के आगे नमोत्थुणं कहे, पर जब श्रीवीतराग को वे साक्षात् वंदने आये तब किसी भी देवता ने भगवान् को नमोत्थुणं नहीं दिया तो क्या प्रतिमा से साक्षात् भगवान् कम दर्जे में थे ? पर देवता का कुल व्यवहार ऐसा ही समझा जाता है। फिर भगवती शतक सत्रहवें उद्देशे दूसरे में कहा है:-

जीवाणं भंते ! किं धम्मेठिया अधम्मेठिया धम्मा

धम्मोट्ठिया ! पुच्छा ? गोयमा ? जीवा धम्मेविट्ठिया अधम्मे विट्ठिया धम्माधम्मे विट्ठिया नेरइयाणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ? नेरइया नो धम्मेट्ठिया अधम्मेट्ठिया नो धम्माधम्मोट्ठिया, एवं जावचउरिंदियाणं पचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं पुच्छा ? गोयमा ? नो धम्मेट्ठिया अधम्मोट्ठिया धम्माधम्मोट्ठिया मणुस्सा जहा जीवा वाणमंतर जोइसियवेमाणिया जहा नेरइया ।

अर्थः-हे भगवन् ! जीव धर्म में रहा हुआ है या अधर्म में रहा हुआ है या धर्माधर्म में रहा हुआ है ? उत्तरः-हे गौतम ? जीव धर्म में रहा है, अधर्म में भी रहा है और धर्माधर्म में भी रहा है। नारकी, हे भगवन् ? उत्तरः-हे गौतम ? नरक के सर्व वृती के अभाव से धर्मास्तिक अधर्म्मास्तिक है। देशव्रती के अभाव से धर्माधर्मास्तिक भी नहीं। इसी प्रकार चतुरिंद्रिय तक समझना। पंचेंद्रिय तिर्यंच का प्रश्न किया तब उत्तर दिया। हे गौतम ! धर्म में न रहे,अधर्म में रहे,धर्माधर्म में भी देशव्रती के सभाव से मनुष्य जीव ज्यों कहे वैसा ही कहना। और व्यंतर ज्योतिषी, वैमानिक का वर्णन नारकी का कहा वैसा कहना ।

इस प्रकार देवता को भगवान ने अधर्मस्थित कहे तो उनका यह कर्तव्य धर्म नहीं, समकित के आधार से व शुभ योग के कारण से देवता धर्मी कहे जाते हैं। और रायप्रसेणी सूत्र में पुस्तक पढ़कर देवता उठा तब " धम्मीयं ववसाइं गिरिहइ"कहा यह पाठ लेकर हिंसाधर्मी कहते हैं कि प्रतिमा पूजी यह धर्म व्यवसाय में है। इस का उत्तरः—यह धर्म व्यवसाय में है। ऐसा सिर्फ प्रतिमा पूजने के कारण ही नहीं

कहा पर जो २ वस्तुएं वाद में पूजी हैं वे उन के जीत आचार की विधि में हैं और वे सब धर्म व्यवसाय में गिनी गई हैं। तोरण, खड्ग आदि पूजे वे भी धर्म व्यवसाय किये वाद या पुस्तक पढ़े वाद पूजे हैं तो ये वस्तुएं तो धर्म व्यवसाय में गिनेंगे तो पुस्तक पूजना, पढ़ना किसमें गिनोगे? धर्म व्यवसाय कहा उस में तो श्री स्थानाङ्ग के दसवें ठाणे में दस प्रकार का धर्म कहा है:—

दसविहे धम्मे पण्णत्ते तंजहा गाम धम्मे नगर धम्मे रठ्ठ धम्मे पासंडधम्मे कुल धम्मे गण धम्मे संघ धम्मे सुय धम्मे चरित्त धम्मे अत्थिकाय धम्मे।

अर्थः—द—दस प्रकार का, ध—धर्म, क—कहा, ते—वह कहते हैं गा—ग्राम, वहां के लोगों का स्थानक, उनका धर्म आचार, यह स्थिति ग्राम २ की भिन्न २ है अथवा गांव का आचार १, न-नगर धर्म या नगराचार—नगर २ का भिन्न भिन्न २, र—राष्ट्र धर्म, देशाचार ३. पा-पाखंड धर्म पाखंडियों का आचार ४, कु-कुलधर्म उग्रादिक कुल का आचार ५, ग-गण धर्म, गच्छ धर्म, गच्छाचार ६, स-संघ धर्म, चतुर्विध संघ का धर्म ७, सु—श्रुत धर्म, आचारंगादि द्वादशांगी धर्म, दुर्गति जाते हुए प्राणीको रोकले वह धर्म ८, च-चारित्रधर्म पांच महा व्रत ९, आ-अस्तिकाय धर्मः १०, धर्मास्ति कायादि का स्वभाव धर्मः—

वावड़ी, हथियार, प्रतिमा, डाढे पूजीं ये सब कुल धर्म में आने से "धम्मीयं ववसायं" कहा, पर श्रुतधर्म श्रद्धा रूप धर्म नहीं और चारित्र क्रिया रूप धर्म भी नहीं, चारित्र धर्म अनुष्ठान करना, व्रत रूप यहतो देवता के उदय आता नहीं और श्रुतधर्म तो श्रद्धा रूप है कर्त्तव्य रूप नहीं, श्रुतधर्म

मे वावड़ी, हथियार, प्रतिमा, डाढे, वृत्त, विम्ब आदि पूजना नहीं कहे, जो श्रुत धर्म में ये वोल पूजना कहे हों तो मनुष्य, राजादि श्रावक ने क्यों न पूजे? श्रुत, चारित्र, धर्म के स्वामी तो मनुष्य हैं ये तो पूजते नहीं, फिर सूरियाभ श्री महावीर स्वामी के पास आया वहां उसने फूल, पानी, वस्त्र, आभरण द्वारा प्रतिमा पूजा की भांति महावीर की पूजा क्यों न की? प्रतिमा आगे कहा "धूवं दाउ जिण वराणं" ऐसा साक्षात् जिनवर को धूप क्यों नहीं दिया? तव कहेंगे कि प्रथम सेवक देव आया उसने मण्डल पूजा, छींटा वरसाया, धूप दिया, इतने काम तो किये, इस का उत्तरः-यहां तो ऐसा कहा कि मंडल शुद्ध किया, वरसात किया, धूप दिया "दिव्वं सुराभिगमन जोगं करेइ" अर्थात् देवता के आने योग्य किया, पर ऐसा नहीं कहा कि भगवान् के रहने योग्य किया- ऐसे चौदह प्रश्नोत्तर द्वारा यह सूरियाभ का प्रश्न सविस्तार समझाया है।

२२ चित्रित पुतली देखना नहीं इसके प्रश्नोत्तर.

हिंसाधर्मी कहते हैं कि दसवैं कालिक के आठवें अध्याय में कहा हैः-

चित्त भित्तिं न निज्झाए। नारिं वा सुअलंकियं!
भखरं पिव दट्ठूणं। दिट्ठिं पडि समाहरे॥ ५४ ॥

अर्थः-चि-भींत पर चित्रित स्त्री के रूप को, न-देखना नहीं, ना-सचेत की स्त्री को, वा-या, सु-अलंकार पहिने वैठी हुई स्त्री को सहज दृष्टि से इस प्रकार देखें, भ-सूर्य को, अ-जैसे, द देखकर, दी-आंख को, प-फिराले, वैसे ही स्त्री की तरफ से दृष्टि फिराले।

इस गाथा में कहा कि भींत पर चित्रित स्त्री को देखने से काम राग उत्पन्न होता है इसलिये न देखे, अब जिस प्रकार पुतली के देखने से राग उत्पन्न होता है वैसे ही प्रतिमा देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है। इसलिये प्रतिमा पूजना श्रेय है। इसका उत्तरः-प्रश्न व्याकरण पांचवें संवर द्वार में तो प्रतिमा और पुतली दोनों ही देखना मना किया है, वह पाठ यह हैः-

बितियं चक्खुइंदिएणं पासियरूवाणि मणुएणा भद्दगाइं सच्चित्ताचित्तमीसगाइं कट्ठे पोत्थोय चित्तकम्मे लेपकम्मे सेलेय दंतकम्मेय पंचहिवएणेहिं अणेगसंट्ठाण संठियाइं गंथिम वेढिम पूरिम संघाइमाणि मल्लाइं बहुविहाणिय अहियं नयणमण सुहकराइं वणसंडे पव्वएय गामागर नगराणिय खुड्डिय पुक्खरणी वावि दिहिय गुंजालिय सरसरपंतिय सागर बिलपंतिय खाइय नदि सर तलाग वप्पिणि कुलुप्पलपउम परिमंडियाभिरामे अणेग सउणगण मिहुणविचरंते वरमंडव विविहं भवण तोरण चेइयः देवकुल सभा प्पवा वसह सुकय सयणासण सीह रह सगड जाण जुग्गय संदण नरनारिगणेय सोम पडिरूव दरिसणिज्जे अलंकिये विभूसिये पुव्वकए तवप्पभाव सोहग्गा संपउत्ते नड नट्टग जल्ल मल्ल मुट्ठिय वेलंवग कहक पवग लासग आइख लंख मंख तूणाइल्ल तुंववीणीय तालायर पगरणाणि य बहुणि सुकरणाणि अणेसुय एव माइएसु रूवेसु मणुन्नभद्दएसु

नतेसु समणेण सज्जयव्वं नरज्जियव्वं नगिज्झियव्वं नमुज्झियव्वं णाविणिग्घायमावज्जियव्वं न लुभियव्वं नहसियव्वं नसइंचमइंच तत्थकुज्जा ॥

अर्थः-वि-दूसरी भावना का स्वरूप, च-चक्षु इन्द्री द्वारा. पा-देखकर, रू-रूप कैसाहै रूप, म-मनोज्ञ, म-कल्याणकारी, स-सचित्त, अ-अचित्त, मी-मिश्र वह किस का रूप, क-पीठिका का रूप, तथा काष्ठ का १, पो-वस्त्र का रूप २, ची-चित्रित रूप ३, ले-मिट्टी का रूप ४, से-पाषाण का रूप ५, दं-दांत का रूप ६, पं-पांच वर्ण का, अ-अनेक सहित, सं-संस्ठाण के आकार ६, सं-सहित ७, गं-मालाको गूंथकर वन.ये ८, वे-विंटी दंडावत ६, पु-प्रतिमा पीतल की भर कर पैदा किया १०, सं-अनेक वर्ण इकट्टे कर पैदा किया पंचवर्णी फूल की माला के समान ११, इ-ये, म माला, व-कई प्रकार के, अ-अत्यन्त, न-नेत्र को, म-मनको, सु-सुख देने वाला सुन्दर रूप, व-वन खंड वनखंड अटवी १२, प-पर्वत १३, गा-गाम १४, आ-आगर १५, न नगर १६,खु-जलाशय १७,पु-कमल सहित वावड़ी १८, चा-चौकोनी वावड़ी १६, दी-लंवी वावड़ी २०,गु-वांकी वावड़ी २१, स-सरोवर २२, ने-एक सरोवर से दूसरे सरोवर में पानी जाने वाला नाला,२३,सा-समुद्र २४,वी-धातु खोदने की कुदाली २५, खा खाई २६,न-नदी २७ स-विना खुदे तालाव २८,त-खुदे तालाव २६, व-क्यारियां, कु-फूले, उ-नीलोत्पल, प-दूसरे पद्म कमल सहित, पं-विभूषित, अ-सुहावने जल के आश्रय, अ-अनेक ३०, स-पक्षी के, ग-समूह, मी-स्त्री और पुरुष के जोड़े, वी-वनाये हैं, में-मंडल ३१, वी-नाना प्रकार के, भ-भवन घर ३२, तो-तोरण ३३, चे-प्रातिमा ३४, दे-देवालय, स-सभा,

प प्राच इत्यादि अच्छे पर्यंक, स-आसन, सी-पालकी, र-रथ, स-गाड़ी शिविका युग स्यंदनी, न-पुरुष स्त्री के समूह से, पं-सुशोभित, द-देखने योग्य, वी-वस्त्रादि से सुसज्जित पु-पूर्व भव में, क-किये, त-तप,प्प-जिस के प्रताप से,सो-सौभाग्य,सं-सहित न-नट, न-नचाने वाले, ज-जल म-मल मु-मुठीक,वे-वेलंवक, क-कथक प-स्रवग,ला-लासक, आ-आख्यातक,ल-लंख,मं-मंख तु तूण इल्ल, तु-तुम्वे की वीणा, ता-तालाचर इतने की प-वनाई य-और, ब-बहुत, सु-भले कर्म, अ-इससे भिन्न, ए-ये आदि, रू-रूप में, म-मनोज्ञ, भ-कल्याण कारी, न उस रूप को,स-साधु को न स-सम्बन्ध नहीं करना, १ न-राग न करना, २ न-अद्धि भी न होना, ३ न मोह भी नहीं करना ४ न व्याघात, अंतराय न-आ-न करना,न-लोभ नहीं करना,न-संतोष न पाना, न-हसना नहीं, न-याद करना नहीं, म-विचारना त-कु-न-करे।

इस पाठ में ऐसा कहा कि इतने पदार्थ न देखे। पहिले देखे हों तो उन्हें याद भी न करे। जिसमें चैत्य यानी प्रतिमा और देवकुल अर्थात् देहरे भी आगये तो प्रतिमा वंदन कब रहा?इतने पदार्थ देखते कर्म बंध का कारण कहा और स्त्री की पुतली देखने से राग उत्पन्न हो ऐसा तो सूत्र में पाठ,पर प्रतिमा देखने से वैराग्य उत्पन्न हो या हुआ ऐसा पाठ तो कहीं नहीं है अगर हो तो, दिखाओ और पुतली का सहारा ले प्रतिमा ठहराते हो सो तो सिद्ध हो नहीं सक्ती क्योंकि पुतली देखने से राग पैदा हो,यह तो अनंत काल की जीव की रीति है मोहनीय कर्म वाले को राग पैदा हो यह तो उदय भाव है और वैराग्य उत्पन्न होना यह तो अपूर्व बात है। क्षयोपशम भाव हो तो वैराग्य उत्पन्न होता है। कुछ वस्तु देखने से वैराग्य नहीं पैदा होता । और ऐसा करते

प्रत्येक बुद्धि हुए तो उनको वाह्य कारण से ज्ञान पैदा हुआ, संयम लिया, इस लिये उस वाह्य कारण की पूजा नहीं की। भरतेश्वर को आरीसे के भवन में केवल ज्ञान पैदा हुआ तो उनने उसकी पूजा न की। इसी प्रकार करकंडू ने वृषभ नहीं पूजा, दुमूह राजाने स्तंभ नहीं पूजा। नमि राजाने चूड़ो की पुजा नहीं की। निगाई राजाने आम की वंदना न की। क्षयोपशम जोग वाह्य कारण देखकर ज्ञान पैदा हुआ, पर वाह्य कारण वंदनीक नहीं कहा। इस लिये प्रतिमा देखकर कोई समझा ज्ञानी हुआ, संयम लिया, ऐसा सूत्र में कहीं उल्लेख नहीं है।

२३ मंद बुद्धिवाले देहरे प्रतिमा बनावें, वे दक्षिणी दिशा की नारकी में जाते हैं।

हिंसाधर्मी कहते है कि देहरे बनाने, प्रतिमा कराने, प्रतिष्ठा कराकर पूजने से जीव बारहवें देवलोक जाता है। यह बात सूत्र विरुद्ध है। भगवंत ने राजा श्रेणिक से कहा " चार बातों में से तू एक बात भी करले तो नर्क न जाय-कालू कसाई भैंसे न मारे, कपिला दासी साधु को दान दे, पुणिया श्रावक सामायक तुझे दे दे या तू नौकारसी के प्रत्याख्यान धारण करे " ऐसे चार कारण श्रेणिक को नर्क में न जाने के बतलाये जिसका कथा में वर्णन है। पर भगवान् ने यों नहीं कहा कि देहरे बना, प्रतिमा पूज कि जिस से तू देवलोक पा जावेगा, नारकी टल जावेगी, इस प्रकार तो कौणिक, कृष्ण

आदि भी टाल सके थे पर इस में कुछ लाभ नही दीखा।
प्रश्न व्याकरण के प्रथम आश्रव द्वार में कहा कि इतने कारण से पृथ्वी का आरम्भ करनेवाला मन्द बुद्धिवाला है जिसका फल उसे यही मिलता है कि वह दक्षिण दिशा की नारकी में जाता है। वह पाठ यह हैः—

इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं किं ते करिसण १ पोक्खरणी २ वावी ३ वप्पिण ४ कूप ५ सर ६ तलाग ७ चिति ८ चेइय ९ खाइंय १० आराम ११ विहार १२ थूभ १३ पागार १४ दार १५ गोपुर १६ अट्टालग १७ चरिय १८ सेतु १९ संकम्म २० पासाय २१ विकप्प २२ भवण २३ घर २४ सरण २५ लेण २६ आवण २७ चेइय २८ देवकुल २९ चित्तसभा ३० पव्वा ३१ आयतणा ३२ अवसह ३३ भूमिघर ३४ मंडवाणयकरा ३५ भायण ३६ भंडोवकरणस्स ३७ विविहस्सय अट्टाए पुढ़ावे हिंसंति मंदवुद्धिया।

अर्थः-इ–वे कहते हैं, वी-नाना प्रकार के, का-कारणों से इन्द्रिय हनन करते हैं, की- वे कौन से कारण जो कहते हैं, कं-खेत जोतने के लिये फर्से आदि सव पदार्थ ४ बोल में आगये, उस हल का चलानेवाला १, खेत जुतानेवाला मालिक २, पृथ्वी आदि त्रस जीव हणावे ३,भोजन आदि के लिये ४ इन में आर्य अनार्य जाति के सव आगये। इसी प्रकार सव जगह चार बोल कहना, करने वाला, कराने वाला, अनुमोदन देने वाला, ३, मंद बुद्धि ३·योग से समझना, अर्थ, काम, धर्म ३

ये तीन अर्थ से करने वालों को मंद बुद्धि वाले कहे। उनकी इच्छा इन कार्यों में तल्लीन रहती है और ये कार्य करना वे अच्छा समझते हैं इसलिये वे नीच गति में जाते हैं, इस लिये सब जगह ये ४ बोल लागू करना, पो-चे-पोखरणी कमल वाली २, बावड़ी कमल सहित ३, व-खेतादि की क्यारियां,कू-कुप ५, स-विना खोदे तालाव ६, खुदे तालाव ७, ची-मृतक की धरती खोदना ८, वे-वेदिका बनाना ९, खो-नगर की खाई १०, य-और, आ-बाड़ी ११, वि-क्रीड़ा के स्थान तथा बौद्धादि के स्थान १२, थु-मृतक के पगले १३, पा-गढ़ १४, दा-द्वार १५, गो-गोलक बाट १६, अ-गढ़ पर के कोठे १७, च-चढ़, सेतु, ८ हाथ का मार्ग १८, से-पाजें १९, सं-उतरने के मार्ग तथा पंक्तियें २०, पा-राजा के मंदिर २१, वी-घर के भेद २२, भ-चौसाल घर २३, ध-सामान्य घर २४, स-तृण के घर २५, ले-पर्वत पर के घर २६, आ-हाट २७, चे-प्रतिमा २८, दे-शिखर बंध प्रासाद देहरे २९, ची-चित्राम की सभा ३०, प पर्व ३१, आ-देव के स्थानक ३२, व-तपस्वी के स्थानक ३३, भू-भौंयरे तलघर ३४ मं-घर के आगे मंडल पूर्वोक्त सब वस्तुओं के कारण ३५, तथा और भा-धातु के वर्तन ३६, मं-मिट्टी के वर्तन ३७, उ घर के ऊंखल मूसल आदि के लिये ३८, तथा वि-नाना प्रकार के लिये य-और, अ-अनेक तरह, पु-पृथ्वीकाय को, ह-हने, मं-मंद बुद्धि वाले।

इस पाठ में देहरे प्रतिमा बनाने वाले को मंदबुद्धि कहा। इन में से कई काम स्वार्थ के कारण समदृष्टि भी करते हैं पर वे आरम्भ की अनुमोदना नहीं करते। संसार हेतु समझ कर करते हैं, इस लिये वे मंदबुद्धि नहीं निर्मल बुद्धि है और धर्म के लिये तो समदृष्टि आरम्भ ही नहीं करे। जो आरम्भ में

धर्म समझे तो उसका समदृष्टीपना भी नहीं रहता। अगर आरम्भ में धर्म समझते हों तो साधु को आधाकर्मी आहार क्यों नहीं देते? मोल लाकर भी नहीं देते? इसलिये ये मन्द बुद्धि नही। और देहरे और प्रतिमा तो आनंद जैसे श्रावकों ने भी नहीं वनाई तो ये क्यों वनावें?

हिंसाधर्मी कहेंगे कि मंदबुद्धि में चैत्य, देवकुल का कथन है तथा पांचवे आश्रवद्वार में देवता के चैत्य परिग्रह में लिये हैं तथा पांचवे संवरद्वार में चैत्य प्रतिमा, देवकुल देखना भी निषेध है तो इन तीनों जगह देहरे प्रतिमा अन्य देव की कही हैं पर जिन प्रतिमा या देहरे नहीं क्योंकि इन तीनों जगह देव-कुल कहे हैं और जिन के देहरे का कथन होता तो सिद्धायतन कहते। इन शब्दों में अंतर है। इसका उत्तर -ज्ञाता अध्ययन दूसरे में नागघर, यक्षघर, भूतघर, वेसमण घर इन देवताओं के घर को घर कहा है वैसेही द्रौपदी के देहरे को भी जिनघर ही कहा है सिद्धायतन नहीं कहा। तीर्थंकर के देहरे को सिद्धा यतन कहोगे या नहीं? तव सिद्धायतन, देवकुल, देवालय ये सब रहने के घर हुए। यहां देवकुल और सिद्धायतन शब्दों में अंतर दिखाने वाले मूर्ख है, पर परमार्थ एकही है। जिन के देहरे सिद्धायतन और अन्यदेव के देहरों को देवकुल कहोगे तो द्रौपदी के अधिकार में जिनघर ही कहा, सिद्धायतन नहीं कहा, वहां द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी वह अब तुम्हारे ही न्याय से अन्य देवकी ठहरेगी। इसपर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

२४ साधु प्रतिमा को वैयावच्च करने हैं इसका उत्तर

हिंसा धर्मी कहते है कि प्रश्न व्याकरण के संवर द्वार में

कहा है कि साधु प्रतिमा की वैयावच करे यह बात सूत्र विरुध्द है तीसरे संवर द्वार का पाठः-

अह केरिसए पुणाइं आराहए वयमिणं जे से उवहि भतपाण संगहणं दाणकुशले अच्चंतबाल १ दुव्वल २ गिलाण ३ वुड्ढ ४ मासखमण ५ पवत्ति ६ आयरिय ७ उवज्झाए ८ सेह ९ साहम्मिए १० तवस्सी ११ कुल १२ गण १३ संघ १४ चेइयट्ठेय निज्जरट्ठी वेयावच्चं अणि-स्सियं दसविहं वहुविहं करेति।

अर्थः-अब प्रश्नः-अदत्त भी नहीं लगता और व्रत निप-जता है के-कैसा साधु, पु-अलंकृत, आ-आराधन करता है, व-व्रत, इ-ये तीसरे को, जे-जो, से-वह साधु, उ-वस्त्रादि, भ-भात और प-पानी देने वास्ते, स-निर्दोषी लाकर, दा-गुरु आदि को दे, कु-चतुर वह आराधे, अ-आठ वर्ष के वालक १ दु-दुर्वल २, गा-देहक्षीण हुए ३, वु-वृद्ध ४, ख-मास खमणादि के कारण ५, प-शिष्य प्रवर्तक ६, आ-आचार्य ७, उ-उपाध्याय सूत्रपाठी ८, से-नवदीक्षित ९, सा-एकसी समाचारी साधर्मी १०, त-तपस्वीं ११, कु-संघ गच्छ १२, ग-गण समूह १३, सं-संघ समुदाय और चार तीर्थ सब साधु के १४, चे-ज्ञान का इच्छुक साधु, नि-निर्जरा का इच्छुक साधु, वे-वैयावच करे, अ-ने आय रहित, द-दस प्रकार से आचार्यादि सम्बन्धी, व-असन, पानी, जाव, औषधि आदि की वैयावच, क करे.

इस पाठ में तो ऐसा कहा कि कौन सा साधू तीसरा व्रत आराध सक्ता है, वह कहते हैं। विश्वासी गृहस्थ के यहां से आहार, भात, पानी ये तीन वस्तुएं लाकर वाल दुर्वलादि

चौदह प्रकार के साधु को दे, वह साधु तीसरा व्रत आराधना है, ये दस प्रकार की वैयावच क्यों करे ? चेइयठे (ज्ञान के लिये) निजरठे (निर्जरा के लिये) इन दो कारणों के कारण चौदहों की दस प्रकार से वैयावच करे, यह शुद्ध अर्थ समझना चाहिये, दस विधि स्थानाङ्ग के दसवे ठाणें मे कही है,

वह पाठः—

दसविहे वेयावच्चे पएणत्ते तं जहा आयरिय वे० १ उवज्झाय वे० २ थेर वे० ३ तपसीय वे० ४ गिलान वे० ५ सेह० ६ साहम्मी वे० ७ कुल वे० ८ गण वे० ९ संघ वे०१०

अर्थः-द-दस, वि-प्रकार, वे-वैयावच, प-कही है, तं वह कहते हैं, आ-आचार्य का वैयावच आहारादि से करे १, उ-उपाध्याय का वैयावच भात पानी लादे २, थे-स्थविर ३, त-तपस्वी ४, गि- ग्लानि ५, से-नये शिष्य का ६, सा-साधर्मी का ७ कु-कुल, एक गुरु के परिवार का एक गण, कई गण या संघाड़ा के सब साधु का ८, ग-गण, गच्छ का ९, सं-चतुर्विधि संघका १०, ये दस वैयावच करे ।

इसमें प्रतिमा की वैयावच करने का उल्लेख नहीं है। फिर भगवती शतक बारहवे उद्देशे दूसरे में इसी मुताबिक १० प्रकार की वैयावच का कथन है, वहां प्रतिमा का नाम भी नहीं है। उववाई सूत्र में १० प्रकार की येही वैयावच चली है वहां भी प्रतिमा की वैयावच का नाम नहीं है। व्यवहार सूत्र में भी दस प्रकार की वैयावच का कथन है उसमें भी प्रतिमा का उल्लेख नहीं है तो फिर प्रश्न व्याकरण में प्रतिमा की वैयावच कहां से आई ? और बहुविहं शब्द कहा वह इसी लिये कि चार

सूत्रों में दस भेद वैयावच के कहे और यहां चौदह भेद कहे इसलिये 'बहुविहं' कहा। तथा सिंह अणगार ने रेवती के घर से बिजोरा पाक लाकर श्री भगवंत को दिया तथा व्यवहार मे गणी, गच्छावच्छेद की वैयावच करना व्यवहार सूत्र में चला है, ये शब्द आचार्य शब्द से भिन्न है। इसलिये चौदह नाम में ये नाम नही आये, तब बहुविहं कहा जिसमें सब आगये। अब चौदह की वैयावच किस प्रकार करे उसके लिये पहिले तीन बोल कहे है:– "सेउवहीं भत्तपाण संगहणदाण कुसले" औषध, भात, पानीसे चौदह की वैयावच करे तो देखो औषध, भात, पानी प्रतिमा के किस काम आता है? प्रतिमा तो अन्न खाती नहीं, पानी पीती नही, बीमार होती नहीं, ओढ़ती, पहिनती, बिछाती भी नहीं, यहां प्रश्न यह है कि फिर प्रतिमा की कैसी वैयावच करे?

२५ नंदी सूत्र में सब सूत्रों का उल्लेख तथा प्रस्ताव की विरुद्धता—

हिंसा धर्मी कहते हैं कि तुम सूत्र थोड़े मानते हो, जिन सूत्रों में प्रतिमा का अधिकार है उनके घड़ाने, पूजने, प्रतिष्ठा करने, संघ निकालने आदि कार्य करने से लाभ हो ऐसा वर्णन है उन सूत्रों को तुम नहीं मानते हो, इस का उत्तरः- जंघाचारण, विद्याचारण, १ सूरियाभ २ विजयपोलिया ३ द्रौपदी ४ प्रतिमा की वैयावच ५ चौत्तीस अतिशय ६ आनंद ७ अंबड़ ८ चमरेन्द्र ९ कयवलिकम्मा १० इतने स्थानों पर तुम प्रतिमा ठहराते हो वे सूत्र भगवती, राय पसेणी, जीवा-

भिगम, ज्ञाता, प्रश्नव्याकरण, समवायांग, उपासक दशांग, उववाई तो हम मानते है,प्रतिमा के भय से इन्हे तो नही त्यागे। यह बात तुम मिथ्या कहते हो कि तुम प्रतिमा के कारण थोड़े सूत्र मानते हो। पर देखो, नंदी सूत्र में जिन २ सूत्रों का उल्लेख है उनके नाम बतलाते हैं प्रथम उत्कालिक सूत्र के २६ नाम दशवैकालिक, कप्प.य कप्पियं, चुलकप्पसुयं महाकप्पसुयं उववाई, रायपसेणी, जीवाभिगम, पन्नवणा, महापन्नवणा,पमा य पमायं, नंदी, अनुयोग द्वार, देवेन्द्रस्तव, तंदुलवेयालिया, चन्द्रविजय, सुरपन्नंति, पोरसीमंडल, मंडल प्रवेश, विजा-चारण विणीछीय, गणिविज्जा, झाणविभक्ति, मरण विभक्ति, आयविसाही, वैरागसुय, संलेहना, व्यवहारकप्प, चरणविही, आउरपचखाण, महापचखाण, अब " कालिक सूत्र के ३१ नाम-उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, प्रतिकल्प, व्यवहार, निसी' थ, महानिसीथ, ऋषिभाषित, जम्बूद्वीप पन्नंति, द्वीपसागर पन्नंति, चंद पन्नंति, खुड्डिया विमाण पविभंति, मह्लीया वि-माण पविभक्ति, अंगचूलिया, विवाह चूलिया, अरुणाववाई, वरुणोववाई, गुरुलोववाई, धरणोववाई, वेसमणोववाई, वेलं-धरोववाई, देवीदोववाई, उठाणसुयं, समुठाणसुयं, नागमरी-यावणीया, निरयावलीया, कप्पीया, कप्पवेडसहया, पुप्फीया, पुप्फचुलिया, वन्हीदसा, ऐसे साठ एक आवश्यक ६१ और बारह अंग कुल ७२ या तिहोत्तर सूत्र के नाम नंदीसूत्र में कहे हैं, उनमें से जो विच्छेद गये वे गये और बाकी के अभी सूत्र ३२ हैं वे हम मानते हैं, इसके सिवाय हिंसा धर्मी अभी ४५ सूत्र आगम मानते है अर्थात् तेरह अधिक मानते हैं, उनमें देवंदथुओ, तंदुलेवेयालीया गणिविज्जा, मरणाविभक्ति, आउर पचखाण, महानिसीथ, महापचखाण, चंदवीजये आठ के नाम

तो नंदीसूत्र में हैं पर ये ग्रंथ मूल में ही नहीं है क्योंकि मूल के होंतो आचार्य कृत क्यों कहे जायं ये आचार्य के हैं इस लिये पीछे बनाये हुए समझना चाहिये। जिस प्रकार द्वादशांगी भगवंत गणधर कथित है इसे आचार्य कृत किसी शास्त्र में नहीं कहा इसलिये ये आठ ग्रंथ मूल के नहीं, पर आचार्य कृत हैं। वैसे ही महानिसीथ नाम तो प्राचीन है पर आठ आचार्यों ने मिल कर बनाया है। शेष सूत्र १३ में से रहे जिनके नाम-चउसरणपइन्ना, भत्तपइन्ना, संथार पइन्ना, जीत कल्प, पिंड निर्युक्ति।

इन पांच सूत्रों का तो किसी शास्त्र में उल्लेख भी नहीं है. न कही साख ही है, तो इन्हें सूत्र समझकर कैसे प्रमाणिक मानें? इस प्रकार ४५ हुए फिर महासुठीण भावना, चारण भावना, तेयनिसग्गेणं, आसीविस भावना, दिठीवीस भावना। इन पांच सूत्रों के नाम व्यवहार सूत्र में हैं ऐसे कुल ७२ हुए। फिर ठाणांग के दसवें ठाणे में दस सूत्र के नाम कहे हैं-कर्म विपाक दशा, अर्थात् विपाक सूत्र, उपासक दशा यह उपासक अंग, अंतगड़दशा आठवां अंग, अणुत्तरोववाइ नवां अंग, प्रश्न व्याकरण दशवां अंग आयार दसा- दशाश्रुत स्कन्ध १ खंड दसा, २ दोगधीक दसा, ३ दीर्घदसा ४, संखेवीय दसा, ये चार के नाम हैं पर ग्रंथ अप्रसिद्ध है।

इस तरह ८२ सूत्रों के नाम व साख सूत्रों में मिलती है, सब ८४ कहते हैं जिन में २२ तो मिलते नहीं बाकी जो गणधर कृत हैं वे ही प्रामाणिक हैं, शेष एकान्त शुद्ध नहीं गिने जाते। शुद्धाशुद्ध मिश्र हों वे एकान्त सिद्धान्त

से कैसे समझे जायं? तब हिंसाधर्मी कहते हैं कि शेष आचार्य कृत ग्रंथ सिद्धान्त ज्यों नहीं मानते हो तो दशवै कालिक सूत्र सीयंभव आचार्य कृत क्यों मानते हो? सूत्र क्यों गिनते हो? सीयंभव गणहरा जिणपडिमा दंसणेण पाडिवुद्धा। थे पांचवें आरे में हुए हैं। दशवै कालिक तो भगवान् के समय से है। नंदीसूत्र में साक्ष है, जो पांचवें आरे का बनाया हुआ हो तो चौथे आरे के नदी सूत्र में उसका नाम कैसे लिखागया?

हिंसाधर्मी कहते हैं पन्नवणा तो २३ वें पाटपर सामाचार्य हुए उनने बनाई है। ये भी कथन मिथ्या है। जो तेवीसवें पाट नें बनाई हो तो भगवती, भगवंत गौतम ने बनाई उसमें पन्नवणा के ३६ पदकी साक्ष क्यों दी? जो पीछे बनाई होतो चौथे आरे के नंदी सूत्र में उसका नाम कैसे आया? समाचार्य ने विस्तृत अधिकार निकालकर लघु की है पर नया वितंडावाद कुछ लिखा नहीं। इसलिये पन्नवणा पहिले की ही बनी हुई है। फिर हिंसाधर्मी नंदी सूत्र को भी देववाचक कृत कहते हैं यह भी उनका कथन मिथ्या है। नंदीसूत्र गणधर कृत है। नंदी में ही नंदी का नाम है। नंदीसूत्र के अंत में पचास गाथाएं हैं वे देववाचक कृत पांचवें आरे के आचार्य के नाम की हैं। पर नंदीसूत्र तो प्राचीन है तथा लघु है। निसीथसूत्र विसावागणी कृत कहते हैं यह भी मिथ्या है। नंदीसूत्र में निसीथ का भी नाम है। यो ये पूर्वाचार्य का मान बढ़ाते है और सूत्र आचार्य कृत कहते हैं पर यह कथन उन का मिथ्या है।

फिर जित कल्प ग्रंथ को छेद सूत्र कहते हैं जिस का तो नंदीसूत्र में नाम भी नही है। जिसमें अपना मत दृढ़ करने के लिये ऐसे पाट रचे हैं-

से भगवयं तहारुवं समणं वा महाणं वा चेइ घरे गच्छेज्जा हंता गोयमा दिने २ गच्छेज्जा से भगवं जेत्थ दिने न गच्छेज्जा तउ पायच्छितं हवेज्जा भगवं किं पायच्छितं हवेज्जा ? गोयमा ? पमायं पडुच्च तहारुवं समणं वा महाणं वा सो जिणघरं न गच्छेज्जा अहवा दुवाल समं पायच्छितं उवदंसेज्जा से भगवं समणो वासगस्स पोसहसालाए पोसहिए पोसहवंभ यारी किं जिणहरं गच्छेज्जा ? हंता गोयमा ? गच्छेज्जा से भगवं केणट्टेणं गच्छेज्जा गोयमा नाण दंसणट्ठयाए गच्छेज्जा जे कोई पोसहसालाए पोसहं वंभयारी जे जिणहरे न गच्छेज्जा ते पायच्छितं हवेज्जा गोयमा जहा साहु तहा भाणि यव्वं छट्ठ अहवा दुवालसमं पायच्छितं उवदंसेज्जा।

ऐसे कल्पित पाठ रचे है। श्रावक प्रमाद से साधु तथा भगवान् की वंदना न कर सका तो उस का प्रायश्चित करे। पर प्रायश्चित का कथन तो किसी सूत्र में भी नहीं है। वृत्ति कल्प, व्यवहार, निसीथ, आचारंग में साधु के आचार का वर्णन है तथा प्रायश्चित् की विधि का कथन है पर देहरे न जाने के वारे में तो कोई प्रायश्चित् किसी सूत्र में लेना नहीं वताया, तो तुमने जीतकल्प प्रकरण रचकर इस में पाठ जोड़ा और प्रायश्चित् लघुमास, गुरुमास, लघु चौमासी गुरु चौमासी, लघु छैमासी, गुरु छैमासी, इस प्रकार प्रायश्चित् की संज्ञा वनाई, पर उपवास, वेले, तेले, आम्बिल एकासणा, चोला, पंचोला कहे नहीं। सूत्र की रीति से अज्ञात मिथ्या दृष्टी नये पाठ रचें। पर वे छिप नही सक्के। अभव्य कुलक ग्रंथ

भरुचक में हरिभद्र सूरी थे जिन ने १४४४ बौद्धमती को मंत्र द्वारा होम दिये। ऐसे दयावंत महाव्रत के स्वामी? उन के बनाये हुए पाठ लिखते हैं।

जेह अभव्य जिवेही। नफासीया एक माइ था।
भावाइं दतं मणुत्तर सुरं। सिल्लाय नर नार दतंच ॥१॥
केवली गणहर हथे। पव्वजा तिछवछरं दाणं।
पवयण सूरी सुरत्तं। लोगतिय देव सामित्तं ॥ २ ॥
तयातिसग सुरतं। परमाहिम्मिय जुगल मणुयत्तं।
संभिन्न सोति तह। पुव्व धराहार पुलायत्तं ॥ ३ ॥
मइनाणाइं सुलद्धी। सुपत्त दाण, समाहि मरणंच।
चारण दुग मधु सिप्पिय। खीरासवार खीण ठाणतं ॥४॥
तिथयर तिथ पडीमा। तणुपरी भोगाइ कारणे।
विपुणो पुढवाईय भावंमियं। अभव जीवेहिं नहुपत्तं ॥५॥
चउदस रयणत्तंपी। नपत्तं पुणोवि विमाण सामीत्तं।
समत्त नाण संयम। तवाइं भावन भाव दुग्गं ॥ ६ ॥
अणुभव जूत्ता भत्ति। जिणाण साहम्मियाण वाछलं।
नयसा हेति अभावो। संवेग तंन सुपखं ॥ ७ ॥
जिण जणणी जाया। जिण जखा दीवगा जुग्मप्पहाणा।
आयरीय पयाइं दसगं। परमथ गुण ढमपत्तं ॥ ८ ॥
अणुवध १ हेतु २ सरुवा ३। तथ अहिंसा तिहां जिणु दिठा
दव्वेणय भावेणय। दुहावी ते सिंन संपत्ता ॥ ६ ॥

इति अभव्य कुलक।

इस में कहा कि अभवी जीव इतनी वातें न पावे जिस मे उपसम और क्षायक भाव सम्बन्धी वस्तु न पावे और उदय भाव वस्तु तो पावे तथा नारद पना परमाधामी, चुगलिया तीर्थंकर की प्रतिमा के भोग मे आने वाली पृथ्वी, पानी, वनस्पति चौदह रत्न के विमान के स्वामी, शासन देवता, शासन देवी, चौबीस यक्ष, चौबीस यक्षिणी, अभवी जीव इतनी वातें न पावें और सिद्धांत में तो ये सब वस्तुओं में भवी. अभवी " उववन्न पुव्वा असई अदुवा अणंत खुत्तो " उत्पन्न हुए कहा है । भूतकाल में निश्चय में वार वार अनंत वार जन्मे हैं । जो नये बनाये पाठ मूल सिद्धांत से विलकुल न मिलें । ऐसे पाठ व उस ग्रंथ को सिद्धांत कैसे मानें ? फिर हिंसाधर्मी कहते हैं -

सुत्तं गण हर रइयं तहेव । पत्तेय बुद्धि रइयंच ॥
सुय केवलिणा रइयं । अभिन्न दस पुविणा रयं ॥

गणधर, प्रत्येक बुद्धि, चौदह, १३, १२, ११, १०, पूर्व वाले के वचन सूत्र के समान समझे जाते हैं । यह बात तो ठीक है इस लिये हम पूर्वाचार्य पूर्व धारी जिन के वनाये हुए ग्रंथ प्रमाण मानते हैं इस का उत्तरः-हिंसाधर्मी पूर्व धारी आचार्य कृत मानने का तो मिस वनाते हैं और मानते हैं । विना अपूर्व धारी के ग्रंथ देखोः-कर्म ग्रंथ, दिवाली कल्प, शत्रुंजय महात्म संदेह दोहावली, संघाचार, विवेक विलास, भरतेश्वर वृत्ति, योगशास्त्र, कल्प किरण इत्यादि ग्रंथ विना पूर्व धारी के वनाये मानते हैं । हां, पूर्वधारी के वनाये ग्रंथ हों तो वे सप्रमाणिक हैं पर केवली प्ररूपित वचनों से विरुद्ध न हों, उस के आश्रय में रह कर वनाये हो और उपयोग सहित हों वेही सिद्धांत

प्रमाणिक हैं। सिद्धांत गणधर के बनाये हैं। वे भगवत के आधार पर बने हैं। इस में संदेह नहीं और टीका में जगह २ संदेह पड़ने लगा वहां तत्व केवली गम्य कहा,तो वहां समझना चाहिये कि यह टीका नई बनाई है। भगवंत के सामने नहीं रची गई। अन्य पूर्वधारियों के वचन भी सशंक होते हैं,सत्या सत्य दोनों होते हैं क्योंकि छद्मस्थ के कारण पूर्वधारी आगम व्यवहारी भी भाषा चूकते हैं। ऐसा सूत्र में लिखा है।

(१) श्री तीर्थंकर देव छद्मस्थ हो वहां तक सूत्र नहीं प्ररूपते केवल पाये बाद प्ररूपते हैं। छद्मस्थावस्था में तीर्थंकर कोभी ९ योग होते हैं चार मन के, ४ वचक के और औदारिक इस लिये असत्य के भय से सूत्र नहीं प्ररूपते।

(२) श्री नेमिनाथ स्वामी ने श्री कृष्णके आगे सोमल ब्राह्मण का नाम नहीं लिया; क्योंकि नाम लेने से कृष्ण को द्वेष पैदा होता। ऐसा केवली का सूक्ष्म मार्ग है पर धर्म घोष आचार्य पूर्वधारी थे। उनने नागश्री को निकलवाई, निंदा करवाई, दुःखी बनाई। यह छद्मस्थ की भूल है।

(३) सुमंगला, साधु, अवध ज्ञानी, आगम व्यवहारी ये चार घोड़े, रथ सारथी और विमल वाहन राजा इन छः को जलावेगे और भगवान् के मुख के सामने गौशाला ने दो साधु जला दिये पर भगवान् ने मनसा मात्र भी द्वेष नहीं किया। यह सुमंगला अणगार की छद्मस्थावस्था की भूल। कोई कहेंगे कि सुमंगला साधु के लिये प्रयाश्चित् क्यो न कहा? उत्तरः- प्रायश्चित् तो पवंता मुनि के लिये भी न कहा पर यह तो सोचो कि इस जगह प्रायश्चित् देना सत्य है या इस का अनुमोदन करना सच है?

(४) केशीकुंवर, चार ज्ञान,चौदह पूर्वधारी जिन्हें प्रदेशी राजा

ने जड़, मूर्ख तुच्छ कहे, कठिन भाषा बोले, यह छद्मस्थ की भूल।

(५) गोतम स्वामी मृगालोढ़ा को देखने गये यह छद्मस्थपने का उच्छरंग

(६) गोतम स्वामी ने अन्यतीर्थी की प्रशंसा तथा परिचय करने के समदृष्टी को तो सोगध कराये और आप स्वयं स्कंधक के सन्मुख गये, आने का अनुमोदन किया। यह छद्मस्थावस्था की उच्छरग।

(७) भगवती शतक पच्चीसवें में पुर्वधारी कषाय, कुशील तथा नियंठे से पड़वाई हो जायं ऐसा कहा तो यह छद्मस्थावस्था की भूल है।

(८) पूर्वधारी के भी चार भाषा के योग कहे वे असत्य और मिश्र भाषा बोलते है। यह छद्मस्थावस्था की भूल।

(९) पूर्वधारी आहारिक शरीर बनावे, शंका पैदा होने पर लब्धि प्रकट करे। भगवती शतक सोलहवें उद्देशे में आहारिक शरीर को अधिकरण कहा है तथा पन्नवणा पद छत्तीसवे में आहारिक समुद्धात करते पांच क्रिया लगती हैं तो वे आहारिक लब्धि फोड़ते हैं यह छद्मस्थावस्था की भूल।

(१०) पूर्वधारी आहारिक शरीरी अनंत निगोदमें गये, असख्याते नारकी पाए। ये छद्मस्थावस्था की भूल।

(११) दिसाचार पूर्वधारी ने गौशाला को अंगीकार किया, शिष्य बन कर रहे। यह छद्मस्थावस्था की भूल।

(१२) फिर दशवैकालिक आठवें अध्याय में गाथा ५० वीं में कहा है:—

आयारपन्नत्ति धरं। दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वाय विखलियं नच्चा। न तं उवहसे मुणी॥

अर्थ-आ-आचारंग के पढ़ने वाले, प-विवाह पन्नति, ध-पढने वाले, दी-दृष्टीवाद के, आ-पढ़ने वाले साधु, व-वचन द्वारा, वी-चूके, न-समझ, तं-उन साधु की, न-उ-हंसी मत करना, मु-साधु।

आचारंग, भगवती व दृष्टिवाद के ज्ञाता वचन बोलते चूक जायँ तो उनकी हँसी मत कर, यह भी छद्मस्थावस्था की भूल यह साक्ष सूत्र की दी, इसलिये पूर्वधारी के वचन व ग्रंथ, सर्वज्ञ के सामने गणधर प्रणीत जैसे माने न जा सके। और पूर्वधारी को "अजिणा जिण संकासा जिणाइव अहीत वागरे माणा" कहे, यह सत्य है पर जो केवली भाषित जाने हुये पदार्थ हैं और पूर्ण रूपसे धारे हैं उनका उपयोग सहित प्रतिपादन करें तो वे पूर्वधारी के वचन जिन समान ही हैं। फिर हिंसा धर्मी कहेंगे कि भगवान् के निर्वाण बाद एक हजार वर्ष तक पूर्व का ज्ञान था फिर विच्छेद गया। सीलंगाचार्य, अभय देव सूरि, मलयागिरि सूरि, हरिभद्र सूरि, ये टीका करनेवाले कब पूर्वधारी थे! इनको तो पूर्वों का ज्ञान न था और उनके बनाये वृत्ति, प्रमुख अनेक ग्रंथ हैं। वे सिद्धान्त समान क्यों आदरणीय हैं? उत्तर—टीका तो सूत्र के शब्दों का अर्थ है, मूल सूत्र नहीं। वहां वितंडावाद लेख हो तो संदेह पड़े। जैसे चौदहवें शतक सातवें उद्देशे में भगवान ने गौतम से कहा कि तेरे और में बहुत काल से प्रेम है। यहां से चव कर अपन दोनों समान हो जायँगे। ऐसा अर्थ होता है और टीका में भी यही है। पर अष्टापद जाओ, भरत के किये हुए बिम्ब पूजो, जो इतना टीका में और बढ़ाया वह किस मूल सूत्र पर से बढ़ाया? वैसे ही टीका में जितने अर्थ सिद्धान्त से मिलते हों वे प्रामाणिक, और टीका तथा अन्य ग्रंथ मानते सूत्र का अर्थ न

मिले तो वे अप्रामाणिक हैं। सिद्धान्त शब्द बिना जो टीका में अर्थ वढ़ाया उसका भागी कौन ? टीका अर्थागम है यह वात सच्ची है पर मूल शब्द की टीका ही सच्ची है और सिद्धान्त में जो मूल में शब्द ही नहीं उसका अर्थ टीका में कहां से आवैठा?

मूल सूत्र भगवान् के समय गणधर ने बनाये हैं। फिर काल के प्रभाव से ये घट गये। शेष रहे वे सव शुद्ध हैं पर पूर्व की टीका कहां हैं ? पहिले वृत्ति, चूर्णि, टीका आदि थी या नहीं, कि सव आचार्य को नई ही करना पड़ी ?

आचारंग, सुयडांग की वृत्ति सिलंगाचार्य ने की, शेष नव अंग की वृत्ति अभय देव सूरि ने की, दशवैकालिक की टीका हरिभद्र सूरिने की, आवश्यक की वृत्ति भद्रवाहु ने की तो पूर्वकाल की टीका तुम्हारी साक्ष देने वास्ते एक भी क्यों न रही ?

अव सिद्धांत गणधर कृत से वृत्तादि प्रकरण में कितने ही पाठ के अर्थ विरुद्ध जाते हैं, जिन्हें मानने से सूत्र की अशातना होती है। उनमे के कितनेक पाठ नीचे लिखे जाते हैं।

(१) ठाणांग में सनतकुमार चक्रवर्त्ती अंत क्रिया कर मुक्ति गये लिखा और आवश्यक निर्युक्ति में तीसरे देवलोक गये कहा है। ठाणांग की टीका में भी तीसरे देवलोक गये कहा है, यह सूत्र विरुद्ध है।

(२ उववाई, भगवती, पन्नवणा में कहा है कि पांच सौ धनुष्य से ज्यादा औगहना वाला मोक्ष न पावे। वह युगलिया होता है। देखो, शतक चौवीसवां --पर आवश्यक निर्युक्ति में मरूदेवी सवा पांच सै धनुष्य के औगहना वाले सिद्ध हुए लिखा है। यह सूत्र विरुद्ध है।

(३) समवायांग सूत्र में ऋषभदेव, भरत, वाहुवल, व्राह्मी सुन्दरी, इन सव का आयुष्य सूत्र पाठ में चौरासी लाख पूर्व

का कहा और आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि ऋषभदेव अपने ९९ पुत्र भरत को छोड़ और भरत के आठ पुत्र ऐसे १०८ उत्कृष्ट औगहना वाले एक समय में सिद्ध हुए वह गाथा आवश्यक निर्युक्ति की नीचे मुताविक है।

उसभो सवस्स सुया। भरहेण विवज्जियानवनउ।
भरहस्स वसुया सिद्धा। एगंमिसमयंसे॥

अब ऋषभदेव और वाहुवल समान आयुवाले एक साथ कैसे सिद्ध हुए यह सूत्र विरुद्ध है।

(४)मल्लीनाथ स्वामी को चारित्र और केवल ज्ञान ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्याय में पौष सुद ११ को होना लिखा है और आवश्यक निर्युक्ति में मगसर सुदी ११ का दिन कहते हैं। सो यह भी सूत्र विरुद्ध है।

(५)आवश्यक निर्युक्ति में कहा कि साधु पंचक में काल कर जाय तो डाभ के पांच पुतले इकट्ठे जलावें। पर आज गृहस्थ अच्छे २ भी डाभ के नहीं वनाते। वृत्ति कल्प में तो ऐसा कहा कि साधु काल कर जाय तव वांस की झोली वना साधु को वन में पठादे।

दुन्नि पद विढपंत। दभमया पूतला कायव्वा।
समखित्तं मञ्झइको। अवढ अभिन्न कायव्वो॥

इस प्रकार पुतले करना आवश्यक निर्युक्ति की परिठावणिया सुमति में कहा। यह भी सूत्र विरुद्ध है। ऐसे वचन पूर्व धारी नहीं कह सक्ते।

(६) भगवती में कहा कि एक पुरुष के उत्कृष्ट पुत्र हों तो एक लाख से जियादा न हों, पर प्रकरण मे भरत को सवा करोड़ पुत्र होना लिखा है। यह भी सूत्र विरुद्ध है।

(७) गोशाला भगवंत का अपराधी, साधु का मारनेवाला था पर भगवान् ने उसे नहीं मारा, न मारने की आज्ञा ही दी और पुलाक नीयंठा की टीका तथा संघाचार की टीका में कहाः—

संघाइ याणकज्जे चुन्निज्जा चक्कवट्टी सेनं।

विउव्विऊण मुणी महाप्पा, पुलाक लद्धी संपन्नो॥

चक्रवर्त्ती की सैन्य का चूर्ण कर डालना, विष्णुकुंवार की तरह धर्म अपराधी को मारना, यह भी सूत्र विरुद्ध है।

(८) सूत्र में नारकी के नेरियों और स्वर्ग के देवताओं को संघयण रहित कहे और प्रकरण में संघयणवाले कहे यह सूत्र विरुद्ध है।

(६)पन्नवणा और भगवती में पांच स्थावर को एक मिथ्यात्व गुण स्थान वताया और कर्म ग्रंथ प्रकरण में पहिला और दूसरा ये दो गुण स्थान कहे सो सूत्र विरुद्ध है।

(१०)दशवैकालिक आठवें अध्याय की अट्ठावीसवीं गाथा में कहा कि-

अत्थंगयंम्मि आइच्चे। पुरत्था य अणुग्गए।

आहारमाइयं सव्वं। मणसावि न पत्थए॥ २८॥

अर्थः--अ-अस्त होने वाद,आ--आदित्य (सूर्य) पु-पूर्वदिशा में सूर्य के उदय न होने तक (रात में) आ--आहारादि मात्र, स-सव, म-मनसे भी न ले, (रात में कुछ भी न ले, न रक्खे)॥२८॥

वृहत् कल्प की वृत्ति में,चूर्णि में साधु को रात्रि भोजन करना लिखा है उस का पाठः-

इदाणी कप्पीया भणई आणायोगे दार गाहा आणा

भोगेणं वा राइभत्तं भुंजेजा गीलाण कारणेण वा अद्धापडी सेवण वा दुल्लभ दव्वठंतावा १ उत्तम मट्ठ पडिवन्नो राइभत्तं भुंजेज्जा पउसकालेमि गच्छाणुं कंप्पीया एवा राइ भत्तंगुणा सुतत्थ विसारएवा राइभत्ताणुं नाए संखे पत्थो इदानि एके-कस्य द्वारस्य विस्तारेण व्याख्या क्रियते,

यहां रात्रि भोजन करना लिखा सो सूत्र विरुद्ध है।

(११)तथा वृत्ति कल्प की चूर्णिका में साधु को कुशील सेवना कहा, और महानिशीथ में भी कुशील सेवने का लिखा है पर ठाणांग के दूसरे ठाणे में शील रखने के लिये अपघात कर मरजाना कहा है, वह पाठः-

दोठाणाइं अपडिकुट्ठाइं पनंते तंजहा वेहानसे गिद्धपठ्ठे।

अर्थः-दो दोमरण जो आगे कहेंगे वे ब्रह्मचर्य्य रखने के लिये निषेध नहीं किये गये, तं-वे कहते हैं, वे-आकाश में उत्पन्न हुआ, वे हायसि-वे गले में फांसी लेकर मर जायँ, गी-गंध फंसना मृत्यु में वह गंध स्पष्ट अथवा ग्रंध के भक्षण योग जो स्पष्ट औदारिक अवयव हाथी ऊंट में पैठकर महासत्व के स्वामी मर जांय। यह गंध स्पष्ट मरण, इसलिये कुशील सेवना लिखा यह सूत्र विरुद्ध है।

(१२)भगवती छुठे अध्ययन में छुठा आरा लगते ही वैताढ्य को छोड़ सब पर्वत विच्छेद जायंगे ऐसा कहा और प्रकरण में शत्रुंजय शाश्वता कहा, यह भी सूत्र विरुद्ध है।

(१३)भगवती अध्ययन आठवें उद्देशे नववें में कात्रिम वस्तु की स्थिति संख्याते काल की कही है और प्रकरण में शंखेश्वर पारसनाथ की प्रतिमा आठवें चंद्र प्रभु के समय की लिखी है। यह सूत्र विरुद्ध है।

(१४) ज्ञाता अध्ययन सोलहवें में पांच पांण्डवों ने शत्रुंजय पर जाकर संथारा किया और प्रकरण में बीस करोड़ साधु के साथ सिद्ध हुए। यह सूत्र विरुद्ध है।

(१५)भगवती में भगवंत के शासन में सातसौ केवली सिद्ध कहे और प्रकरण में पन्द्रहसौ तापस केवली बढ़ाये। सो यह सूत्र विरुद्ध है।

(१६) स्थानांग के चौथे ठाणे में मानव क्षेत्र पर्वत के चार कूंट कहे पर वहां इन्द्र के आवास और चार सिद्धायतन मानते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(१७)सूत्र में साधु और साध्वी को मोल लाया हुआ आहारादि लेना नहीं कल्पता है। पर प्रकरण में सात क्षेत्र में साधु और साध्वी को गिन उनके लिये धन निकलवाते है। यह सूत्र विरुद्ध है।

(१८)सूत्र मे रूचक द्वीप पंद्रहवां कहा और प्रकरण में तेरहवां कहा सो यह भी सूत्र विरुद्ध है।

(१९) सूत्र में छप्पन अंतर द्वीप जल से अलग कहे पर प्रकरण में चार डाढ़े ऊपर कहते हैं। सूत्र में डाढ़ों का नाम भी नहीं है। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२०) पन्नवणा के अठारहवे पद में छद्मस्थ आहारिक की दो समय की स्थिति कही है। प्रकरण में तीन समय अणाहारिक मानते हैं। शतक सातवें उद्देशे पहिले में चार समय की विग्रह की स्थिति कही। प्रकरण मे पांच समय उत्कृष्टी स्थिति कही है। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२१) समवायांग में आचारंग का महा परिज्ञा अध्ययन नववां कहा है। प्रकरण में सातवां कहते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२२)समवायांग के चौपनवें समवाय में चौपन उत्तम पुरुष कहे हैं। प्रकरण में तिरसठ मानते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२३) पन्नवणा में समूर्च्छिम मनुष्य को सव पर्याय का अपर्याय कहा और प्रकरण में तीन, साड़ेतीन पर्याय मानते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२४) भगवती शतक आठवें उद्देशे दसवें में "सव्वं सव्वेण बंधइ" कहा। जीव प्रदेश एक २ कर्म प्रदेश पर अनंत अविभाग पलीच्छेद से ढका कहा। सव प्रदेश कर्म प्रदेश पर अनंत हैं पर प्रकरण में आठ रुचक प्रदेश खुले कहे। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२५) उत्तराध्ययन अध्याय २८ में छाया, ताप, शब्द, अंधकार उद्योत के वीस्सेसा पुद्गल ग्रहण नहीं कर सके कहा। पर प्रकरण में गौतम ने सूर्य किरण पकड़ी कहा। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२६) सूत्र स्थानांग और निशीथ में ३४ अस्वाध्याय कही है। प्रकरण में चैत माह में नौ २ दिन ओली के अस्वाध्याय के कहे। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२७)अनुयोग द्वार में उच्छेद अंगुल से प्रमाण अंगुल हजार गुना कहा। इस रीतिसे चार हजार गाऊ एक योजन के हुए पर प्रकरण में सौलहसौ गाऊ का माना। यह भी सूत्र विरुद्ध है।

(२८) भगवती शतक सोलवें उद्देश छट्ठे में व स्थानांग के दसवें ठाणे में श्री महावीर को दस स्वप्न छद्मस्थपने की अंतिम रात को दीखे कहे हैं पर आवश्यक में प्रथम चातुर्मास में दीखे और जिस का फल उत्पलय ब्राह्मण ने वताया कहते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(२९)संयम लेने में समय मात्र भी प्रमाद न करना चाहिये

ऐसा उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन में कहा और गणि विजय पइन्ना में कहा कि श्रवण धनिष्ठा, पुनर्वसु ये तीन नक्षत्र में दीक्षा न लेना जिस की गाथा यह है:-"सवणे धनिट्ठे पुनव्व-सुए न करेज्जा निक्खमणं,, यह सूत्र विरुद्ध है।

(३०) फिर चार नक्षत्र में लौच न करना कहते हैं। यह भी सूत्र विरुद्ध है।

कत्तियाए विसाहाए मघाए भरणीए वाएएहिं चउरखे-हिं लोयकमाइं वज्जए।

(३१) धनिट्ठाइं सतभिखाइं सवणो य पुणव्वसु॥ एएसु गुरु सुसुसा चेइयाणं च पूयणं॥

इन पांच नक्षत्र में गुरु की पूजा करना, शेष में नहीं। जो लोकोत्तर पक्ष में और धरम पक्ष में ये दोनों पूजा हो तो पांच नक्षत्र का क्या कारण? हमेशा क्यों नहीं करना? सिद्धांत में तो गुरु और देव की नित्य सेवा करना लिखा है। जो ये पांच नक्षत्र कहे। यह सूत्र विरुद्ध है॥

(३२)सूत्र में पांचवें आरे में छः संघेण व छः संठाण जम्बूद्वीप पन्नति में कहे हैं और तंदुल वेयालिया पइन्ना में पाठ है वह सूत्र विरुद्ध है॥

आसीय आउसो पुव्विं मणुयाणं छविहे संघयणे तंजहा वज्जरीसह, संघयणे जाव छेवट्ठ संघयणे संपई खलु आउ सो मणुयाणं छेवट्ठ संघयणे वठइ।

(३३) आसीय मणुयाणं छविहे संघयणे तंजहा समचउरंसे जाव हुंडे संपइ खुल आउसोमणुयाणं हुंड संठाणे वठइ।

(३४) भगवती शतक आठवें उद्देशे दसवें में आराधना के

अधिकार में आराधक के १५ उत्कृष्ट भव कहे और चंदा विजय पइन्ना में तीन ही भव कहे । ये सूत्र विरुद्ध है। चंदा विजय पइन्ना की गाथा यह है:—

आराहणो चउतासम्मं, काउण सु विहोकालं उक्कोसं तिन्निभवे गंतुण लभेज्ज निव्वाणं ।

(३५)सूत्र में जीव को चक्रवर्ती पना उत्कृष्ट दो वक्त प्राप्त होना लिखा है और महापच्चखाण पइन्ना की ६४ वीं गाथा में अनंत बार इंद्र चक्रवर्ती हुआ । यह सूत्र विरुद्ध है । महापच्चखाण पइन्ना की गाथा नीचे लिखे प्रकार है ।

इदंत्तं चक्कवट्टीत्तं तणाइ । उत्तमाइ भोगाइं ॥
पत्नो अणंतखुत्तो । न हुति तिउते त्ति ॥

(३६) भगवती शतक पांचवे उद्देशे चौथे में कहाः-

केवलीवि हसेज्जवा उस्सुयाएज्जवा ? गोयमा णो इण- ट्ठे समट्ठे ।

केवली हँसे ? रमे ? ऊंघे ? नाचे ? एवं मोहनीय कर्म में फंसे नहीं, पर प्रकरण में कपिल केवली ने भील (चोर) के आगे नाटक किया । यह सूत्र विरुद्ध है ।

(३७)दशवैकालिक पांचवे अध्ययन में साधू को वेश्या के मुहल्ले में जाना अनुचित कहा है और प्रकरण में स्थूलभद्र ने वेश्या के घर चातुर्मास किया लिखा है। यह भी सूत्र विरुद्ध है।

(३८) भगवंत के गर्भ से निकलने को ' आचारंग ' 'साहरिज्ज माणे जाणइ ' और कल्प सूत्र में ' साहरिज्ज माणे नो जाणइ " लिखा है । यह सूत्र विरुद्ध है ।

(३९) वहुत सूत्रों में कहा है कि जो मांसाहारी हो वह नर्क

में जाता है और साधु के आचार मे उववाई और प्रश्नव्याकरण में 'अमज्ज मंसासीए' कहे पर भगवती की टीका में कुर्कट मंस शब्द से कुर्कट का मांस, मंजार मांस अयमाण अर्थ अर्द्ध भगवंत ने मंस आहार किया कहते हैं। सो सूत्र विरुद्ध है।

(४०) आचारंग में 'मंस खलं वा मछखलंवा' यहां मांस अर्थ किया यह सूत्र विरुद्ध है।

(४१)सूत्र में जिस प्रकार मांस मना है उसी प्रकार मदिरा भी मना है, ज्ञाताजी के पांचवें अध्याय में सेलकराज ऋषि ने मद्यपान किया, ऐसा अर्थ कहते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(४२) सूत्र में मनुष्य का जन्म एक समय में एक योनि से हो तो पृथक अकेले जन का हो ऐसा कहा और प्रकरण में सागर चक्री के साठ हजार पुत्र एक समय जन्मे कहते हैं। यह सूत्र विरुद्ध हैं।

(४३) सूत्र मे कहा कि शाश्वती पृथ्वी का दलतहन उतरे और प्रकरणमें कहा कि दल सागर पुत्र ने तोड़ा तो भवन पति के घर में गंगा का प्रवाह चला। यह सूत्र विरुद्ध है।

(४४) सूत्र में आचार्य,उपाध्याय,तीर्थंकर की तेईस अशातनाएं टालने का कथन है और प्रकरण में प्रतिमा की चौरासी अशातना कहते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(४५) उपवास में पानी के सिवाय दूसरे द्रव्य खाना पीना निषेध है और प्रकरण में तमाखू हरड़े, बहिड़े, आंवले और दाड़म के छिलके को अणाहार लिखा है। यह सूत्र विरुद्ध है।

(४६) सिद्धान्त मे भगवान् को 'सहस्सं बुद्धाणं' कहे और कल्पसूत्र में पाठशाला में पढ़ने भेजे कहे। यह सूत्र विरुद्ध है।

(४७) सूत्र में हड्डी की अस्वाध्याय लिखा है और प्रकरण में हड्डी को स्थापनाचार्य स्थापते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(४८) सूत्र पन्नवणा के दूसरे पद में आठसौ योजन की पोलमें वाणव्यंतर रहते हैं ऐसा कहा है और प्रकरण में ८० योजन की पोल अलग कही है यह सूत्र विरुद्ध है।

(४९)जिनमार्गी जीव नर्क जाने के नाम से भी डरते हैं और प्रकरण में कहा है कि कौणिक राजाने सातवीं में जाने के लिये कृत्रिम रत्न बनाये तो कौणिक राजा समदृष्टी जिनवचन का जानकार तेरहवां चक्री बनने क्यों चला और होने की इच्छा कैसे की ? यह सूत्र विरुद्ध है।

(५०)कुर्मा पुत्र केवल पाये बाद छः माह तक घर में रहे यह सूत्र विरुद्ध है।

(५१) सूत्र में साधू को दान देने में सब दान से उत्कृष्ट लाभ कहा और प्रकरण में विजय सेठ सेठानी को जिमाने का चौरासी हजार साधू को दान देने के बराबर फल कहा यह सूत्र विरुद्ध है।

(५२) भरतेश्वर ने ऋषभदेव और ९९ भाई के १०० स्तुभ कराये ऐसा प्रकरण में कहते हैं, यह सूत्र विरुद्ध है।

(५३) पांडवों ने शत्रुंजय पर संथारा किया और प्रकरण में कहा कि शत्रुंजय का पांडवों ने उद्धार कराया। सूत्र में तो उद्धार कराया भी न कहा और देहरे प्रतिमा पूजन भी नहीं कहा। जो पुद्गल उद्धार किये कहते हैं। यह सूत्र विरुद्ध है।

(५४) पांचम त्याग चौथ की सवत्सरी कहते हैं यह सूत्र विरुद्ध है।

(५५) सूत्र में २४ जिन वंदनीय मोक्ष प्रदायक कहे हैं और

विवेक विलास में २१ तीर्थंकर की प्रतिमा घर में रखने की लिखी है, तीन की नहीं। मल्लीनाथ, नेमिनाथ और महावीर इन तीन को पुत्र न हुए, इसलिये इन की प्रतिमा घर में न रखना कहा. तो क्या इन का पूजन इहलोक के लिये नहीं ठहरा? यह सूत्र विरुद्ध है।

ऐसे २ ग्रंथ अपनी बुद्धि और सिर्फ कल्पना के आधार पर बनाये हुए सूत्र के सदृश कैसे प्रामाणिक माने जायँ। फिर प्रकरण, लौकिक, कुरान, पुराण जितने भी ग्रंथ सिद्धांत के साथ मिलते हों, जिन में आर्य वचन हों वे सब प्रामाणिक और जिन के वचन सूत्र के विरुद्ध हों वे कैसे प्रामाणिक माने जायं?

(५६) आचारंग सूत्र पाठ में पच्चीस भावनाएं पांच महाव्रत की कही हैं और टीका में सम्यक्त्व की पांच भावनाएं बढ़ाई जहां जगह जगह तीर्थ भूमि का व यात्रा जाना लिखा, यह किस पाठसे? पांच भावनाएं बढ़ाईं यह सूत्र विरुद्ध है।

(५७) कर्म ग्रंथ प्रकरण में एक मोहनीय कर्म के कारण नववें गुण स्थान तक अंतर है वह कर्म ग्रंथ का मत लिखते हैं।

पहिले गुणस्थान में समकित वेदनीय, समिथ्यात्व वेदनीय इन दोनों का उदय नहीं। शेष २६ का उदय। मिथ्यात्व मोहनीय, समिथ्यात्व मोहनीय दो अनुतान बंध की चौकड़ी ये छः छोड़ शेष २२ का उदय। पांचवे गुण स्थान में चौथे की तरह छः और अपच्छखाण की ४ ऐसी दस छोड़ १८ का उदय। छट्टे गुण स्थान में ये दस प्रकृति और ४ पच्छखाण वर्णी ये १४ छोड़ शेष १४ का उदय। सातवें गुण स्थान में छट्टे की तरह १४ का उदय। आठवें गुण स्थान में मूल १५ प्रकृति छोड़ शेष १३ का उदय। नववें गुण स्थान में संजल

चार, वेद तीन इन सात प्रकृति का उदय । शेष २१ का उदय नहीं ९, १०, ११, १२, १३; १४ में गुण स्थान सूत्रवत् हैं ।

अब सिद्धांत के द्वारा पहिले गुणस्थान पर दो का उदय कहा यह विरुद्ध । दूसरे तीसरे मोहनीय दर्शनीय का उदय कहा यह विरुद्ध । तीसरे में दो का उदय कहा यह विरुद्ध । ३, ४, ५, ६, ७, ८ गुण स्थान में समकित वेदनीय का उदय कहा यह विरुद्ध । नववें गुण स्थान में चार संजल के, तीन वेद सात का उदय कहा । यह भी विरुद्ध । इसलिये सिद्धांत में कहा वही सच समझना चाहिये ।

अब चूर्णि में कितने ही बोल विरुद्ध लिखे है, वह कहते हैं

(५८) कणेर की लकड़ी फेरना, मंत्र से शत्रु के शिर फिराना यह आचारंग की चूर्णि में है । (५९)निशथि की चूर्णि में हथेली खुरेदना(६०)मैथुन सेवन करना, (६१)रातको आहार लेना,(६२) अनंत काय का दंडा लेना, (६३)मंत्र पढ़ना(६४) केले आदि फल खाना, (६५) कच्चा पानी पीना, (६६)अदत्त लेना, (६७) कासड़े पहिनना,(६८) पान खाना, (६९)लुहार की धम्मण धमना, (७०) फूल सूंघना (७१) स्नान करना (७२) अनंत काय के झाड़ पर चढ़ना(७३)आधा कर्मी आहार लेना, (७४)घृतादि वासी रखना (७५) धातु खोदना, (७६) निधान खोदना, (७७) अन्य लिंगी का भेष करना,(७८)स्तंभनी विद्या सीखना, (७९)मृषावाद बोलना, ये २२ चूर्णि के बोल सूत्र विरुद्ध हैं ।

(८०) अब भाष्य में आवश्यक की भाषा अट्ठावीस हजारी में महावीर के २७ भव कहे, जिसमें कहा कि वह मनुष्य मरकर चक्रवर्त्ति हुआ, यह सूत्र विरुद्ध है ।

(८१) भाष्य में अरिष्ट नेमी के ११ गणधर कहे और सिद्धांत में १८ कहे यह सूत्र विरुद्ध है ।

(८२) सूत्र में पार्श्वनाथ के २८ गणधर हैं और निर्युक्ति में १० हैं यह सूत्र विरुद्ध है।

(८३) साधु गृहस्थावस्था में रहे हुए तीर्थंकर को वंदना करे यह सूत्र विरुद्ध है।

(८४) भत्त पइन्ना की गाथा १६० वी नीचे लिखी है।

अलुंकीए करुणं खज्जंतो, घोरवि अणत्तोवि।

आराहणं पवन्नो झाणेण, अवंति सुकुमालो॥

(८५) चन्दा विजय पइन्ना की ६० वीं गाथा नीचे लिखी है।-

उज्जेणी नयरीए अवंति नामेण, विस्सुअआसी पाउ वग पवन्नो। सुसाण मज्झिम एगंतो॥

एवंती सुकुमाल के अधिकार में ये पइन्ने चौथे आरे के जोड़े या पांचवे आरे के जोड़े?

ऐसी २ प्रकरण में कई विरुद्धताएं हैं, समझने के लिये यहां थोड़ी ही लिखी हैं।

---

२६ सूत्र में जो श्रावक चले उन में किसी ने प्रतिमा न पूजी यह विषय

सिद्धान्त में जो २ श्रावक श्राविकाएं हुईं उन सब के नाम लिखते हैं।

१ श्री आचारंग में—१, सिद्धार्थ राजा २, त्रिशला राणी श्रीसुयडांग सूत्र में:-३, लेप गाथा पती श्री ठाणांग में:-४, सुलसा श्री भगवती में:-जयंती, मृगावती, सुदर्शन सेठ, ऋषिभद्र पुत्र, उत्पला, शँख, पोखली, उदाई राजा, अभीच कुमार,

कार्तिक सेठ, मंडुक श्रावक, सोमल विप्र, वरुण नाग नतुवा, श्रीज्ञाता मेंः- पोट्टला, सेलंग राजा, पंथक प्रधान आदि पांच सौ मंत्रीश्वर, सुदर्शन सेठ, अरणक श्रावक, कुंभ राजा, प्रभावती रानी, जित शत्रुराजा, सुबुद्धि प्रधान, नंद मणीहार, तेतली प्रधान, कनक ध्वज राजा, पुंडरीक राजा, श्रीउपासक दशा मेंः- आनंद, कामदेव, चूलणी पिया, सुरादेव, चुल सत्तक, कुंड-कोलिया, सकडाल पुत्र, महासत्तक, नंदणी पिया, तेतली पिया, शीवानंदा, अग्नी मित्रा, अंतगढ़ मेंः-सुदर्शन, श्रीविपाक मेंः-बाहु कुमार, भद्रनंदी कुमार, सुजात कुमार, सुवास कुमार, जिणदास कुमार, वेसमण कुमार, महाबल कुमार, भद्रनंदी कुमार, वरदत्त कुमार, महा चन्द्रकुमार, श्रीउववाई मेंः--अंबड श्रावक और उस के सातसौ शिष्य । श्रीराय पसेणी मेंः-रायप्रदेशी,चित सारथी, जम्बूद्वीप पन्नति मेंः--श्रेयांस कुमार, भद्रा, श्रीनिरयावलिका मेंः--सुभद्रा, सोमिल ब्राह्मण, निषेधकुमार, अनिविध कुमार, वेह कुमार, प्रक्तिकुमार, युक्तिकुमार, दशरथ कुमार, दृढ़रथ कुमार, महाधनुप कुमार, सतधनुष कुमार, श्री उत्तराध्ययन में -पालक ।

तथा राजगृही नगरी, चम्पा, द्वारिका, आलंभिया, सावत्थी वाणियाग्राम, हस्तिनापुर, पोलासपुर, तुंगीया, वनीता आदि कई नगरियों में कई श्रावक, श्राविकाएं रहती हैं । वहां देहरे, प्रतिमा नहीं कहीं ।

फिर भरतेश्वर, बाहुबल, श्रेयांस कुवार, कृष्ण वासुदेव, श्रेणिक राजा, कौणिक राजा, ब्रह्मदत्त चक्री, पांच पाण्डव आदि राजाओं के राजा जिन मार्ग के प्रभावोत्पादक राजा हुए, तीर्थंकर की सच्ची भक्ती कर्त्ता हुए । धर्म के सहायक दाता हुए । किसी ने साधु को दान दिया, किसी ने संयम

लिया, किसी ने ग्यारह प्रतिमा धारण की, किसी ने सामाइक पौषध किये, प्रश्न पूछे, यह अधिकार सूत्र में है. पर धन खर्च करके देहरे बनाये, प्रतिमा कराई, पूजन किया. संघ निकाले यह अधिकार सिद्धांत में नहीं है। सूत्र में देहरे, प्रतिमा कराने की विधि, पूजने की विधि भी नहीं है । प्रतिमा पूजना, देहरे बनाना, संघ निकालने का काम किसी सूत्र में नहीं दिखाया। जो सूत्र में अंकुर मात्र भी लिखा होता तो प्रकरण का सारा विस्तार माननीय समझते। पर सूत्र में तो अंकुर मात्र, नाम मात्र भी नहीं है तो यह प्रमाण कैसे किया जाय?

श्री भगवती शतक २ उद्देशे पांचवे में तुंगीया के अधिकार में तथा सुयगडांग सूत्र में मिश्र पक्ष के अधिकार में तथा उववाई सूत्र में श्रावक की नित्य करणी का पाठ नीचे अनुसार है।

अभिगयजीवाजीव उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवर निज्झर किरियाहिगरण बंधप्पमोक्खकुसला ॥ १॥

असहेज्ज देवासुर नाग सुवण्ण जक्ख रक्खस किन्नर किंपुरिस गरुल गंधव्व महोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जाओ ॥ ३ ॥ निग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया निव्वितिगिच्छा ॥ ४ ॥ लद्धयट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा ॥५॥ अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता ॥ ६ ॥ अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे ॥ ७॥ ऊसियफलिहा ॥ ८॥ अभंगदुवारा ॥ ९ ॥ चियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा ॥१०॥ बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं चाउ

दहसट्ठ मुद्दिट्ठपुरणमासीणीसु पडिपुरणं पोसहं सम्मंअणु-पालेमाणा ॥११॥ समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण पाणखाइम साइमेणं वत्थ पडिग्गह कंवल पाय पुंछणेणं पडिहार पीढफलगसेज्जा संथारएणं ओसहभेसजेणं पडि-लाभेमाणा आहापडिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावे-माणा विहरंति ॥

अर्थः—अ—जानते हैं, जी-जीव अजीव को, उ-प्राप्त हैं, पु-पुण्य पाप के भेद; आ-आश्रव, संवर, नि-निर्जरा, की-क्रिया, अ-अधिकरण; वं बंध; मो-मोक्ष में; फु—चतुर हैं इन ज्ञान गुणों में। (१) अब दर्शन गुण कहते हैं। अ—कष्ट उत्पन्न होने पर देव की सहाय में देवः—ज्योतिपी, वैमानिक, भवन पति, ना—नाग कुंवार, सु सुवर्ण कुंवार; ज-यक्ष; रा-राक्षस, किं-किन्नर; किं-किंपुरुष; गु—गुरुड़, गं-गंधर्व, म—महोरगा, आ-आदि; दे-देवता के समूह, नि-निर्ग्रंथ के; प-सिद्धांत से, अ-चला नहीं सके, निः निर्ग्रंथ के, पा-सिद्धांत के, नि-शंका रहित हैं, निः अन्य धर्म की वांच्छा रहित, नि-धर्म का फल है संदेह रहित, ल-मालूम हैं सूत्र के अर्थ जिन्हें, ग—ग्रहण किये हैं, पु-पूछकर जिनने अर्थ, अ—सन्मुख हुए हैं अर्थ जिनके, वि-निश्चय किया है, थ-अर्थ जिसने, अ-जीव के प्रदेश, पे-धर्म रंग से रंगाये हैं, अ-वे आयु-ष्मान, नि-निर्ग्रंथ का कहा, पा—सिद्धांत जिन मार्ग, अ-अर्थ, सार, अ-परम, उत्कृष्ट मोक्ष का अर्थ है शेष पुत्र कलत्रादि, अ-अनर्थ (असार) हैं। ये दर्शन गुण। अब चारित्र गुण कहते हैं-उ-भले प्रकार से स्पष्ट, अ-खुले रक्खे हैं घरके द्वार जिनने, ची-प्रतीत है अंतेवर में, प-पराये घर में कई आचार-शीयल

व्रत निवृत त्याग पोषह देशाव गासीक, चा-चउदस, अ-आठम उ अमावस्या तथा कल्याणक तिथी, पु पूनम तीन चातुर्मास सम्बन्धी में प्रतिपूर्ण आठ प्रहर, पो-पौषध अच्छी तरह अति-चार रहित, अ-पालते हुए। स श्रमण, नि-निर्ग्रंथ, फा दोष रहित शुद्ध अ-अन्न, पा पानी, खा-मेवा, सुखड़ी, सा-मुखवास, व-वस्त्र, प पात्र, कं कंबल की जात, पा-रजो हरण द्वारा, = पा-पाढीयारा (मांगकर पीछे देना), पी-बाजोठ, फ-पाटिये, से-उपाश्रय तथा पाट, सं-संथारा, डाभ, तृणादि, उ-औषध भेष-धादि, प्र-प्रतिलाभ ने (वहराते), आ-यथा योग्य (अपनी शक्ति के अनुसार) त-तपस्या करते हुए, आ-आत्मा को भाव ते हुए जिन मत में अटल।

ऐसी करनी के करने वाले नित्य ऐसी क्रिया करते हैं वे श्रावक कहलाते हैं। पर किसी श्रावक ने देहरे बनाये नहीं, प्रतिमा पूजी नहीं और संघ भी निकाले नहीं।

२७ सावद्य क्रिया में जिनाज्ञा नहीं,

सावद्य क्रिया से धर्म क्रिया हो उसमें भगवान् की आज्ञा नहीं है, करनेवाले की इच्छा समझना चाहिये।

(१) सुबुद्धि प्रधान ने राजा जितशत्रु को समझाने के लिये पानी मंगाया यह उनकी इच्छा।

(२) श्रीमल्लीनाथ स्वामीने मोहन घर बनाया, यह उनकी इच्छा।

(३) आनंद श्रावक ने जाति को भोजन कराया, यह उन-की इच्छा।

(४) कौणिक राजा ने नगर शृंगारा, यह उनकी इच्छा।

(५) धर्मघोष आचार्य ने नागश्री की निंदा की, यह उनकी इच्छा।

(६) प्रदेशी राजाने दानशाला प्रारंभ की, यह उनकी इच्छा।

(७) चित सारथी घोड़ा के मिस प्रदेशी राजा को वहां लाये, यह उनकी इच्छा।

(८) सुरियाभ देवताने नाटक किया, यह उनकी इच्छा।

(९) अभय कुंवार, भरतेश्वर, पद्मोत्तर राजाने तेला किया, यह उनकी इच्छा।

(१०) द्रौपदी ने प्रतिमा पूजी, यह उनकी इच्छा।

(११) श्रेणिक राजा ने सेवक के साथ साधु को स्थानक की आज्ञा भेजी,यह उनकी इच्छा।

(१२) कौणिक राजा ने नित्य बधाई दी,यह उनकी इच्छा।

(१३ दीक्षा महोत्सव जगह २ किये, यह उनकी इच्छा।

(१४) श्रीकृष्ण ने दीक्षा की दलाली की ढ्यांडी द्वारिका में पिटाई, यह उनकी इच्छा।

(१५) इन्द्र तथा देवता ने जन्म, दीक्षा और निर्वाण का महोत्सव किया,यह उनकी इच्छा।

(१६) देवता ने अठाई महोत्सव किया, यह उनकी इच्छा।

(१७)जंघाचारण आदि साधु लब्धि फौड़े,यह उनकी इच्छा।

(१८)अंबड़ श्रावक सौ२ घर पारणा करें,यह उनकी इच्छा।

(१९)चमरेन्द्रने भगवान् का सहारा लिया यह उनकी इच्छा।

(२०) शंख श्रावकने भोजन तैयार होने पर भी नहीं खाया, यह उनकी इच्छा।

(२१) महाशतक श्रावक संथारे में स्त्री को कटुवचन बोले, यह उनकी इच्छा।

(२२) पोटल देवताने तेतली प्रधान को माया करके समझाये, यह यह उनकी इच्छा।

(२३) तीर्थंकरने वर्षीदान दिया, यह उनकी इच्छा।

(२४) देवता प्रतिमा, डाढ़ें पूजें, यह उनकी इच्छा।

इतनी वातों में जिनाज्ञा नहीं है।
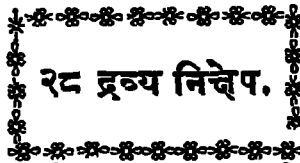
२८ द्रव्य निक्षेप.

हिंसाधर्मी कहते हैं कि तुम द्रव्य निक्षेप वंदनीक नहीं समझते हो। तव ऋषभदेवके साधु चौवीस संस्तव आवश्यक कैसे करते होंगे? क्योंकि तेवीस तीर्थंकर तो तव तक हुए भी नहीं थे, उनकी वंदना कैसे करते होंगे? भाव निक्षेप से तो एक ऋषभ देव ही की वंदना हुई तो फिर चौवीस संस्तव कैसे हुआ? इस प्रकार गुण रहित द्रव्य निक्षेप की मान्यता कराकर फिर गुण रहित स्थापना मनाते हैं इसलिये इस विसंवाद का उत्तर लिखते है। अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के छः अध्ययन कहे हैं।

सावज्जजोगविरइ १ उक्कित्तण २ गुणवओयपडिवत्ती ३ खलियस्सनिंदणा ४ वणतिगिच्छ ५ गुणधारणा चेव ॥ ६ ॥

अर्थ—सा-सावद्य व्यापार पाप में मन, वचन, काया के योग लगते हैं उन्हें रोकना अर्थात् सामाइक १, उ-तीर्थंकर के गुण ग्राम करना नाम लेना यह चौवीस संस्तव २, प-ज्ञान दर्शन, चारित्र, गुणवंत की भक्ति यह वंदना ३, ख-मत में जो

अतिचार लगे उन्हें याद करना यह प्रतिक्रमण ४, आ-अति-चार रूप फोड़ा, ति उसके लिये औषध रूप काउस्सग ५, गु व्रत में मूल गुण, उत्तर गुण धारण करना दे प्रत्याख्यान ६, ये छः आवश्यक है।

ये छः अध्ययन के नाम कहे, चौवीस संस्तव तो लोग कहते हैं। इस का नाम तो उत्कीर्तन है। इस उत्कीर्तन में जो तीर्थंकर हुए या हैं उन्हें वंदना करते हैं, चौवीस का हिसाब नहीं। जो द्रव्य निक्षेपा होवे तो चार गति में होवे, अव्रती, अप्रत्याख्यानी हों उन्हें व्रतवंत पांच छ गुण स्थान वाला कैसे नमन कर सक्ता है और चौवीस जिन की वंदना हुए सिवाय चौवीस संस्तव नहीं होता है। तो महा विदेह में तो चौवीस का मेल नहीं वहां तो अनंत हुए और होंगे। वर्तमान में तो विजय २ में एक २ हैं तो चौवीस का हिसाब कैसे मिले? इस लिये उत्कीर्तन अध्ययन में जो जिनराज वर्तमान में हैं, उन्हें ही वंदना करते हैं, जो महाविदेह में एक जिनराज वंदने से चौवीस संस्तव हो तो ऋषभदेव के समय में ऋषभदेव को वंदने से चौवीस संस्तव क्यों न हो? यह समझ लेना चाहिये, अब द्रव्य निक्षेपा की स्थापना की आवश्यक्ता नहीं रही।

२६ स्थापना निक्षेप

हिंसाधर्मी कहते हैं कि तुम स्थापना निक्षेप नहीं मानते हो तो आचार्य उपाध्याय के उप करण का स्पर्श क्यों नही करते हो? सूत्र दशवैकालिक नववें अध्ययन के दूसरे उद्देशेकी अठारहवीं गाथा में कहा है कि।

संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि ।
खमेह अवराहं मे, वएज्जन पुणुत्तिय ॥ १८ ॥

अर्थः-सं स्पर्शकर, का-काया से, त वैसे ही, उ-उपाधि से स्पर्श हो जाय तब शिष्य यों कहे, ख क्षमा करें, अ-अपराध मे-मेरा, व-अब दूसरी वक्त नहीं करूं, इ-संघट्टादि अविनय, ति-फिर ।

इस में उपकरण या आचार्य को पग से स्पर्श होने पर ऐसा करने को कहा कि मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर अब ऐसा नहीं करूंगा । तो इस हिसाब से उपकरण, पाट, शैया, संथारा स्थापना की अशातना टालने की आज्ञा है । इस का उत्तरः-इस गाथा में तो सच कहा है क्योंकि जो उपकरण आचार्य की नेश्राय के है जिस प्रकार शरीर प्रयोग परिणमन पुद्गल का है वैसेही उपकरण भी प्रयोग परिणमन द्रव्य के हैं उन के भोग में आते है । आचार्य भाव—निक्षेप मे है वैसेही उपकरण भी भाव निक्षेप के भोग के है, शरीर की तरह, फिर अपराध क्षमा करें अब नहीं करूंगा ।

ये आचार्य से प्रत्यक्ष कहे हुए वचन है । उपकरण अचेतन क्षमा करने या वंदना करने में क्या समझे ? इन उपकरणों की अशातना टाली तो आचार्य के साथ उप करण की अशातना टाली है । यह स्थापना नहीं । स्थापना तो यह है कि आचार्य तो गये और उनके उपकरण की फिर अशातना टाले, पर आचार्य के सयनासन शिष्य न भोगे क्यों कि अशातना लगती है । आचार्य के विहार किये बाद वेही सयनासन शिष्य मजे से भोग सकते है । जैसे चम्पा नगरी के बाग में शिलापट है, उस पर भगवान् ने बैठकर उपदेश दिया । ऐसा

उववाई सूत्र में कहा है । फिर भगवान के बिहार किये बाद उसी पृथ्वी शिला पट्ट पर गौतम सौधर्म स्वामी आदि पधारे और बैठे या नहीं । जो न बैठेहों तो उनके उपकरण की अशातना टाली मानले और बैठे तो भगवान् के भाव निक्षेपा की ही अशातना टाली । इसी तरह आचार्य के उपकरण के बारे में समझना चाहिये । तुम उपकरण की स्थापना सिद्ध कर बड़ों के पगलिये स्थापित किये हों,उनकी अशातना टालने का रहस्य लगाते हो तो तुम्हारे मत से तो जहां जहां गुरुके शरीर की छाया पड़ती है वहां भी पांव नहीं देना चाहिये क्योंकि वह छाया गुरु की है तथा गुरु के बाद शिष्य चलें तो उसे गुरु के पांव की छाया पर पांव नहीं देना चाहिये । जो मृत गुरु के पांव पूजते होतो जीते गुरु के पांव की अशातना क्यों नहीं टालते ? क्या इतना भी विवेक नहीं है ?

३० धर्म अपराधी को मारने में लाभ होता है ॥ इस का उत्तर ॥

हिंसाधर्मी कहते हैं कि उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन की ३२ वी गाथा में ब्राह्मण के पुत्र देवता ने मारे तब ब्राह्मणों ने हरकेशी मुनि से कहाः-

पुव्विंच इहं च अणागयं च, मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ
जक्खाहु वेयावाडियं करेंति, तम्हा हु एए निहया कुमारा ३२

अर्थः-पु-पूर्वकाल, वर्तमान काल, अ-भविष्यकाल, च-

पूरण, म-प्रद्वेप, मे-मुझे, अ-नहीं है अल्प मात्र भी, ज-यक्ष के कारण, वे-वैयावच्च, क-करता है, तं-इसलिये, अं-उसने, नि-मारे, कु-कुमार।

मेरा तो तीन काल में भी इन लड़कों पर द्वेप नहीं है पर यक्ष मेरी सेवा करता है इस लिये उसने ये कुंवर मारे हैं। देखो ऐसे कामको हरकेशी मुनि ने सेवा कही इस लिये अपराधी को मारने में दोष नहीं, ऐसा कह कर सावद्य भक्ति ठहराते हैं। इसका उत्तरः-जब तुम मनुष्य को मारने में ही भक्ति गिनते हो तो जूं, नीके, चांचड़, खटमल, डांस, विच्छू और सर्प आदि क्षुद्र जीव जो साधु के उपकरण मे बाधाकारी हों उन्हें धूप मे डाल देना, मारना कल्पनीय समझते हो? अपराधी को मार कर साधु को शाता पहुंचावे इसमें पाप नहीं तो क्षुद्र प्राणियों को मारने में आनाकानी क्यों करते हो? ऐसी भक्ति तो अन्य तीर्थी सुलभ बोधी नहीं दिखा सक्ते, देखते ही पाप के कारण डरते हैं और गणधरों ने तो सूत्र में भक्ति कही वह सिर्फ हरकेशी के वाक्य को यथातथ्य गूंथने से कही न कि इसमें भक्ति मान कर। हरकेशी मुनि छद्मस्थ हैं, चार भाषा के बोलने वाले हैं इसलिये ऐसे वचन निकल गये। केवली भगवान ऐसे कार्य में भक्ति नहीं मान सक्ते। ऐसी भक्ति जिन मार्ग में चलती हो तो गौशाला जीता क्यों जाता? तथा आचारंग में कहा कि साधु नाव में बैठे हैं और नावके खेवटिया क्रोधातुर हो वचन बोले तो उस समय साधु कुछ न कहे। भगवान् की आज्ञा का आराधन करे। भगवान् की आज्ञा का वह पाठ लिखते हैं -

तं नो सुमणे सिया णो दुमणे सिया णो उच्चावयंमणं नियच्छेज्जा नो तेसिं बालाणं घायाए वहाए समुट्ठेज्जा

अर्थ -तं-ये, नो-नहीं, सु अच्छा मन न करे वैसे ही, दु-खराव मन भी न करे कि मैं मरजाऊंगा, नो-वैसे ही ऊंचे मन का भी विचार न करे, नो-उस वाल अज्ञानी (डालने वाले) की घात भी नहीं चिंते, व-उने पकड़कर मारूं ऐसा भी न सोचे,

मनमें भी द्वेष न लावे ऐसी आज्ञा है और उसके पुत्रादि की घात भी न सोचे तो पंचेन्द्री को मारने में वीतराग की भक्ति केसे हो सक्ति है? यह तो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय ही मारता है। जो अनार्य की तरह जीवहिंसा करने में नहीं संकुचाते?

३१ बीस विहरमान के नाम

हिंसा धर्मी कहते हैं कि तुम सूत्र ३२ मानते हो तो बताओ २० विरहमान के नाम कौन से सूत्र में है? इस का उत्तरः- सिद्धांत जंबू द्वीप पन्नती में कहा कि जम्बू द्वीप में जघन्य ४ तीर्थंकर होते हैं और अढ़ाई द्वीप में २० होते है अर्थात् २० तीर्थंकर शाश्वते रहते ही हैं शेष की भजना है और श्री मंदिर आदि नाम कहते हैं वे तो सूत्र में नहीं है और सूत्र से मिलते भी नहीं है ऐसा क्यों! विपाक सूत्र, सुख विपाक में दो अध्ययन कहे हैं। भद्र नंदीकुमार ने पूर्व भव में महा विदेह क्षेत्र में पुंडर गणी नगरी में जुगबाहु जिनको प्रतिलाभे और संसार तिरे 'मणुस्साउयं निबंधे इहं उवन्ने" ऐसा महावीर स्वामीने गौतम स्वामी से कहा, उन (भद्रनंदीकुमार) ने महावीर के पास संयम लिया। तो यहां पुखलावती विजय में श्री मंदिर नाम

के तीर्थंकर तो नहीं कहे। जुग बाहु नाम कहा। तुम कहते हो कि श्री मंदिर स्वामी सत्रहवें, अठारहवें जिन के वारे में जन्मे हैं और वीसवें के समय में दीक्षा ली है वे आती चौवीसी में मुक्ति जावेंगे पर इस-हिसाब से नाम तो नहीं मिलता। फिर वीस नाम यही हैं ऐसा नहीं। इन नाम की भजना है ज्ञानी कहे सो सत्य वीस नाम परस्परा से कहते हैं। इस के लिये हमारा पक्ष पात नहीं है।

३२ चैत्य शब्द का अर्थ सूत्र में साधु है वे पाठ लिखते हैं.

१ चेइयं शब्द तीर्थंकर या साधु के लिये आये हैं। प्रथम तो श्री सुयगडांग के दूसरे श्रु' स्कंध के सातवें अध्ययन में गौतम स्वामी ने उदक पेढाल से कहा:—

आ उसंतो उदगा ! जे खलु तहा भूतस्स समणस्सवा माहणस्सवा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अपणो चेव सुहम्माए पडिलेहीए अणुत्तरं जोगखेम पयं लम्भिएसमाणे सो वि ताव तं आढाइ परि जाणंति वंदइ नमंसइ सक्कारइ समाणेइ कल्लाणं १ मंगलं २ देवयं ३ चेइयं ४ पज्जुवासइ।

अर्थः— आ-हे आयुष्यमान, उ-उदग, जे-जो, ख-निश्चय,

त-यथोचित, स-श्रमण, मा-ब्रह्मचारीके, अ-पास, ए-एक भी, आ-आर्य, ध-धर्म सम्बन्धी, सु-भले वचन, सो-सुनकर, नि-सम्यक् रीति से हृदय में धारण कर, अ-अपनी, सु-कुसाग्र के सदृश तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा, प-आलोच कर देखो मैं भी ऐसा प्रधान, अ-सब से उत्कृष्ट, जो-अच्छा, मुक्ति प्रदायक, प पद प्राप्त हुआ, इतने में से मैंने एक पद भला प्राप्त किया, सो-उस पुरुष को भी, ता-प्रथम लौकिक रीति से, तं-उस उपदेश के देने वाले, अ-आदर दे, प-पूज्य भाव से जाने, वं-उन्हे वंदना करे उनके आगे हाथ जोड़े, न-सिर झुकावे, स-वस्त्रादि प्रतिलाभे, स-स्थानादि सम्मान दे, क-यथातथ्य भारी कल्याणकारी, मं-मंगलीक, दे-धर्मदेव, चे-चैत्य मन को प्रसन्न कर साधु की, प-सेवा करे सामान्य लोक भी हितोपदेश दातार को पूजें। वे अनुत्तर धर्म के उपदेशक किसी की वंदना न चाहें तो भी सुनने वाले उन परमार्थ परोपकारी की यथा शक्ति विनयादि करे।

यहां चार नाम साधु के इस लिये चैत्य शब्द का अर्थ साधु है।

(२) श्री स्थानांग सूत्र के तीसरे ठाणे के पहिले उद्देशे में शुभ दीर्घ अयुष्य बांधते हैं, वहां कहा है।

तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता समाणेत्ता कल्लाणं १ मंगलं २ देवयं ३ चेइ पज्जुवासेत्ता।

अर्थः-त-यथायोग्य, स-श्रमण, म-माहण को, वं-वंदना करे, न-नमस्कार करे, स-वस्त्रादि से सत्कार करे, स सम्मान दे, क-कल्याणप्रद, मं मंगलीक, दे-धर्म देव, चे ज्ञानवंत हैं, प-सेवा करे, चैत्य साधु।

(३) स्थानांग के तीसरे ठाणे के तीसरे उद्देशे में देवता होकर धर्माचार्य को वंदना करने आवे।

आयरिएइ वा १ उवाझायएइ वा २ पविचेइ वा ३ थेरेइ वा ४ गणिति वा ५ गणधरेति वा ६ गणावच्छेएति वा ७ वंदामि, नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं १ मंगलं २ देवयं ३ चेइयं ४ पज्जुवासामि।

अर्थः—आ-धर्माचार्य, उ-उपाध्याय, प-धर्म के प्रवर्ताने वाले, थे-स्थेवर साधु, ग-गणी गच्छाधिपति, ग-गणधर भगवान् के शिष्य, ग-गच्छ का कितना ही अंश समुदाय ले कर विचरें इन सातों को, वं-वंदना करता हूं, न-नमस्कार करता हूं स-सत्कार देता हूं, स-सम्मान देता हूं, क-कल्याणकारी, मं-मंगलिक, दे धर्म देव को, चे-ज्ञानवंत, प-सेवा करता हूं ऐसा समझकर आवे। यहां भी चैत्य अर्थात् साधु।

(४) चौथे ठाणे में वंदना करने आवें वहां भी इन सातों का यही पाठ है।

(५) भगवती शतक दूसरे उद्देशे पहिले में खन्धकजी ने ऐसा सोचा किः—

समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि।

अर्थः—स-श्रमण, भ-भगवंत, म-महावीर स्वामी को, वं-वंदना करता हूं, न-नमस्कार करता हूं, स-सत्कार करके, स-सम्मान करके, क-कल्याणकारी मं-मंगलिक, दे-धर्म देव, चे-ज्ञानवंत, प-सेवा करता हूं, यहां अरिहंत अर्थात् चैत्य। खंधकजी ने प्रतिमा न पूजी।

(६) फिर खन्धकजी न भगवान् को प्रत्यक्ष देख वंदना की वहां भी ऐसा ही पाठ है।

(७) फिर शतक दूसरे उद्देशे पांचवें में तुंगिया नगरी के श्रावको ने ऐसा सोचा कि "थेरे भगवंते वंदामि नमंसामि जाव पज्जुवासामि"।

यहां स्थेवर भगवान् चैत्य हैं।

(८-९)शतक ग्यारहवें उद्देशे नववें में शिवराज ऋषि ने तथा शतक ग्यारहवें उद्देशे ग्यारहवें में पोगल नामक परिव्राजक ने ऐसा कहा—

तं गच्छामिणं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि एयणं इहभवे परभवे हियाए जाव भविस्सइ।

अर्थ —तं इस लिये मैं जाऊं, स-श्रवण, भ-भगवंत, म श्री महावीर स्वामी को, वं-वंदू, जा यावत्, प सेवा करूं, वे क्षमा के सागर इस भव परभव में शरण दाता होंगे। यहां चैत्य श्री महावीर स्वामी हैं।

(१०-११)शतक नववें उद्देशे ३३ वे में ऋषभ दत्त देवानंदा से कहा तथा शतक बारहवें उद्देशे दूसरे में जयंती ने मृगावती से कहा वह पाठ भी इसी मुताबिक है।

(१२) शतक ग्यारहवें उद्देशे दूसरे में आलंभिया नगरी के श्रावकों ने उसी तरह भगवंत को वंदना की जैसे तुंगिया नगरी के श्रावकों ने की।

(१३) शतक बारहवें उद्देशे पहिले में शंख श्रावक आलंभिया के श्रावक की तरह वंदना करने गये। ये तेरह उदाहरण एक से मिलते जुलते कहे।

एयणं इहभवे परभवं हियाए जाव अणुगामियत्ताए ये पूरे २ पाठ कहे। इन सब जगह महावीर स्वामी को चैत्य कहा है।

(१४) फिर शतक सोलहवें उद्देशे पांचवें में गंगादत्त देवता ने सोचा "समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि

(१५)शतक ८ वें उद्देशे १० वें में श्री शक्रेन्द्र ने श्री महावीर स्वामी को वंदना की वहां ऐसा ही पाठ है।

(१६) राय प्रदेशी अमल कम्पा नगरी में रहे वहां भी ऐसा ही पाठ है।

(१७) अभियोगी देवता ने कहा तथा स्वयं आये वहां भी ऐसा ही पाठ है।

(१८) सूरियाभ तथा विजय पोलिया या अन्य देवता ने प्रतिमा पूजी, डाढ़ें पूजी तथा अभियोगी देवता ने प्रतिमा पूजी। वहां सिद्धायतन में एक सौ आठ जिन प्रतिमा और डाढ़ें पूजी तब तुमने तथा सूरियाभ ने " अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ।" कहा। इसमें भी कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ कहा है। यह देख कर भूलना नहीं। पूर्वभद्र यक्ष ने भी "अच्चणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ" इतने शब्द कहे हैं। वहां लौकिक सम्बन्धी कल्याण आदि समझना चाहिये। वैसे ही प्रतिमा के भी इहलोक सम्बन्धी कल्याणादि समझना चाहिये। पहिले कहे अनुसार साधु तथा भगवंत की तरह कल्याण आदि लोकोत्तर पक्ष नहीं, पर लौकिक कल्याण के लिये कथन है क्योंकि वहां भवी, अभवी समदृष्टी, मिथ्यादृष्टी सब पूजते हैं।

(१९) दशाश्रुत स्कन्ध के दसवें अध्याय में राजा श्रेणिक ने चेलणा से कहा।

तहारुवाणं अरहंताणं भगवंताणं जाव वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि एयणं इहभवे परभवे हियाए ५ बोल।

अर्थः—त-यथायोग्य, अ-अरिहंत महिमावंत को,भ-भगवंत को, जा—यावत्, वं-अपन स्तुति करें, न-अपन ने काया से प्रणाम करना चाहिये, स-अपन ने सत्कार, स-सन्मान देना चाहिये क-कल्याण के लिये, वे-कल्याणप्रद, मं-मंगलिक, चे-चैत्य ऐसे को, प-सेवा करने से ए-इन भगवान् की वंदनादि, इ-इस भव में प-परभव में, हि-हितकारी, पथ्यकारी १ सुख के लिये २ क्षमा के लिये अर्थात् सहवास से ३ मोक्ष के लिये ४ यावत् शरणगामी भव २ में शुभ बंध का कारण होगा। ये पांच बोल। यहां चैत्य श्री महावीर स्वामी हैं।

(२०)उववाइ में बहुत से लोक ऐसा कहते हैं"समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि" अर्थात् श्रमण भगवंत श्री महावीर स्वामी की हम स्तुति करें यावत् सेवा करें। यहां चैत्य श्री महावीर स्वामी है।

(२१)रायपसेणी में' केसयाइसई ' यहां चैत्य साधु हैं ।

(२२) फिर प्रदेशी ने धर्माचार्य की भक्ति की, प्रशंसा की। वहां कहा "जत्थेव धम्मारियं पासेज्जा तत्थेव वंदिज्जा जाव पज्जुवासेज्जा,, अर्थात् जहां अब धर्माचार्य दिखें वहीं वंदू यवात् सेवा करूं। यहां चैत्य साधु हैं।

(२३) उपासक दशांग में आनंद ने कहा "अन्यतीर्थी के देव, अन्य तीर्थी के गुरु, अन्यतीर्थी के माने हुए चैत्य न वंदू न बुलाऊं और न दान दूं"। यहां अन्यतीर्थी के माने चैत्य अर्थात् साधु, पर प्रतिमा नहीं। जो प्रतिमा चैत्य हो तो कैसे बोले? दा। कैसे ले? इस लिये चेत्य साधु हैं।

(२४) इसी प्रकार उववाइ में अंबड़ के अधिकार में तीन बोल वोसिराये वे आनंद ही की तरह समझना चाहिये, उनसे भिन्न नहीं। अगर अरिहंत से तो अरिहंत। और अरिहंत की प्रतिमा देव में मान लें तो गुरु और साधु के वंदना करने का पाठ कहा है? इस लिये चैत्य अर्थात् साधु।

इस प्रकार २४ उदाहरण चैत्य के दिये जिन में अरिहंत या साधु को ज्ञान वंत होने के कारण चैत्य कहे हैं।

(२५) ज्ञान को समवायांग में चैत्य कहा "एएसिणं चोवीसाए तित्थगराणं चोवीसं चेइय रुक्खा पन्नत्ता" चौवीस चैत्य वृक्ष हुए। जिन वृक्षों के नीचे केवल ज्ञान पैदा हुआ उन वृक्षों को चैत्य वृक्ष कहते हैं इस का अर्थ क्या?

(२६) फिर शतक वीसवें उद्देशे नववें में 'चेइयाइं वंदित्तए' कहा। वहां श्री वीतराग ने चैत्य की वंदना की। मानुष्योत्तर पर्वत पर प्रतिमा के सिद्धायतन के कूट मूल से नहीं कहे इस लिये —

(२७) तथा चमरेन्द्र के सम्बन्ध में "अरिहंते वा अरिहंत चेइयाणिवा अणगारेवा भावी अप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पयाति" कहा। यहां भी "अरिहंताणं भगवंताणं अणगाराणं" इस शब्द से अरिहंत का ही मतलब है। फिर शक्रेन्द्र ने सोचा

वहां चेइयं नाम बिलकुल है हां नहीं " अरिहंताणं भगवंताणं अणगाराणं,, शब्द से एक अरिहंत ही समझना चाहिये। फिर शक्रेन्द्र चले वहां भी चेइय नाम बिलकुल नहीं है। इन तीनों शब्द से अरिहंत ही अर्थ निकलता है। जो चैत्य शब्द प्रतिमा के लिये होता तो चमरेन्द्र के भवन में शाश्वती थी। मध्यलोक में द्वीप, समुद्र में भी शाश्वती प्रतिमा थी। ऊपर मेरू पर्वत पर तथा सुधर्म विमान में सिद्धायतन में पास ही थी वहां प्रतिमा के शरण क्यों नहीं गये ? इस लिये स्पष्ट है कि यहां प्रतिमा की नेश्राय नहीं ठहरती।

(२८) फिर उत्तराध्ययन में वन वृक्ष को भी चैत्य कहा। अध्ययन नववें गाथा नववीं के पहिले दो पद में "मिहिलाए चइए वच्छे ॥ सियछाए मणोरमे,, ॥ अर्थात् मिथिला नगरी के उद्यान में वृक्ष था जिसकी छाया शीतल थी, मन को रमणीक थी। उत्तराध्ययन अध्याय २० में दूसरी गाथा के चौथे पद में मण्डि कुच्छिसि चेइये,, अर्थात् मंडि कुक्ष नामक वन में:-

(२९) ज्ञानवंत के लिये यक्ष को भी चैत्य कहा। उववाई में पूर्ण भद्रव्यंतर का स्थानक है।

सच्चे सच्चोवाए बहुजणस्स अच्चणिज्जे वंदणिज्जे पुजणिज्जे सकारणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जे।

अर्थः—स सत्य है, स सत्य, प-उपाय है व बहुत, ज लोक ;, अ-पूजने योग्य है, वं-वंदने योग्य, पु अर्चने योग्य स-सत्कार करने योग्य, क-कल्याणकारी, मं-मंगलिक करने वाला, दे-प्रत्यक्ष देव रूप, चे देवता की प्रतिमा, प-सेवा करने योग्य।

(३०) आरम्भ की जगह प्रतिमा को भी चैत्य कहा है।

(३१) " पुढविं हिंसंति मंदबुद्धिया " अर्थात् पृथ्वी काय हणे मंद बुद्धिवाले। तथा पांचवें आश्रव द्वार में चैत्य परिग्रह में कहा तथा पांचवें संवर द्वार में प्रतिमा देखना भी निषेधा यहां तीनों जगह प्रतिमा को चैत्य कहे हैं।

(३२) देवलोक में चैत्य वृक्ष कहे हैं जो प्रतिमा के आश्रित हैं। इस प्रकार चैत्य शब्द सिद्धान्त में कई जगह आया है फिर जहां जैसा अर्थ हो वहां चैत्य शब्द का वैसा ही अर्थ करना चाहिये।

३३ धर्म करनी के फल.
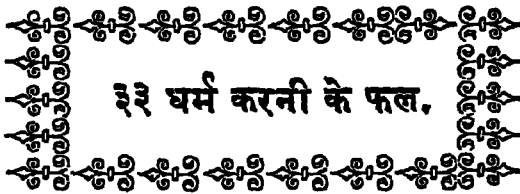
सिद्धांत में दस समाचारी के फल उत्तराध्ययन छब्बीसवें में कहे। तीर्थंकर गौत्र बांधने के वीस बोल ज्ञाता के आठवें अध्ययन में कहे। तप संयम का फल तुंगिया के अधिकार में कहा। ७३ बोल का फल उत्तराध्ययन २९ वें में कहा। तपस्या के फल उत्तराध्ययन तीसवें में कहे। प्रवचन माता के पालने के फल उत्तराध्ययन चौवीसवें में कहे। ब्रह्मचर्य के फल उत्तराध्ययन सोलहवें में कहे। दस वैयावच के फल स्थानांग, भगवती, उववाइ और व्यवहार सूत्र में कहे। पर प्रतिमा बनाने घड़ाने, संघ निकालने के फल तथा विधि किसी सूत्र में भी नहीं कही। सूत्र में मनुष्य लोक में प्रतिमा द्रोपदी ने पूजी

कहते हो तो भी निर्णय नहीं करते कि कौन से तीर्थंकर की प्रतिमा किसने कब बनवाई? जिसका नाम ठाम भी नहीं और पूजा की विधि भी अव्रती देवकी सी कही। पर आनंद, काम देव श्रावक का नहीं कहा और पूजा भी छः काय के वध सहित जो भगवान् को कभी नहीं कल्प सक्ती। फिर तुम आज प्रतिमा पूजते, व उसे वस्त्र और स्त्री का स्पर्श नहीं होने देते क्योंकि अभोगी देव की प्रतिमाएँ हैं। पर इतना नहीं सोचते कि जो स्त्री, वस्त्र के भगवंत अभोगी हैं तो क्या फूल, पानी, दीप और धूप के भोगी हैं? भगवान् को तो एक भी वस्तु नहीं कल्प सक्ती तब क्या समझकर प्रतिमा पूजते हो? उलटा भगवान् पर कलंक लगाते हो जो अभोगी को भोग कराते हो यह तो अच्छा नहीं करते।

३४ महिया शब्द से फूल की पूजा.

हिंसा धर्मी कहते हैं कि लोगस्स में "कीतिय वंदिय महिया" पाठ है। इसमें 'महिया शब्द से फूल की पूजा करना कहा है। ऐसा मिथ्या अर्थ करते हैं इस का उत्तर—

इस लोगस्स के कर्ता तो गणधर देव हैं, वे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका को सिखाने वाले संयमी, व्रति, सामाइक, पौषध के स्वामी सावद्य क्रिया का उपदेश न दें तो तुम 'महिया' शब्द से फूल की पूजा किस के कहने से अर्थ करते हो? क्या गणधर के कहने से? गणधर को पूछो कि फूल की

पूजा करूं ? तब वे हां या नहीं क्या कहेंगे ? जो काम स्वयं गणधर न करें वह काम दूसरों से आज्ञा देकर कैसे करावें ? गणधर के तो सावद्य के तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान हैं। सावद्य क्रिया करने के ६ कोटि से प्रत्याख्यान हैं और उनने 'महिया' शब्द से भाव पूजा कही है। जिस पूजा को भगवान् स्वीकारें वही पूजा करना कहा है। और फूल से भगवान् की पूजा गणधर ने कही हो तो पांच अभिगम कर सचित वस्तु समवसरण में लाने को इनकार क्यों किया ?

३५ छः काय के आरंभ का निषेध.

श्री आचारंग के प्रथम श्रुत स्कंध के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में छः उद्देशे हैं जिनमें छः काय का आरंभ निषेधा है वहां ऐसा कहा है किः—

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया इमस्सचेव जीवियस्स १ परिवंदण २ माणण ३ पुयणाए ४ जाइ मरणमोयणाए ५ दुक्खपडिघायहेउं ॥ ६ ॥

अर्थ—त वहां (कर्म बंधन के कारण में) ख-निश्चय, भ-भगवान्, प-ज्ञान बुद्धिद्वारा, प-हिंसाकर कर्मबंध, दयाकर निर्जरा ऐसी प्रज्ञा कही, इ-ये, च-पूर्ण, जीवतव्य के अर्थ १, प्र-प्रशंसाके अर्थ २, मा-मानने के लिये ३, पु-पूजाश्लाघा पाने के लिये ४, ज-जन्म, म-मृत्यु, मो मिटाने के अर्थ ५, दु-संसारी-दुख ६ टालने के अर्थ।

इन छः कारणों से छः कायः का आरंभ करते हैं। जिसका फल "तं से अहियाए तं से अबोहियाए" अर्थात्

पृथ्वी काय के आरंभ से उस पुरुष का अहित होगा वह आरंभ उसे बोध बीज प्राप्त न होने देगा। अहित का कारण होगा। अबोधी या मिथ्यात्व का कारण होगा। फिर

एस खलु गंथे १ एस खलु मोहे २ एस खलु मारे ३ एस खलु निरए ४

अर्थात् यह पृथ्वी का आरंभ निश्चय कर्मबंध का कारण १ निश्चय अज्ञानता का-कारण २ निश्चय अनंत जन्म मरण का कारण ३ यह पृथ्वी का आरंभ निश्चय नरक का कारण ४ है।

इन छः कारण से हिंसा कही। तुम धर्म हिंसा करते हो वह इन छः कारणों के भीतर है या बाहर ? सातवां कारण तो भगवान् ने हिंसा का नहीं कहा। इस हिसाब से पूजा की हिंसा के फल लगें या नहीं ? और समदृष्टी संसार के लिये छः कारणो से पाप करते हैं पर पाप जानते हैं इस लिये ऐसे फल न लगें और तुम तो पूजा के लिये आरंभ करते हो, उस की अनुमोदना करते हो, आरंभ बढाने की मनसा रखते हो तो तुम्हारी क्या गति होगी इसे तुम्हीं सोच लो।

फिर इसी पांचवें उद्देशे में वनस्पति और
मनुष्य की समानता कही।

इमंपि जाइधम्मयं एयंपि जाइधम्मयं १ इमंपि बुढिधम्मयं एयंपिबुढिधम्मयं २ इमंपि चित्तमंत्तयं एयंपि चित्तमंतयं ३ इमंपि छिन्नं मिलाति एयंपि छिन्नं मिलाति ४ इमंपि आहारगं एयंपि आहारगं ५ इमंपि अणिच्चयं एयंपि अणिच्चयं ६ इमंपि असासयं एयंपि असासयं ७ इमंपि चओ-

वचइयं एयंपि चत्रोवचइयं ८ इमंपि विपरिणाम धम्मयं एयंपि विपरिणाम धम्मयं ॥ ६ ॥

अर्थः—इ-जिस प्रकार मनुष्य का शरीर, जा-जन्म, ध-स्वभाव से जन्मता है, ए यह मनुष्य का शरीर, वु वृद्धि स्वभाव पाता है, ए-वनस्पति का शरीर भी, वु-वृद्धिपना पाता है २, इ-मनुष्य का शरीर, चि-चेतनावंत है, ए-इस प्रकार यह भी चेतन है ३, इ-मनुष्य का शरीर, छी-छेदन से, मि-मुक्त हो जाता है, ए-वैसे ही यह भी छेदने से मुक्त हो जाता है ४, इ-यह मनुष्य का शरीर जिस प्रकार, आ-आहार करता है, ए-वह भी आहार लेता है ५, इ-यह मनुष्य का शरीर, अ-अनित्य, अस्थिर, ए-इसी प्रकार यह भी अनित्य, अस्थिर है ६, इ-ये मनुष्य का शरीर जिस प्रकार, अ-अशाश्वता, ए-वैसे ही यह भी अशाश्वत है ७, इ-मनुष्य का शरीर जिसप्रकार, च-पुष्टाई, अ-हीन होता है, ए-इसी प्रकार यह भी शक्ति हीन हो जाता है ८, इ-मनुष्य का शरीर जिस प्रकार, वि-रोगादि से विनाश पाता है, ए-ऐसे ही यहभी रोगादि से, वि-नष्ट होती है।

इसमें " इमंपि " कहा यह वनस्पति के लिये और " एयंपि " कहा यह मनुष्य के लिये। समान उत्पन्न होना, वृद्धि पाना, रोगी होना, विनाश पाना, मरना समान दिखाया, ऐसा वृक्ष मंदिर में उत्पन्न हुआ हो तो साधु अपने हाथ ले उखाड़ कर फेंकदे तो कुछ पाप नहीं। ऐसा कहते परलोक का बिलकुल भी भय नहीं रखते यह अच्छा नहीं करते हो। वनस्पति के स्पर्श मात्र से ही शास्त्र में प्रायश्चित कहा है और तुम तो वृक्ष को नष्ट करते भी नहीं डरते ! ऐसे २ अधर्म कर बैठते हो।

३६ जीव दया वास्ते साधु झूंठ बोलें, इस का उत्तर

हिंसा धर्मी कहते हैं कि साधु के विहार के समय बीच में कोई कसाई बधिक, गुरु को पूछे कि तुमने कहीं मृगादि देखे हैं ? तब आचारंग के भाषाध्ययन के पहिले उद्देशे में कहा कि "जाणंति वा नो जाणंति नोवदेज्ज़ा" जानता हुआ साधु दया के लिये झूंठ बोलकर नहीं देखे ऐसा कहे। यह बात सूत्र विरुद्ध है. । सूत्र में तो पांचों आश्रव के फल समान कहे हैं जीव बचाये और झूंठ बोले तो साधु का द्वितीय व्रत टूट गया। पर साधु झूंठ न बोले "जाणंति वा" अर्थात् साधु मृगादि को जानते हुए "नोजाणंति" नहीं जानता हूं "नो वदेज्ज़ा,, न कहे अर्थात् मौन धारण करे तब हिंसा और झूंठ ये दोनों दोष टले और दूसरा व्रत भी पला ऐसा शुद्ध अर्थ है। झूंठ बोलने का क्या काम है और इस प्रकार सूत्र का अर्थ फिराने में क्या लाभ है ? दशवै कालिक ७ वें अध्याय की पहिली गाथा में कहा है:-

चउण्हं खलु भासाणं । परिसंखाय पन्नवं ॥
दोण्हं तु विणयं सिखे । दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

अर्थः—च-चार निश्चय, भा-भाषाके स्वरूप को, प-समझ कर, प-प्रज्ञावंत साधु, दो-सत्य असत्य १ असत्य ये दो भाषा, तु-पूर्ण, वि-बोलने के उपयोग, सि-सीखे, दो-असत्य भाषा १

सत्यासाय २ ये दो भाषा न बोले, स सर्वथा प्रकार से।

यहां असत्य और मिश्र भाषाका कारण या अकारण से भी बोलना निषेध किया है।।फिर पन्नवणा के ग्यारहवें पद्में कहा है:-

सरीर प्पभवा भासा दोहि समएहि भासए भासं भासा चउप्पगारा दोनिय भासा अणुमयाओ।

अर्थः-स शरीर प्रभाव पहिले कहा है पर यहां काय योग भाषा पुद्गल लेते हैं " आहच्च भद्रबाहु स्वामी गीणेये काये-णं निस्सरे सहेय वाइयेणं जोगेण इति " एक समय काया से ग्रहण करे, दूसरे समय वचन निकले अर्थात् दो समय में भाषा। एक समय में भाषा के पुद्गल ले और दूसरे समय भाषा परिणमावे। ये भाषा के चार भेद कहें। उन में साधु को दो भाषा की आज्ञा है १ सत्यभाषा, २ असत्यासत्या भाषा।

इसमें सत्य और व्यवहार इन दो भाषा की अणु आज्ञा भगवान् ने दी तथा आचारंग दूसरे श्रुतस्कंध के भाषा अध्य-यन के पहिले उद्देशे में कहा:—

अतीता जेय पडुप्पन्ना जेय अणागया अरहंता भग-वंतो सव्वे ते एयाणि चेव चत्तारि भासज्जायाइं भासिंसु वा भासंति वा भासिस्संति वा ॥

अर्थः-ए-ये, च चार भाषा की जात पर यहां ऐसा न कहा कि तीर्थंकर चार भाषा बोलें, ता-वे, भ-स्वरूप को कहते हुए, भा-कहते हैं, वर्तमान जिन भा भविष्य में तीर्थंकर कहेंगे (अर्द्ध मागधी भाषा में)

यहां हिंसा धर्मी कहते हैं कि तीर्थंकर भी चार भाषा बो-लें, ऐसा कह झूठ बोलना सिद्ध करते हैं क्योंकि ज्यों त्यों करके झूठ बोलना सिद्ध हुआ कि-फिर हिंसा पाठ भी सिद्ध हुआ।

पर ऐसा नहीं समझते कि श्री तीर्थंकर झूंठ क्यों बोलेंगे? यहां तो इतना ही कहा कि तीनो काल के तीर्थंकर चार भाषा के स्वरूप को कहते हैं। जो ये चार सत्य भाषादि पहिचानते हैं इनमें दो पजप्पी, दो अपजप्पी, दो बोलने की, दो न बोलने की तथा ४२ भेद कहकर परिचय कराते हैं पर तीर्थंकर मिथ्या बोलते हैं ऐसा अर्थ नहीं। तथा समदृष्टी चार भाषा के बोलने वाले को आराधिक पन्नवणा के ग्यारहवें पदमें कहे हैं और असंयति चार भाषा बोलते भी विराधिक। जिनमें हिंसाधर्मी कहते हैं कि शासन का उत्थान होता हो चौथा आश्रव सेवन किया हो तो झूंठ बोलना। उसे ढंकना पर ऐसा झूंठ समदृष्टी न बोले। ये मिथ्या अर्थ लगाते हैं। समदृष्टी चार भाषा के स्वरूप को यथार्थ जानते हुए बोलते हैं। इसलिये वे यथार्थ भाषी कहे और उन्हें आराधिक कहे हैं। और मिथ्यात्वी चार भाषा का स्वरूप बिना जाने बोलते हैं इसलिये वे विराधिक है जैसे जानना तो ज्ञान है पर मिथ्यात्व के आधार पर तीन ज्ञान है, वैसे ही समदृष्टी यथार्थ जानता हुआ चार भाषा बोले उसे आराधिक और मिथ्यात्वी स्वरूप जाने बिना बोले इसलिये चार बोल विराधिक। यहां चार भाषा बोलने की समदृष्टी को आज्ञा नहीं है।

३७ आज्ञा में धर्म है दया में नहीं, इसका उत्तर-

हिंसाधर्मी कहते हैं कि आज्ञा में धर्म है दया में नहीं। ऐसा इनका दयासे द्वेष भाव है। दयामें धर्म बतावें तो मंदिर

बनाना, प्रतिमा पूजना, संघ निकालना ये काम रूकजायँ, इसलिये दया में ये धर्म नहीं मानते आज्ञा में धर्म मानते हैं। पर मूर्ख ऐसा नहीं सोचते कि भगवान् की आज्ञा ही दया मय है। हिंसा में नहीं। धर्म रुचि अणगार ने ज्ञाता अध्ययन सोलहवें में कहा है " धर्म घोष गुरुने कहा कि यह कटु तूम्बा " स्नेह व गाढ " निर्दोष जगह जाकर पठा आओ। यह गुरु की आज्ञा थी, पर शिष्य ने ऐसी जगह न पाई तव सव का आपने आहार कर लिया। यहां कीडी की दया करते गुरुकी आज्ञा रही या भंग हुई ? यह साग खाने की गुरु की आज्ञा तो नहीं थी, इस कर्तव्य से धर्म रुचि अणगार ने गुरु की या तीर्थंकर की आज्ञा मानी या भंगकी ?

जो आज्ञा के विराधिक थे तो स्वार्थ सिद्ध कैसे गये ? इस हिसाव से जो दया पालते हैं वे आज्ञा के आराधिक हैं। आज्ञा और दया एक ही है। तव हिंसाधर्मी कहेंगे कि आज्ञा और दया एकही हैं तो नदी उतरने की आज्ञा तो है पर वहां दया कहां है ? इसका उत्तर यह है:- साधु नदी उतरते हैं यह अशक्य परिहार है और आकुटी समझकर उतरते हैं पर भगवान ने अनाकुटी कहा है। तथा उसका परिमाण भी बांध दिया है। समवायांग सूत्र के एकवीसवें समवाय में कहा है:-

अंतो मासस्सतउ उदग लेवे करेमाणे सबले अंतो संवच्छरस्स दस उदग लेवे करेमाणे सबले।

माह में दो या वर्ष में नौ वार नदी उतरने की आज्ञा नहीं है जो आज्ञा होतो "कप्पइ अंतो मासस्स दो उदग लेवा" ऐसा पाठ नहीं है। एक तीन लेप करे तो सवल दोप लगे। यह डर वताया। फिर नहीं उतरने वाले साधु दर्पित भी नहीं होते। जिस प्रकार तुम्हें पूजा करने में हिंसा लगती है वह हिंसा

तुमतो अनुमोदन खाते लगाते हो और साधु के लिये नदीकी हिंसा निश्च खाते है। साधु नदी न उतरे तो पश्चाताप नहीं करते पर तुमतो पूजा न करो तो पश्चाताप करते हो। साधु की नदी और तुह्मारी पूजा एकसी नहीं। पूजा ऊपर नदी का दृष्टांत नहीं मिलता।

३८ पूजाही दया है इसका उत्तर.

हिंसाधर्मी कहते हैं हमें पूजा करने में जो हिंसा लगती है वह दया ही है। परिणाम के शुद्ध होने से आगे भावना का अत्यंत लाभ है। जिस प्रकार कुंआ खोदते धूल लगती है पर फिर भावना जल से मैल उतर जाता है। इसका उतर--जब से देहरे की नीम (नींव) पडी, अंडे चढ़े, पूजा होने लगी, नाटक हुए, वहांतक तो पाप ही पाप धूल की दौड़ रहती है और हिंसा से निवृत रूप भाव पानी निकले तब तुह्मारी पूजा बंध होती है। इस हिसाव से तो धूल ही निकलती है। कुंआ खोदने का दृष्टांत पूजा पर नहीं मिला। धूल से पानी की प्रकृति भिन्न है और पूजा से दया की प्रकृति भी भिन्न है। तब हिंसा धर्मी कहते हैं कि प्रश्न व्याकरण के पहिले संवर द्वार में दया के साठ नाम कहे हैं जिनमें "पूया" दया का नाम है इस लिये पूजा दया ही है। तब हिंसा सहित पूजा को दया ही है। तब हिंसा सहित पूजा को दया कहोगे तो जो साठ नाम दया के है उन में "जएणो" यज्ञ देव की पूजा ऐसा नाम भी दया का है। इस हिसाव से पशु वध कर यज्ञ करते होंगे वे भी दया में ही ठहरेंगे। दया का यज्ञ तो हरकेशी मुनि ने ब्राह्मणो से उत्तराध्ययन वारहवें की गाथा ४१-४२-में कहा।

यह यज्ञ दया में ही गिनना चाहिये जिसमें कि कोई हिंसा नहीं

छजीवकाए असमारभंता; मोसं अदत्तंच असेव माणा
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं; एयं परिन्नाय चरंति दन्ता ४१
सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं; इह जीवियं अणवकंखमाणा
वोसट्ठ काया सुइचत्तदेहा; महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥४२॥

अर्थः-छ-जीव की कायके, आ-आरंभ नहीं करता हुआ, मो-असत्य, अ-अदत्त, अ- नहीं सेवता हुआ, प-परिग्रह इ-स्त्री, मा-मान, मा-माया, ए-ये पूर्व कहे वे, प-खराब समझ कर प्रत्याख्यान में प्रवर्ते, द-इंद्रिय दमन करता हुआ ॥४१ सु-अच्छी तरह आश्रव रोके हैं जिनने, पं- पांच, सं-संवर कर, इ-इस मनुष्य लोक में, जी-असंयम जीवतव्य, अ- नहीं चाहता हुआ, वो-ममता भाव कर वोसिरायी है काया जिनने, सु-मन योग से पवित्र, सुश्रूषा न चाहना और तजी है देह जिनने ऐसे साधु, ते-वे कर्म शत्रु का विजय बड़ाहै, ज-ऐसे यज्ञ में श्रेष्ठ प्रधान यज्ञ, य-जो २ क्रिया बहुवचन के स्थान पर एक वचन हैं इत्यादि व्ययके लिये ॥ ४२ ॥

यह यज्ञ दयामें है पर द्रव्य यज्ञ दयामें कैसे माना जा सक्ता है? तुम कहते हो पूजा नाम दया काहै। तब ब्रह्मा और विष्णु की पूजा किसमें है? यह भी तुम्हारे मत से दया में हो रही- तथा साधु को "समणे माहणे" कहे समण माहण साधु तो तुम्हारे मत से समण साक्यादि तथा माहण ब्राह्मण सब साधु ही होंगे। ऐसे उपयोग शून्य क्यों होते हो? दया का नाम मंगल भी है-तुम्हारे मत से आठ मंगलिक या आम के पत्ते की वंदनवार ये भी दयाके साठ नाम में होंगे। इस प्रकार लौकिक पक्ष के सुंदर नाम दया के दिये पर कर्तव्य लौकिक

नहीं गिने। दयाका नाम "श्रोसवो" कहा,उत्सव यह भी दया इस हिसाब से नाटक उत्सव है और दया है तो फिर सूरि-याभ को आज्ञा क्यों न दी ? तथा पूजा ही तुम्हारे मत से दया है तो साधु पूजा की आज्ञा क्यों नहीं देते ? दया की आज्ञा तो देते हैं।

फिर हिंसा धर्मी अपना ही महानिशीथ सूत्र मानते हैं जिसके तीसरे अध्ययन में द्रव्य पूजा, भाव पूजा और साव-द्य पूजा का अधिकार है तथा द्रव्य पूजा और सावद्य पूजा के फल बतलाये हैं वह पाठ नीचे लिखते हैं।

भावच्चणं चरित्ताणुठाणं कट्ठुग्ग घोरं तव चरणं दव्व च्चरणं वीरिय सील पूया सक्कार दाणादि चोक गोयमा भावच्चणं मुग्गविहारी आय दव्वचणंतु एत्थं च गोयमा केई अमुणीय समय सब्भाव उसन्न विहारी नियवासिणो अहिट्ठ परलोग पच्चक्खए संयमती इड्डिरस सायागारवाइ मुच्छीए रागदोसा मोहाहंकार मम कारीयं संजम सद्धम परं मुहे निद्धयं अकलुण एगंत्तेण रोहक्कुरामिगइव मिच्छ दिट्ठिणो कय सावज्जजोग पच्चक्खाणं विप्पमुक्का से संगाहं परिगाहे दव्वत्ताताए भावत्ताताए नाममेतं मुंडे अण गारे महव्वयधारी समणेवि भवित्ताणं एवं मन्नमाणे अमहे अरहंताणं भगवंता-णं गंधमल्लयदीव धुयपूयासक्कारेहिं अणुदियह पकुव्वाणाति तुच्छप्पणा करेमितं तहित उत्तं च गोयमा समणु न जाणेज्जा वुद्धि ही छकायहियं तु संजम वीउनकप्पए सव्वहा अविरए

सुउणसे कसीणह कम्मक्खए कारयितुं भावच्छ यमणुट्ठे गोयमा मणीसे सयंदे सविरय अविरयाणंतु भयछअवोछीन्न घोर दुगंधावय जलिलउ उव्वेवेयसंसतो अणंत खुतो दुगंधा खार पीतवसजलुस पुयं कढ कढत लटलट लसझंतो गोयमा।

अर्थः-(अब तीर्थंकर की भाव पूजा) चा-चारित्र अनुष्ठान, क-उग्र घोर, त-तप, च-चारित्र को वंदना नमस्कार करना यह भाव पूजा, द-अब द्रव्य पूजा कहते हैं, वी-व्रत लेना, सी-सील आचार रूप पूजा, स-सत्कार करना, दा-दानशील तप भाव ये सब द्रव्य पूजा, गो-हे गौतम फिर भाव पूजा, भा-भाव पूजा, फिर मु-उग्र विहारी हो. आ-द्रव्य पूजा यतिको देना, ए-जिन शासन में, गो-हे गौतम, के-कोई मुनि, स-सिद्धांत भाव जानते नहीं, उ-संयम से गिरे, वी-विहार से थके, नि-प्रतिवंधन वास सहित, अ-जिनको परलोक की पीड़ा दीखी नहीं और जानते नहीं, स-अपने मतसे चलते हैं, इ-रिद्धि, रस, शांति में लीन, रा-राग द्वेष सहित, मो-मोह अंधकार सहित, म-ममता में प्रतिबंध सहित, सं संयम से शुभ धर्म से विरुद्ध, नि-दया रहित, त्रास रहित, पाप के डर रहित, अ-करुणा रहित, ए-एकांत, रो-रुद्रकर्म करने वाले, पापकर्म सहित, अभिग्रहित, मी-मिथ्यादृष्टी के स्वामी, क-सावद्ययोग के प्रत्याख्यान कर भांग डाले जिनने, से-आरंभ परिग्रह को तीन करण, तीन योग से अंगीकृत किया जिनने, द्र-द्रव्यमात्र, भा-भाव मात्र, ना-नाम मात्र, मुं-मुंडेअणगार, म-महाव्रतधारी साधु ऐसा मनमें, स-श्रमण, भ-धारण करेंगे, ए-ऐसा मानते हुए, अ-हम, अ-अरिहंत को, भ-भगवंत को, ग-गंध द्वारा, म-फुलह्वार, दी-दीपद्वारा, धु-धूप द्वारा, पु-पूजा सत्कार से, अ दिन दिन उद्यम करते हुए, प-वलात्कार से हम तीर्थंकर की स्थापना करेंगे ये सब द्रव्य

लिंगी के वचन भले न जाने, वु-तीर्थंकर छःकाय के हितार्थ धर्म कहते हैं इसलिये, सं-संयम के ज्ञाता वे पुष्पादि से पूजा न करे, अनुमोदन न दें तो श्रावक को सावद्य पूजा करने को कैसे कहें ? स-सर्वथा अवृति को भी आदरने योग्य नहीं, पूजा करने योग्य नहीं, क कर्म क्षय करने के लिये, आठ कर्म काटने के लिये, भा-भाव पूजा संयम से कर्म क्षय हो, गो हे गौतम, म-अणुव्रती, देशव्रती, अ-समदृष्टी अव्रति सब को, भ भाव पूजा आदरने योग्य, अ-अब सावद्य द्रव्य पूजा का फल दिखाते हैं, ज-जिन्हें दीर्घ दुःख स्वरूप अग्नि का जलता कुंड मिलेगा, अ-अनंता दक्ष दुःख पावेंगे, दु दुर्गंध मद से लिप्त, खा-खार, पी-पित्तश्लेष्म जहां बहुत है, व-चर्बी रुधिर का ढेर है, क-दूध की तरह उपलते हुए दुःख में, ल-खुजली रोग की तरह वड़ वड़ शब्द करते, गो-हे गौतम ! सावद्य पूजा करने वाले ये फल प्राप्त करेंगे, इत्यादि ।

महा निशीथ सूत्र के तीसरे अध्ययन में बहुत अधिकार है पर ग्रंथ बढ़ जानेके भय से यहां सारांश मात्र लिखा है। इस से विशेष अधिकार महा निशीथ से देखलेना। सिवाय इसी सूत्र के पांचवें अध्ययन में भी ऐसा ही अधिकार है वह भी देखलेना।

सूचनाः-(उपरोक्त महा निशीथ का विषय यह ग्रंथ छपना आरम्भ हुए पीछे श्री जामनगर के सुज्ञ श्रावकों की ओरसे लिखा हुआ आया। इस लिये उन सज्जनों के आग्रह से उन के मान के लिये किंचित मात्र यहां लिखा है)

। ३६ प्रवचन के द्वेषी मारने में पाप नहीं।

* इसका उत्तर *

हिंसा धर्मी कहते हैंकि प्रवचन के शत्रु को मारने में कुछ भी दोष नहीं है, जिस की साक्ष निशीथ चूर्णि में कही है,

राह में बाघ का भय था, वहां आचार्य बहुत परिवार से आये बाघ का भय समझकर शिष्यों से कहा " गच्छ को रोको " तब शिष्योंने कहा " क्यों रोकें " तब गुरुने कहा 'यहां सिंह का भय हैं " तब शिष्यने रातको तीन सिंह मारे और गुरु से प्रायश्चित् मांगा, गुरुने कहा ' तू सिद्धहै, तुझे प्रायश्चित नहीं लगता। तूने महाफल कमाया है ' ऐसा कह दूसरों के हृदय की दया दूर की जिसका उत्तरः—जो सिंह मारने में प्रायश्चित नहीं तो गौशाला को क्यों नहीं मारा ? उसने तो दो साधु मार डाले थे, भगवान् ने मारने का उपदेश भी क्यों नहीं दिया? अपने व्रत को तोड़ दूसरों का उद्धार करने में पाप नही तो अंबड़ के सातसौ शिष्य तृषा परिषह से क्यों मरे? उन में से एकभी आज्ञा दे देता तो सातसौ ही जीवित रहते। पर वीतराग की ऐसी आज्ञा नहीं है कि अपने व्रतको तोड़ दूसरों का उद्धार करें, ये बाते सूत्र विरुद्ध हैं। भगवान् का माग तो यह है कि जब अंतगढ़ में श्री कृष्ण ने पूछा कि " गज सुख-माल कहां है ' ? तब भगवान् ने कहा-' साहिये अट्ठे ' मुक्ति गमन रूप कार्य अर्थ सिद्ध किया। वहां भाई के वध करने वाले पर कृष्ण को द्वेष आया। तब भगवान् ने कहा।

माणं तुम्मं कन्हा तस्स पुरिसस्स पवोसए मावज्जाहि एवं खलु कन्हा तेणं पुरिसेणं गयसुकमालस्स अणगारस्स साहिज्जं दिन्ने ॥

अर्थः-मा-न करो, तु-तुम, क-हे कृष्ण, त-उस, पु-पुरुषपर, प-द्वेष, ए इस प्रकार, ख-निश्चय, क-हे कृष्ण, ते-उस, पु-पुरुष ने, ग-गजसुखमाल, अ-अणगार को, सा सहायता, दि-दी

जिस प्रकार तुमने उस वृद्ध ईंट वाले पुरुष के फेरे टाले उसी प्रकार उस पुरुषने गजसुखमाल के फेरे टाले हैं। तब

कृष्ण पूछते हैं उस पुरुष को मैं किस प्रकार जानूंगा ? तब भगवान् कहते हैं-" तुम्हें द्वारका में जाते हुए वह सन्मुख देख "ठिएचेव ठिइभरएणं कालं करिस्सइ" खड़ा रहकर स्थिति पूर्ण कर काल करेगा " इस प्रकार संकेत से पहिचानने को कहाकि तुम्हें देख खड़ा रहजायगा और नीचे पड़ मर जायगा । तब तू समझलेना कि यह पुरुष गजसुखमाल को मारने वाला है पर प्रकट नाम भगवंत ने नहीं कहा । तो द्वेषी को मारना ऐसा कर्म जिन मार्ग में कैसे हो सक्ता है ?

४० गुरु महाव्रती और देव अव्रती कहते हैं इसका उत्तरः-

हिंसा धर्मी जब आवश्यक करते हैं तब स्थापनाचार्य कौड़ा (कौड़ियां जानवरों की हड्डी को) लेकर के उन्हें गुरु मान खमासणा देते हैं पर उन स्थापनाचार्य को पुष्प, पानी, धूप, दीप कुछ भी नहीं देते क्योंकि गुरु महाव्रती है, उन्हें सचित्तका स्पर्श नहीं हो सक्ता, पर विवेक विकल इतना भी नहीं जानते कि जो गुरु महाव्रती हैं तो देव क्या अव्रती हैं ? सचित्त का स्पर्श देव को क्यों उचित है ?

४१ जिन प्रतिमा जिन सारखी (समान) कहते हैं इसका उत्तरः—

हिंसा धर्मी कहते हैं कि जिन प्रतिमा जिन सरीखी है,

देवलोक पर्वत पर जघन्य ७ हाथ उत्कृष्टी ५०० धनुष्य लम्बी तीर्थंकर की ऊंचाई के प्रमाण से ऊंची है, पूजा करते नमो- थ्थुणं भी देते हैं तब पूछते हैं कि अवगाहना तो सरीखी है पर गुण सरीखे क्यों नहीं ? ज्ञान, दर्शन आदि क्यों नहीं ? तथा जिनवर के आगे पांच अभिगम करते हैं और इस प्रति- मा को फूल, पानी, वस्त्र, आभूषण, धूप, दीप, गीत, नृत्य भोग क्यों देते हैं ? संसार के मनुष्य भी जैसा पुरुष होता है वैसी खूबी चित्रित करते हैं । म्लेच्छ लोग मांस और सुरा के भोगी हैं तो उनके देव भी मांस और सूरा का स्वाद करते हैं माता, भेरू, हनुमान और योगिनी आदि के आगे अजा और महिष का वध करते हैं, विष्णु, देव, ब्रह्मा, शिव, श्याम, कार्तिक, गणेश, सरस्वती ये उज्वल देव हैं तो इन की पूजा में पान, फूल, धूप, दीप रहता है पर मांस, सूरादि नहीं रहता है । जिस वस्तु के भोगी देवता हों वही वस्तु उसकी प्रतिमा को भी पूजा करने में काम में लाई जाती है, जैसे जो वस्तु वीतराग को कल्पती है वही वस्तु वीतराग को चढ़ाते हों तो हम समझलें कि यह प्रतिमा वीतराग की है। पर जिन जीवों की रक्षा श्रीवीतराग करें और उन्हीं जीवों का वध कर श्रीवीतराग की प्रतिमा का पूजन करें यह बात कैसे मिल सक्ती है जो वीतराग फूल, पानी, धूप, वस्त्र, भूषण के भोगी हों तो पूजा में निर्जरा हो, करने वाला भी संसार समुद्र तिर जाय इतना लाभ हो । पर जिस वस्तु के वीतराग त्यागी हैं उसी का भोग उन्हें लगाया जाय तो महापाप ही लगेगा । और सिर्फ आमंत्रण भी करेगा तो पाप लगेगा। उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय वीसवें में अनाथी मुनि से राजाने विना जाने

भोग की आमंत्रणा की, फिर समकित पाये तब पहिले जो भोग भोगने को कहा था उसके लिये अपराध खमाया। वह गाथा सत्तावनवीं लिखते हैं।

पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाण विग्घाओ जो कओ ॥
निमंतिया य भोगेहिं, तं सव्वं मिरसेहि मे ॥

अर्थः—पु-पूछकर; म-मैंने, त आप को, झा-धर्म ध्यान का, वि-विघ्न घात, जो-जो, क किया, नि निमंत्रण दिया, भो-भोगकर हे संयति ! तू भोग भोग आदि, तं-वह सब, सि मस्तक झुका-कर क्षमाता हूँ। मैं मेरा अपराध सब। तो श्रीवीतराग के वोसिराये हुवे भोग कैसे काम आसक्ते हैं ? तथा देवता की तरह भक्ति पूजा करते हो तो देवता ने वस्त्र पहिनाये हैं तो तुम भी वस्त्र क्यों नहीं पहिनाते, इतना योगी पना क्यों रख रहे हो ?

फिर जिन प्रतिमा जिन सरीखी है तो क्यों नहीं कहते हो जो भरत इरभरत में तीर्थंकर शाश्वते हैं तो तुम तीर्थंकर का विरह अविद्यमान क्यों कहते हो ? फिर बलदेव से बल-देव, वासुदेव से वासुदेव, चक्रवर्त्ती से चक्रवर्त्ती, तीर्थंकर से तीर्थंकर ये एक क्षेत्र में दो इकट्ठे नहीं होते ऐसी अनादि काल की रीति है। और जिन प्रतिमा जिन सरीखी है ऐसा जो तुम कहते हो तो एक क्षेत्र में सैकड़ों प्रतिमाएं इकट्ठी क्यों हुई ? ऐसा अछेरा क्यों किया ? फिर तीर्थंकर विचरते हैं वहां से पच्चीस २ योजन तक मार, मृगी, सचक्र, परचक्र का भय आदि भगवान् के पुण्य के अतिशय से उपद्रव नहीं हो सक्ता। और जिन प्रतिमा जिन सरीखी है तो इनमें से एक भी भय क्यों नहीं टलता ? इसलिये ऐसी भ्रमना में मत भूलो।

४२ हिंसा धर्मी और गोशालामति की समानता

गोशाला मति का मत सुयगडांग के दूसरे श्रुतस्कंध के छट्ठे अध्ययन में लिखाहैः-

सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहायकम्मं तह इत्थियाओ। एगंत चरिस्सिह अम्हधम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेति पावं ॥ ७ ॥

अर्थः-स-सचित पानी पीना, बी-शाल-गोधुमादि का उपयोग करना, आ-आधा कर्मी आहार लेना, त-वैसे ही और इ-स्त्री का प्रसंग भी करना, अ-एकान्त विहार में तत्पर, इससे अपना और औरों का उपकार होता है ऐसा कहते हैं, अ-हमारे धर्म में प्रवर्तने वाले, त-तपस्वी, पा-पाप नहीं लगता, यद्यपि-शीतोदक आदि कुछ कर्मबंध के कारण हैं तथापि धर्म धार शरीर को रखने वास्ते ऐसा करना भी एकल विहारी तपस्वी के लिये बंधन नहीं।

(१) आद्र कुमार ने गोशाला से कहा शरीर रक्षार्थ हमारा धर्म है। शीतोदक पानी, बीजकाय, फल, फूल, आधाकर्मी आहार और स्त्री सेवन इतने भोग में दोष नहीं। यही श्रद्धा तुम्हारी भी है। आद्रकुमार ने फिर उसी सूत्र में उसी स्थानपर नवमीं गाथा में कहाः-

सियाय बीओदग इत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंतु ॥ आगारिणोवि समणा भवंतु, सेवंतिउ तेवि तहप्पगारं ॥ ९ ॥

अर्थ–सि-कदाचित्, वी-वीज, शाल, गोधुमादि, उ-सचित पानी, इ-स्त्रियादि, प-इतनी वस्तुएं भोगते हुए, स-तपस्वी हो, आ-वे गृहस्थ भी देशांतर में विचरते, स–साधु तपस्वी हो, से-सेवे, भोगे, अ-उन्हें, त-यथा तथ्य रीति से जिस प्रकार यति एकल विहारी वैसे ही गृहस्थी भी धनार्थ मार्ग की हालत में आशावंत अकेला विचरता हुआ क्षुधा तृषादि के कष्ट सहता है इसलिये वह भी तपस्वी हुआ ॥ ६ ॥

(२) भगवती शतक १५ में गौशाला का मत कहा वह यह है:—

वेसियाणं बालतवस्सिं एवं वयासि किं भवं मुणी मुणीए उदाहु जूया सेज्जायरए,

उसी प्रकार हिंसा धर्मी दयाधर्मी को देखकर संताप पाते हैं।

(३) फिर गौशालाने पलनामा नपउउपरिहार मन से जोड़ कर कहा उसी प्रकार हिंसाधर्मी नये २ ग्रंथ "शत्रुंजय महात्म्य" तथा 'विवेक विलास' आदि चाहे जैसे मन गढ़ंत ग्रंथ बनाते है, देहरे, प्रतिमा वनाने और संघ कराने के लाभ दिखाते है।

(४) फिर गौशालामति

अणाति कम्माणि जाइं छ वागरणाइं वागरेतितं लाभं अलाभं सुहं दुहं जीवियं मरणं ॥

इससे यह आजीविका मत कहाया। वैसे ही हिंसा धर्मी भी लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मंत्र, यंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि कर आजीविका करते हैं।

(५) फिर गौशालाने दो साधु जलाये भगवान पर तेजु.

लेश्या डाली पर पाप से न डरा। वैसे ही हिंसाधर्मी ने भी चौदहसौ चवालीस बौद्धों को होमे, फिर दयामार्गी साधु को मारने का पाप सवा माखी का बताते हैं।

(६) गौशाला के शरीर में दाहज्वर हुआ तबमिटी मिश्रित पानी छीटा 'अंबकूणग हत्थ गए' अंब फल हाथ मे लिये। कच्चे आमके फल इस पापको ढकने के लिये खाने लगा।

तस्सवियणं वज्जस्स पच्छादणट्ठयाए इमाइं अट्ठ चरमाइं पन्नवेइतंजहा चरिमे पाणे चरिमेगेय चरिमेणट्टे चरिमे अंजलि कम्मे चरिमे पोक्खलस्ससंवट्टए महामेहे चरिमे सेयणए गंधहत्थि चरिमे महासिलाकंटए संगामे अहंच णं इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थंकराणं चरिमे तित्थंयरे सिज्झिस्सं॥

अर्थः-उनने भी मद्यपान ढकने के निमित्त मद्यपानादि पाप के निमित्तः-ऐसे प्रमाण आठ चरिम से कहे। फिर ऐसा नहीं हो सक्का इसलिये वे कहते हैंः-चरिमपान १ चरिमगान २ चरिमनाटक ३ चरिमअंजुलीकर्म ४ चरिम पुष्फल संवर्तकमेघ ५ चरिमसेचानक हस्ती ६ चरिम महासीला कंटक नामा संग्राम ७ अहंनामहुच पुनः इसी अवसर्पिणी में चौवीस तीर्थंकरों में चरम तीर्थंकरमैं सिझूंगा जावत अंत करूंगा। यहां पानकादिक चार को अपनी अपेक्षा से चरिमपना ऐसा अपने निर्वाण के गमन में जो जिन निर्वाण होते हैं उनके समय अवश्य होता है इसमें दोष नहीं और न इसे मैं दाह सम समझताहूँ। ऐसा प्रकाशित करने या अवद्य ढंकने के लिये ऐसा होता है ऐसा कहा। इसी प्रकार हिंसा धर्मी भी अपने आचार में कुशील सेवनकर शास्त्र के नये पाठ जोड़कर दिखाते हैं।

(७) गौशाला ने तीर्थंकर नाम धराया कि तेवीस पहिले हुए और २४ वां मैं। वैसे ही हिंसाधर्मी भी कहते हैं कि महावीर के पश्चात् हम इतने पाट पर "गोयम सोहम" जंबू के पाट पर ऐसा कहते हैं।

(८) गौशाला ने मरते समय कहा-"मेरा महोत्सव शिविका पालकी कर वहुत आडम्बर से निकालना, चौवीसवें जिन राज मुक्ति गये ऐसा कहना।' वैसे ही हिंसाधर्मी भी कह २ कर मांडवी कराते जय २ नंदा जय २ भद्दा कहाते, मरेवाद-डेरी, पगलिये कराते हैं।

(९) 'अंतिम राइयं सीपरिणममाणंसि पडिलद्ध समत्तं' फिर गौशाला को सातवी रात में समकित हुआ तव कहा—"हाय! हाय!! मैं तो गौशाला हूँ, (मंखली पुत्र) समणघाती, अरिहंत का अविनीत, अपने शिष्य श्रावक को वुला कर कहा कि 'वायें पांव में रस्सी वांध कर सावत्थी नगरी मे राजपथ, चौहटे, गली आदि सव जगह में मुझे खींचना,' मुंह में थूक कर कहना कि यह गौशाला मंखली पुत्र, श्रमण घातक महापापी, पाखंडी, छद्मस्थ था वह मरगया। ऐसा न करो तो तुम्हें मेरी सौगंध है"। ऐसा कह वह काल करगया। फिर शिष्य श्रावक ने लोक में लज्जा स्पद जान द्वार वंद कर सावत्थी नगरी चित्रित की और स्थापना निक्षेप कर धीरे २ वोलते हुए रस्सी पांव मे वांध घसीटा। इस प्रकार सौगंध पूरी की। इनने सावत्थी नगरी का चित्र वना सावत्थी नगरी के वरावर समझा वैसे ही हिंसाधर्मी भी स्थापना जिनराज जैसी मानते हैं।

(१०)उपासक दशाङ्गके छट्ठे अध्ययन में कुंड कोलिया श्रावक

से गौशाला मती देवता ने कहा ' उट्ठाण कम्म ' बलवीर्य्य के किये कुछ नहीं होता। जो होने वाला है सो होता है। वैसे ही हिंसा धर्मी भी कहते हैं कि क्रिया करने से मुक्ति नहीं मिलती। भव स्थिति पकेगी तब विना ही श्रम के मुक्ति मिल जायगी।

(११) पंद्रहवें शतक में गौशाला का बड़ा श्रावक आयंपल रातको विचार करता है कि मेरा धर्माचार्य गौशाला मंखली पुत्र, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सब पदार्थ का जानने वाला ' तीयपडु-प्पन्नमणागयं सव्वन् सव्वदंसी ' कल आवेगा। उस से वंदना कर प्रश्न पूछूंगा। इन मूर्खों ने अजिन को जिनसे माने, वैसे ही हिंसाधर्मी भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अतिशय, वाणी रहित प्रतिमा अजिन को जिन सरीखी मानते हैं इत्यादि कई उदाहरण देखते हिंसाधर्मी गौशाला के अनुगामी ही दृष्टिगत होते हैं। गौशाला के मत में स्थापना मानते हैं।

———:※:———
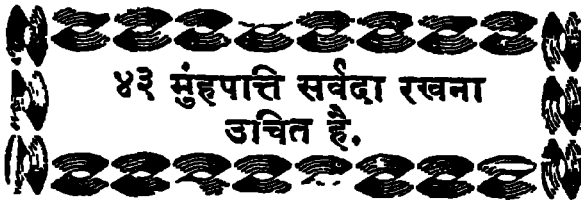
४३ मुंहपत्ति सर्वदा रखना उचित है.

हिंसाधर्मी दयाधर्मी को कहते हैं कि तुम मुँहपत्ति सदा क्यों रखते हो? विजयराजा की मृगा राणी से उत्पन्न पांच पुत्र थे जिन में सब से बड़ा मृगा लोढ़ा था और शेष चार उस से छोटे और महा सुंदर थे। बड़ा पुत्र मृगा लोढ़ा महा दुर्गंधी था इसलिये उसे तलघर में रखा जाता था। रानी हमेशा वेष बदल सूप में आहार लेकर उसे देने जाती थी। एक बार गौतम स्वामी उसे देखने गये। रानी ने गौतम स्वामी को देख वंदना

की और उनसे वहां पधारने का कारण पूछा। गौतम ने कहा कि ' तुम्हारे पुत्रको देखने आया हूँ। ' तब रानी ने चारों पुत्रों को श्रृंगार करा गौतम स्वामी के पांव लगाये। तब गौतम ने उन सब को देख रानी से तलघर में रहने वाले पुत्र को देखने की इच्छा प्रगट की। तब रानी ने वस्त्र पलटे और तलघर के द्वार पर गई। वहां महा दुर्गंध उड़ती देख गौतम से कहा ' स्वामी! बहुत दुर्गंध आरही है इसलिये मुंह पर कुछ बांध लीजिये ' तब गौतम ने रानी की मनसा रखने के लिये ' मुंहपत्तियाए मुंह बंधे ' कहा। पर गौतम स्वामी तुम्हारी तरह हमेशा मुंह पत्ति बांधे नहीं रहते थे। इसका उत्तरः—गौतम स्वामी ने तलघर पहुंचने पर रानीके कहने से मुंह पर मुंहपत्ति बांधी मानते हो तो क्या रानी से जो इतनी देर बात चीत की कि " मैं तेरे चार कुंवरो को देखने नहीं आया तेरा पुत्र जो तलघर में है उसे देखने आया हूं " उघाड़े मुंह ही की? उस समय मुंहपत्ति थी या नहीं? तुम्हारे मत से तो वे खुले मुंह ही बोले क्यों कि मुंहपत्ति तो तलघर के वहां मुँह पर बांधी, पहिले तो मुंह के आगे हाथ लगाया ऐसा भी तो नहीं कहा? तब तो खुले मुँह गौतम स्वामी बोले या क्या किया? हे देवानु प्रिय! साधु का वेष ही रजोहरण और मुंहपत्ति है। जैसे ब्राह्मण को यज्ञोपवित रहती है वैसे ही मुंहपत्ति तो गौतम के थी ही पर तलघर के द्वार पर विशेष दुर्गंध समझ रानी के कहे अनुसार नाक में दुर्गंध न जावे ऐसा किया। वे तो समता भावी महा पुरुष हैं जो इतने भक्तिवान् का वचन रखा जैसे ऋषभदेव ने लोच करते समय इन्द्र के कहने से शिखा रक्खी थी पर गौतम खुले मुंह कैसे बोल सक्ते हैं?

फिर कोई कहते हैं कि मुंह से वायु निकलती है जिस से वायु काया के जीव मरते हैं उनकी यत्ना के लिये साधु मुंह-

पर मुंहपत्ति बांधते हैं । तो क्या वायु का गोला नहीं निकलता ? फिर नाक की वायु क्यों नहीं रोकते हो ? इस का उत्तरः-जितना रुकता है उतना रोकते हैं सूत्र में मुंहपत्ति का कथन है। नाकपत्ति का नहीं। तव हिंसाधर्मी कहते हैं कि नाक भी तो मुख मर्यादा में है क्योंकि पूर्ण चन्द्र जैसा मुंह कहा तो नाक की भी गिनती उसी में हुई या नहीं ? तव तुम्हारें कह अनुसार नेत्र भी मुख मर्यादा में आये तो नाक की तरह नेत्र भी ढंकना चाहिये। पर ऐसा नहीं । सूत्र में जो मुंहपत्ति का कथन है वह केवल मुंह ढंकने के लिये ही है।

४४ देवता प्रतिमा पूजते हैं वह लौकिक खाते पूजते हैं।

सोहम्मकप्पवासी देवो, सक्कस्स सो अमरिसेणं । सामाणिय संगमओ वेइ सुरिंदंपडिनिविठो ॥ १ ॥ तिल्लोकं असमत्थंति, वेहएयस्स चालणं काउं । अजेव पासह इमं, मम वसगं भट्ठ जोगतवं ॥ २ ॥

ये दो गाथाएं आवश्यक की निर्युक्ति कीहै। शक्रेन्द्र का सामानिक संगम नामक देवता अभवी, मिथ्या दृष्टी, विमान का मालिक उसने बहुत प्रतिमाएं पूजीं ऐसा कथन है। जो समकित खाते प्रतिमा पूजना चलाहो तो उसे मिथ्यात्वी, अभवी क्यों पूजें ? नमोत्थुणं क्यों कहें ? भवी, अभवी दोनों पूजें इस लिये प्रतिमा पूजना संसार खाते है न कि मोक्ष खाते।

४५ श्रावक सूत्र न पढे इसका उत्तर

कितने ही हिंसाधर्मी कहते हैं कि श्रावक सूत्र नही पढते हैं और इसके लिये कई सूत्र की मिथ्या मिसालें देते हैं। इसका उत्तरः-तुंगिया के श्रावकों के वर्णन में ' लद्दट्टा ' कहे पर ' लद्सुत्ता ' नहीं कहे। इसका उत्तरः-ज्ञाता अध्ययन पहिले तथा भगवती शतक ग्यारहवें के उद्देशे ग्यारहमें स्वप्न पाठक को " सुतत्थ विसारए ' कहे और ' स्वप्न शास्त्र के लद्दट्टा ' भी कहे। पर सूत्र का निषेध नहीं किया। वैसे ही श्रावक को भी समवायांग, नंदी सूत्र, उपासक की हुंडी में ' सूय परिगाहा , कहे, और तुंगिया के अधिकार में ' लद्ठा, कहे। स्वप्न पाठक की तरह तथा श्रावक को भी "आगमे तिविहे पएणते तं जहा सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे," है या नहीं ? तथा श्री प्रश्न व्याकरण के दूसरे संवर द्वार का पाठ दिखाते हैं कि 'देविंद नरिंद भासियत्थं महारिसीयसमथप्पादिएणं' सत्य वचन भगवंत ने, देवता या मनुष्य के लिये कहे वे महर्षि साधु ने सूत्र रूप किये ऐसा पक्ष खींचकर अर्थ करते हैं। पर यह तो सही पाठहै। यहां स्थापना, उत्थापना नहीं है। उववाई में श्रीमहावीर ने उपदेश दिया वह अर्द्ध मागधी भाषा में सूत्र रूप से दिया। वहां देवेंद्र नरेंद्र भी थे और ऋषि,मुनि,यति भी थे। सब को सूत्रार्थ में दिया। देवेद्र या मनुष्य को और महा ऋषि को भिन्न २ न कहा तथा देवेंद्र नरेंद्र को अर्थ रूप में कहा। फिर उत्तराध्ययन सूत्र के तेरहवें अध्ययन की बारहवीं काव्य में कहा 'महत्थरुवा वयण प्पभूया गाहाणुगीया नरसंघ मज्झे ' यहां मनुष्य को सूत्र

रूपमें दिया और महाऋषि को भी सूत्र में दिया। ये भी सामान्य वचन हैं। गणधर महाऋषि को अर्थ रूप में दिया कहा 'अत्थ भासइ अरहा' अनुयोग द्वारमें साख है। तथा कोई हठ वादी सूत्राक्षर सा ही अर्थ मानें तो उसे क्या कहें। इसी सत्य के अधिकार में प्रश्न व्याकरण मे सत्य का वर्णन है, वहां ऐसा कहा "मणुयगणाणं वंदणिज्जं अमरगणाणंच अच्चणिज्जं असुर गणाणंच पूयणिज्जं" इस पाठ का हठ करे। इस हिसाब से ये सत्य वचन मनुष्य गण को वंदनीक, पर देवता असुर को वंदनीक नहीं, और देवता गण को अर्चनीक, पर मनुष्य असुर को अर्चनीक नहीं। असुर को पूजनीक, पर मनुष्य देवता को पूजनीक नहीं। ये तो सही वचन हैं वैसे ही देवता, मनुष्य के अर्थ रूप में और साधु के सूत्र रूप में सत्य कहा। ये सही वचन हैं। इन शब्दों पर हठ न करना चाहिये। तथा श्रावक सिद्धांत पढ़ें तो अनंत संसारी हों ऐसा पाठ किस सूत्र का है? देश व्रती श्रावक निर्मल बारह व्रत धारी, प्रतिज्ञा धारी ब्रह्मचारी, अनेक गुण भंडार "धम्मिया धम्माणु" आदि विरद के धणी सूत्र पढ़ने से ही अनंत संसारी हो जायँ तो अव्रती देवता "धम्मियं सत्थं पोथरअणं वाएइ" कहा वह देवता अनंत संसारी क्यों न हुआ? तथा ये "धम्मिएसत्थे" ये लौकिक या लोकोत्तर हैं कहो। जो लोकोत्तर हैं तो देवता पढ़े और श्रावक अनंत संसारी हों यह कैसा अन्याय और यदि लौकिक हैं तो जिन पूजा की विधि कहां की? यह कहो। लौकिक देव की पूजा विधि लौकिक शास्त्र में और लोकोतर देव की पूजा विधि लोकोतर शास्त्र में रहती है इस का यथार्थ उत्तर दो।

निर्ग्रंथ के प्रवचन सिद्धांत ही हैं। उववाई में साधु का विरद कहा वहां " एणमेव निग्गंथे पावयणं पुरउकाउं विरहंति " ऐसा कहा तथा भगवती में जमाली की माता ने कहा " एण मेव निग्गंथे पावयणं सच्चं अणुत्तरं " कहा तथा आवश्यक में " एणमेव निग्गंथे पावयणं सच्चं अणुत्तरं " कहा। ये तीन साक्ष सिद्धांत के वचन को प्रवचन कहने के दिये तथा उत्तराध्ययन २१ वें में पालक श्रावक को निर्ग्रंथ के प्रवचन का ज्ञाता कहा। निर्ग्रंथ के प्रवचन सिद्धांत ही हैं अन्य कुछ नहीं। ज्ञाता बारहवें अध्ययन में सुबुद्धि प्रधान ने जित शत्रु राजा को " संताणं तच्चाणं तहियाणं अवितहाणं सब्भूयाणं " जिन प्रणीत सिद्धांत कहे। ये विरद सिद्धांत के ही हैं तथा राजमती ने संयम लिया वहां शीलवती बहुसुया कही तो संजमतो तत्काल ही लिया और घरमें सूत्र पढ़ने की तुम मनाई करते हो तो वह बहु सूत्री कब हुई ?

फिर कोई कहते हैं कि श्रावक सूत्र पढ़े तो सिर्फ आवश्यक ही पढ़े। उन्हें यह पूछना चाहिये कि आवश्यक में श्रावक को "सुत्तागमे अत्थागमे" कहा तो वे सूत्र पढ़े सिवाय कोन सा अतिचार लगाते हैं ? ग्रामो नास्ति कुत सीमा ? आवश्यक तो अनुयोग द्वार में " अतो अहो निस्सेस " अकाल समय में भी अस्वाध्याय के दिन भी करना कहा। इस के तो "अकाले कउ सज्झायं" आदि अतिचार नहीं लगते इस का उत्तर दो। तथा उववाई में कौणिक राजा, सुभद्रा आदि रानी और अन्य लोग, ज्ञाता में मेघ कुंवार, भगवती में जमाली आदि,

रायपसेणी में राय प्रदेशी, चित सारथी, उपासक में आनंदादि श्रावक ने उपदेश के अंत में कहा " सद्दहामिणं भंते निग्गंथे पावयणं पत्तियामिणं रोएमिणं भंते निग्गंथे पावयणं" जो प्रवचन सिद्धांत सुने नहीं, सुनाये नहीं तो श्रद्धा आदि कैसे हुई ? इस हिसाब से देवेंद्र, नरेंद्र को प्रवचन रूप सत्य दिया या नहीं ? नर, सुर को अर्थ रूप में दिया यह हठ नहीं करना चाहिये। फिर भगवती शतक नववें उद्देशे बत्तीसवें में असोच्चा केवली के अधिकार में ऐसा कहाः-

असोच्चाणं भंते ! केवलिस्सवा १ केवली सावगस्सवा २ केवलि सावियाएवा ३ केवलि उवासगस्सवा ४ केवलि उवासियाएवा ५ तप्पक्खियस्सवा ६ तप्पक्खिय सावगस्सवा ७ तप्पक्खिय सावियाएवा ८ तप्पक्खिय उवासगस्सवा ९ तप्पक्खिय उवासियाए वा १०

अर्थः-अ-विना सुने धर्म फल का फल वचन पूर्व कृत धर्म का रागी भगवंत केवली जिन भगवंत का १ केवली से पूछा जिसने केवली के वचन सुने, वे केवली श्रावक कहाते हैं २, केवली की श्राविका ३, केवली की उपासना के करने वाले ४, केवली की उपासना करने वाली ५, केवली का स्वयं बुध श्रावक ६, स्वयं बुद्धिका श्रावक ७, स्वयं बुद्धि की सेवा करता हुआ ८, स्वयं बुद्धि की श्राविका ९, स्वयं बुद्धि की सेवा करती हुई स्वयं बुद्ध अन्य को कहते सुना पहिले १०।

इन दस के पास केवली प्ररूपित धर्म सुन कोई केवली ज्ञान पावे तो उन्हें सोच्चा केवली कहते हैं और इन दस के

पास केवली प्ररूपित धर्म सुन बिना केवल ज्ञान प्राप्त करें उन्हें असोच्चा केवली कहते है। इस हिसाव से केवली प्ररूपित धर्म के कहनेवाले ये 'दस' समझना चाहिये। तो क्या केवली "पन्नतं धम्मं" य सिद्धांत से अलग हैं? इतनी सूत्र साक्ष में नर, मुनि, सुर, ऋषि सव सूत्र अर्थ पढ़े उन्हें कुछ नहीं कहा। फिर कोई निशीथ की साक्ष दे कहते हैं कि:-

"भिक्खु अएणा उत्थिएण वा गारत्थिएण वा वायइ वायंतं वा साइज्जइ"

उन्हें कहना चाहिये कि इस पाठ में समुचय वांचणी निषेधी है। सूत्र पढ़ना ही नहीं निषेधा और अन्य तीर्थी के गृहस्थ और अन्य तीर्थी निषेधे है। श्रमणो पासक नहीं निषेधे। उपासक में भगवंत को वंदना करना जाते समय आनंद को गाहावई कहा और व्रत लेकर घर को पीछे लौटते "आणंदे समणोवासए" कहा। वैसे ही निशीथ में श्रमणोपासक श्रावक को पढ़ाना नही निषेधा तथा समवायांग में चौतीस अतिशय में कहा "भगवं चणं अद्धमागही भासाए धम्मं परिकहेइ" वहां मनुष्य, देवता ऋषि को अलग २ कहने की नहीं कहा। ऐसी अनेक दलीलें हैं।
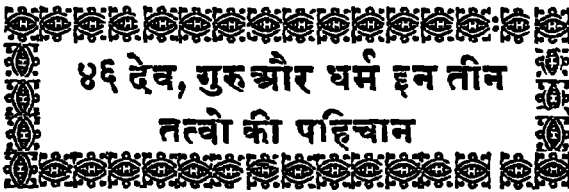
४६ देव, गुरु और धर्म इन तीन तत्वो की पहिचान

चौपाई

परम पुरुष परमेश्वर देव । तेह तणी नित करजे सेव।
भव दुःख भंजन श्री अरिहंत । राग द्वेष का कीना अंत ॥
चौत्रीस अतिशय शोभित काय । श्री भोवन जगनायक जिनराय
पांत्रीस वाणीवचन रसाल । शिव सुख कारण दीन दयाल ॥
सुर नर किन्नर वंदित पांय । जय जगदीश्वर त्रिभोवन राय ।
सिद्ध पुरुष अविचल सुख धणी। सेवकरो भवियण जिनतणी ॥
अष्ट करम दल कींधा चूर । चिदानंद सुख लिये भरपूर ।
अनंत ज्ञान दर्शन आधार । इंद्री देह रहित निराकार ॥
तेहने जन्म जरा नहीं रोग । नहीं तस दारा नहीं तस भोग ।
नहीं तस मोह नहीं तसमान। नहीं तस माया नहीं अज्ञान॥
नहीं तस वैरी नहीं तस मित्र। ज्ञान सरूप जगन्नाथ पवित्र।
ते प्रभु नहीं सरजे संहरे । राग द्वेप चित नवि धरे॥
ते प्रभु नवि पावें अवतार । आदि अंत नहीं तेनो पार ।
ते प्रभु लीला चित नवि धरे। ते प्रभु हांस क्रीड़ा नवी करे॥
ते प्रभु नवि नाचे नवि गाय। ते प्रभु भोजन कांइ न खाय।
ते प्रभु पुष्प पूजा सुं करे । ते प्रभु चक्र गदा नवि धरे ॥

ते प्रभु त्रिशूल धरे नहिं पाण । सांचा जगदीश्वर ते जाण ।
वेद पुराण सिद्धांत विचार। एवा जगदीश्वर नहीं संसार ॥
ए जगदीश्वर माने जेह । निराबाध सुख पामे तेह ।
एह तजी बीजो कौण ध्याय। अमरत छांडी विष कौण खाय॥
रतन चिंतामणी नाखी करी। कौण ग्रहे कर कांच ठीकरी ।
पोली मुठी दीसे असार । पत्थर बांदे नहीं भव पार ॥
अथवा मोह ग्रंथील नवि लहे । देखी पत्थर सोवन कहे ।
नेत्र रोग पीड़ित होय जेह । पीत स्वेत नर भाखे तेह ॥
सत गुरु मले जो पुण्य संयोग। तो मिथ्या मत जावे रोग।
सत गुरु तारे ने पोते तरे । उपकार नावतणी परे करे ॥
क्रोध मान माया परि हरे ॥ त्रस थावर नी रत्ता करे ।
सत्य वचन मुख थी आचरे ॥ कूड़ कपट चित्त नवि धरे ॥
अणदीधुं ते गुरु नवि ग्रहे । दया धरम भवियण ने कहे ।
नारी तणे संगत परी हरे ॥ ब्रह्मचर्य चोखुं आदरे॥
नव विधि वाड विशुद्ध व्रत धरे । ए गुरु तारे ने पोते तरे।
काम भोग लालच परि हरे । सीलांग रथ गुण ते आदरे ॥
ब्रह्मचर्य पारवे जो गुरु होय । तो गुरु थाए जग सहु कोय।
गृहस्थ गुरु ग्रही ने सुं करे । लोह संग पत्थर केम तरे ॥
तारे श्री गुरु महा व्रत धार । पंडित जन एम करे विचार।
कनक रजत धन ममता तजे । लोभ छांडी ने सिद्ध ने भजे ॥
एणी परे पंच महा व्रत धरे । चार कषाय मुनिवर परिहरे।

शास्त्र तणो नित दिये उपदेश। सतगुरु टाले सकल कलेश ॥
राग द्वेष मोह टाली करी। एवा मुनिवर लहे शिवपुर वरी।
तरवा जो वंच्छो संसार। तो आराधो गुरु व्रत धार ॥
दया धर्म उपदेशे सार। जीव सहुने करे उपकार।
दया धर्म जग मोटो सही। जेथी दुःख कोई पावे नहीं ॥
कै जन दया दया मुख भणे। धर्म कार्य त्रस थावर हणे।
बोले सांचु पण नवि करे। कहो ते भवसागर केम तरे ॥
दया बिना जो थाये धरम। तो हिंसाए नवि लागे करम।
जो तपस्या घर बैठां थाय। तो घर छोड़ी वन कोण जाय ॥
शास्त्र तणो ते अनुनय सही। दया बिना धर्म थाये नहीं।
ज्यां हिंसा तहां पातक होय। पंडित शास्त्र विचारो जोय ॥
पृथ्वी पानी अग्नी वाय। वनस्पति छट्ठी त्रस काय।
बे, त्री, चोरेंद्री पचेंद्री सार। त्रस, थावर, आगम, विचार ॥
जैन, शिव पण एह जीव कहे। एहने राखे शिव सुख लहे।
एह वचन नावि माने जेह। भव बंधन नवि छुटे तेह ॥
हरि हर ब्रह्मा बुध जिनराय। तेह तणा जो सेवे पायँ।
ते पण धर्म करे तो तिरे। पाप करे तो भव मां फरे ॥
देव निरंजन गुरु व्रत धार। धरम दयामय शिव सुखकार।
ए त्रण तत्व समकित् कहेवाये। एह आराध्ये शिव सुख थाय ॥
भवीयण-पानी मनुष्य अवतार। ए समकित आराधो सार।
ऋपिलाल तणे पसाय। राम मुनि एम कहे सीझाय ॥

❀ प्रतिमा पूजन ❀

मनहर छंद

लकड़ा की असी लेई, सूरो सेना माहीं जाई,
कहो एतो शूरो सेना, केटली संहार शे।
चीतारे चितरी सरस, पुतलि ओ सदन मां,
कहो एते सुंदरी, अर्थ कशा सार शे॥
कंदोईनी कारीगरी, खांड नी बनावी गाडी,
कहो एते बोझ पंथ, केटलो विहार शे।
तेम करी पाषाण नी, प्रतिमा ने पूजे जन,
अमरचंद कहे एतो, केम करी तार शे॥
मांदा ने मोकल्यो वली, सेना मांही सज करी,
कहो एतो मांदो, अरी मारशे के मरशे॥
सलि तणु नाव करी, तरवा ने बैठो नर,
कहो एते नाव, एने तारशे के तर शे॥
चोर तणो संग करी, धर्म हरवाने चल्यो,
कहो एने धर्म ए हरावशे के हरशे॥
तेम करी पाषाण नी, प्रतिमा ने पूजे जन,
अमरचंद कहे एतो, केम करी तारशे॥

❀ इन्द्र विजय छंद ❀

सिर जटा धरवे सुख थायज तो बड़ वृक्ष जटाज धरे छे।
पानी झुंरयाथी मले कदीज मोक्षज, तो खर कामज एज करे छे।

सिर मुँडया थकी शांति मिले कदी, गाडरडा सिर मुँडी फरेछे।
डाढ़ी धरे दुख दूर करे कदी, सही डाढ़ी बकराज मेरे छे ॥१॥
ठंडक ताप खमे थी मटे अघ तो, तरु थंडक ताप सहे छे।
अम्बुज स्नान थकी अघी जायज तो मछ अंबुज मांहीज रहे छे।
जागरण निशि कर्या थी मिले शिव तो घुड उँघज त्याग करे छे।
आसना सर उंधे थी मले शीव तो वड वांदरी एम करे छे॥ २ ॥
तिलक ताणे त्रिवीधी टले कदी तोज मुनी व्रत केम धरे छे।
आग मांही बलवा थी दहे अघ, तो तन त्याग पतंग करे छे।
सारूं थसे जन जे निज कामज जे सत निमित्त चाह चहे छे।
अमरचंद करे नकी एकज दया थकी अघ दूर रहे छे॥ ३ ॥
बहु बन्या एक अवनीमां तेने पंथ प्रगटा नवीन हजारो।
कैक तो स्वादार्थे धर्म ग्रहे अने सिरा पुरी थी कहे पंथ सारो।
ताल कुटी दिन रात गुमावे खावा पीवा थकी लागेज प्यारो।
सांचु कहे सुर इन्दु सुणो जन म्हेर विना उगवानो न आरो॥४॥

नीति वचन

(१) मूंजी का दान देना मुश्किल।
(२) कायर को वृत प्रत्याख्यान पालना मुश्किल।
(३) बड़ों को क्षमा करना मुश्किल।
(४) यौवनावस्था में शीयल (शील) पालना मुश्किल।
(५) आठ कर्म में मोहनीय कर्म जीतना मुश्किल।
(६) पाच इन्द्री में जिह्वा इन्द्री जीतना मुश्किल।

(७) चार कषाय में लोभ कषाय जीतना मुश्किल।
(८) तीन योग में मन योग जीतना मुश्किल।
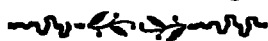
(१) श्री वीतराग की वानी सुनने से पाप हटे।
(२) क्षमा किये क्लेश मिटे।
(३) धर्म का विचार, उद्यम किये दीनता कटे।
(४) जागृत रहे तो चोर हटे।

(१) समकित का पात्र जीव।
(२) जीव का पात्र शरीर।
(३) शरीर का पात्र लोक।
(४) लोक का पात्र अलोक।
(५) अलोक का पात्र केवल ज्ञान।

(१) धर्म का ज्ञाता होवे तो दया पाले।
(२) ज्ञान का बल हो तो थोड़ा बोले।
(३) बुद्धिमान हो तो सभा जीते।
(४) साधु की संगति हो तो संतोष पावे।
(५) वैराग्य होय तो इन्द्रिय दमे।
(६) सूत्र सिद्धांत सुने हो तो धैर्यता आवे।
(७) प्राणी जीव की हिंसा न करे तो निर्भय बने।
(८) मोह मत्सर त्यागे तो देवकी पदवी मिले।
(९) चार तीर्थ को शाता उपजावे तो शाता मिले।

(१०) न्याय मार्ग से चले तो शोभा पावे।
(११) दया, शीयल पाले तो मोक्ष के अनंत सुख प्राप्त करे।
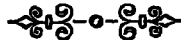
(१) क्लेश घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(२) हिंसा घटाने से घटे और वढ़ाने से बढ़े।
(३) आहार घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(४) मैथुन घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(५) खाज घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(६) शोक घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(७) चिन्ता घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(८) भय घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(९) निद्रा घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।
(१०) तृष्णा घटाने से घटे और वढ़ाने से वढ़े।

(१) दया पाले वह दानेश्वरी।
(२) धर्म विचार जाने वह ज्ञानी।
(३) पाप से डरे वह पंडित।
(४) कुल में दाग न लगावे वह चतुर।
(५) पांच इन्द्रिय का दमन करे वह शूरा।
(६) सत्य वचन बोलने वाला सिंह समान है।
(७) धर्म वढ़ावे वह धनेश्वरी।
(८) निर्धन से स्नेह रक्खे वह अजर अमर।

❀ मिथ्यात्व का वर्णन ❀

॥ मनहर छंद ॥

मिथ्याति कुमति कोस, हिंसा तणी अति होस ।
अदत्त मैथुन मृषा, दोष भरपूर जी ॥
मद मगरूर अंध, करे पाप का प्रबंध ।
झूंठ वचाही को बंध, करवे मां सूरजी ॥
व्रत पचखाण हीण, विषय प्रमाद लीन ।
नाचत कूदत कर्म, करत करूरजी ॥
हिंसा में धरम चाल, करत अधम ख्याल ।
खोड़ीदास कहत, मिथ्याति ऐसा मूरज़ी ॥ १ ॥
झुक्यो राग द्वेष मूढ़, गहत धरम रूढ़ ।
पाप में अरूढ अहो, निशि जीव घातकी ॥
धूप दीप पुष्प फल जल में किलोल भये ।
गावत धवल ते मिथ्याति महा पातकी ॥
पूजे पत्थर का देव, करे कुगुरु की सेव ।
हिंसा में धरम गम, नाहीं दिन रात की ॥
मोह में छकेल छेल, करत मंड़प खेल ।
खोडीदास मेल मेल, सोवत मिथ्यातकी ॥ २ ॥

इति प्रथम भाग समाप्त

* समकित सार भाग २ *

"श्री जैन धर्मो जयतु"

मंगला चरण

❀ शार्दूल विक्रीड़ित वृतम् ❀

श्री आदी जिन गुण निधि थिरता तीर्थादि धुरे कृता।
इत्यादि वृद्धमान नाण विमला, शांती धर्मो वाग्रता।
दाता, शांत सुधाज सूमति कला श्रीरत्न वंदू मुदा।
भक्ति भाव जनो सदा चित रमे, विघ्नो न आवे कदा।१।

❀ मनःहर छंदः ❀

जय जय जगपति समरूं हूं अंतर थी, अकल अगम गति न थी जन[1] मरना। सकल करम वार परब्रह्म निराकार चिदानंद पारावार भव भय हरना। लोका लोक चरी सब अजाण न रहे कब द्री गुण की[2] एही ढब लय गत चरना[3] ऐसा है अगम नाथ त्रिहु तन[4] विरलात जीह वासे तुज ख्यात करीलीयुं चरना ॥ २ ॥

❀ दुर्मिला छंदः ❀

चरणांबुज[5] आप तणे निज सेवक तणी सदा शिशु काज सरे। तुम नाम तणी गुण कीर्ति तणी शुद्ध बोल

[१] जन्म [२] ज्ञान दर्शन [३] गति करना नष्ट होगया (४) तीन शरीर (५) कमल स्वरुपी चरण

तणी चित आश धरे। समकीत तणो गुण सार चही[1] भुज भाग धुंधे उड़ जात हरे। धनरे! धनरे! तिहुं लोक धणी तुम ज्ञान सुणी हट वादि डरे ॥ ३ ॥ जिन कार[2] कही खट काय हणे न गणे पर पीर भवो रटवा। जिव घात करी प्रतिमा कुं धरी परपंच वरी धनने झटवा। गुण हिन समो[3] भरपूर तमो[4] नहीं खंति[5] स्वभाव तपा कटवा। त्रस थावर देख न मेर धरे मुसकों[6] पर ज्यों मिनकी[7] लटवा[8] ॥ ४ ॥

❀ मत्तगयंद छंदः ❀

श्वान परे मुख सुं प्रतिमा मति ग्रन्थ भासि २ मुग्ध फसावे। देव कुगुरु की भक्ति तणां फल मोक्ष रु लक्ष्मी भोग वसावे। संव्रति[9] नाम लजावत पारधि दुरती पूजन पाप रचावे। तस सभावि भया मृग सेवक दौरही दौरत मांहि धसावे ॥ ५ ॥

❀ मनः हर छंद ❀

समकीत सल्योद्धार रच्यो ए प्रपंचगार हिंसा तणी पुष्टी लार परीक्षाव्यो आपकूं। ठाम २ निन्दा युक्त शब्द धरी बुध-लुप्त[10] मानत हे अहं मुक्त तेतो महा पात कूं। ऐसो नाहीं ज्ञान भेद जेथी लहे सब खेद आणा दया तणो छेद कियो मिथ्या दात कूं। विज्ञ सुनो मेरी लया चाहो[11] जो

[१] लेकर (२) आज्ञा (३) समूह (४) तमो गुण (५) क्षमा (६) चूहों (७) बिल्ली (८) कपट (९) समभाव (१०) अलोप (११) वाणी

आणाने दया परिहरो सल्योद्धार पंथ महा घातकूं ॥ ६ ॥

दया धर्म स्थापनार्थं

वीत्या जेने राग द्वेष मोह ने अंतरे लेश केवल नाण ने दर्स लेइ वदे ज्ञान कूं। स्याद वाद निरापत्त संग्रही आतम लत्त खटकाय जंत रत्त दीए अभे दान कूं। आप दया करी पर दया से उमंग धरी निर वद्य वेद चरीं सुख सब जान कूं। एसा ए अगमनाथ आणा कुही दया साथ, रुदे धरो एही बात हणो मन माण कूं ॥ ७ ॥

दया धर्मियों को सूचना

मनः हर छंद

षट्काय जंत को डगारनार भावे बंधु वांचि समकीत सार दया करो सबको। दया सुख सिंधु सही भव में भमत नहीं शिवगत गेह वही फेरी मिटे कबकी। विगुत्यों अनंत काल हिंसा मिथ्या तणी ढाल खोलो देव दृग अब जागो जागो भव की दया ही को धर्म द्वार खोलो जिन ज्ञान लार गहो समकित सार तजो चिंता जग की ॥ ८ ॥

मंगल भावना

ग्रन्थराम्भ के पूर्व जगत्-माता, भक्तों के स्मरणाधार श्री जिनेश्वर की स्तुति करता हूं कि जिनके भजनानंद द्वारा भव दावाग्नि की विकट ज्वाला से ज्वलित सब भव्य जीवों के

(१) वाणी (२) प्राणी (३) सागर (४) प्राप्त करे [५] व्यतीत हुआ (६) नेत्र

अन्तः करणों को शांति मिलती है, तथा जिन जिनेश्वर देव के ध्यान स्मरण रूप पुष्कल संव्रत मेघ की धाराएं भव्य प्राणियों के अन्तः करणों को शीतलता प्रदान करती हैं। वे जिनेश्वर देव, अकल अर्थात् किसी की समझ में न आने वाले, अगम्य अर्थात् ज्ञान बिना सुगमता से नही पहचाने जाने वाले, अविनाशी अर्थात् जिनके जन्म मरण नष्ट हो गये हैं। सब कर्म रूपी मेघ नष्ट हो जाने से पर ब्रह्म निरावरण अर्थात् जिन्हें आवरण रहित ज्ञान रूपी सूर्य प्रगट हो रहा है जिस ज्ञान रूपी प्रकाश में वे लोकालोक के भाव अवलोकन कर परम पद को प्राप्त हुए हैं,जिन्हें फिर इस संसार में अवतार लेना शेष नहीं रहा है,ऐसे विश्ववंद्य परमात्मा के समस्त गुणों की स्तुति कर यह समकित-सार भाग २ दयाधर्म वृद्धि और हिंसा बुद्धि से मुक्त होने एवम् मेरे स्वधर्मी विवेकी वीर नरों की शुद्ध श्रद्धा की पुष्टि के लिए धर्म बन्धुओं की पवित्र सेवा में अर्पण करता हूं। आशा है, सब जीव-दया प्रति पालक जैन बन्धु इस में लिखे हुए भावों पर विचार कर दया धर्म की वृद्धि करने में किञ्चित् त्रुटि न करेंगे। तथा तमोगुणादि से सर्व कंचुकी वत् शीघ्र ही दूर हो जायंगे। यही ज्ञान धर्मियों का मुख्य विवेक है।

❀ आत्म बोध परीक्षा ❀

ए धर्माभि लाषी वीर जनो! पहले अपने अन्तः करण सहित प्रवृत्ति सम्बन्ध त्याग कर निवृति के साथ स्वस्थ चित्त हो निर्वद्य-वचन गुरु मुख से सुन कर विचार करो-अनुसन्धान लगाओ कि यह आत्मा इस जगत् के फंदे में क्यों फंसता है! दिव्य ज्ञान रूपी नेत्रों को खोल कर देखोगे तो तुरंत ज्ञात हो

जायगा कि अनादि काल से आज तक राग द्वेषादि ममता रूपी फांसी के बंधन में फंस कर यह आत्मा महा विटम्बना में रहा है। अपना रमणीक तत्व स्वरूप भूल कर पौद्गलिक भाव में लीन हो, चौदह राज लोक में सूक्ष्म और बादर बन चारों गति के स्थानों में नये २ भेष से जन्म मरण कर स्पर्श कर चुका है, और वहां अनंत दुःख भोगे हैं, जिसका मूल कारण यही प्रतीत होता है, कि वीतराग भाषित दया-धर्म तथा समकित ज्ञान सहित कर्म के विरुद्ध, अज्ञान बुद्धि से मिथ्यात्व धर्म पाल कर संसार में परि भ्रमण किया है। जब तक ज्ञान दर्शनादि उपयोग में स्थैर्य भाव नहीं आता, तब तक चतुर्गति के बन्धन से मुक्त हो जाना अत्यन्त कठिन है। इस लिए धर्म प्रेमियों! इस अन्यायी संसार में मनुष्य जन्म पाकर अपनी अमूल्य आत्मा की सार्थकता के लिए प्रथम विनयादि गुणों का अनुसरण कर ज्ञान सागर शुद्ध धर्माचार्य के विनयादि गुणों से संतुष्ट कर, उनके श्री मुख से वीतराग भाषित निर्वंघ ज्ञान श्रवण कर यथा शक्ति ज्ञानभ्यास करो। फिर उसी ज्ञान शक्ति से सत्यासत्य पदार्थ का निश्चय करो। इस प्रकार प्रति दिन ज्ञान वृद्धि के साथ २ समकित की पुष्टी होगी और स्वपर के पहचानने की शक्ति बढेगी। जिससे अनादि काल से स्व स्वभाव का त्याग होगा और पर भव में अहंपद स्थापित है, इसका निराकरण हो जायगा। किसी कवि ने क्या ही ठीक कहा है।

दोहा

तज विभाव हूजे मगन, शुद्धा तम पद मांहि।
एक मोच मारग यही, अवर दूसरो नाहिं ॥ १ ॥

भावार्थ—विभाव अर्थात् जगत् की ज्वाला में पौद्गलिक धर्म वस्तुओं को नाशवान् समझ कर त्याग दो। और तुम्हारी शुद्धात्मा रत्न-त्रय अर्थात् ज्ञान-दर्शन में सदा मग्न रहो। सारांश यह है कि इन तीनों रत्नों के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है।

दोहा

जे पूर्व कृत्योदय, रुचि शुं भुंजे नांहि।
मगन रहे आठों पहर, यहा शुद्धातम पद मांहि।

भावार्थः सुज्ञ वर! जिस समय शांत दशा प्राप्त हो कर अनुभव गुण के आधार से आत्मिक उपयोग में स्थित होने का समय प्राप्त हो उस समय जो २ शुभाशुभ कर्मोदय हो उन्हें निर्मोह ममता से भोग ले। पौद्गलिक भाव में रुचि उत्पन्न न हो और आठों पहर शुद्ध आत्म उपयोग में ही बीते तो यही धर्म पाने का सुबूत है। सारांश यह कि आत्मा अनन्त ज्ञान का भंडार है। सदा परमानंद स्वरूपी आप ही कर्ता और आप ही भोक्ता है। अपनी ही शक्ति से मोक्ष पद पाने की सामर्थ्य बिना किसी अन्य पुरुष में मोक्ष प्राप्त कराने की शक्ति है ही नहीं। उदाहरणार्थ निम्नाङ्कित दोहा पढ़िये।

दोहा

ज्यूं सब रतनादिक सदन, महि बिन और न कोय।
त्यूं शिव सुख रतने भरी, तुझ आत्मा मन सोय॥ १॥

भावार्थ—सम्पूर्ण प्रकार के रत्न उत्पन्न होने का स्थान पृथ्वी के अतिरिक्त दूसरा नहीं है, इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त होने वाला रत्न तेरी ही आत्मा में स्थित है। हे चतुर! उन रत्नों का भोक्ता तेरे सिवाय दूसरा दृष्टि गोचर नहीं होता। और भी कहा है।

—॥ दोहा ॥—

ज्यों अंकुर से महि भरी, जल बिन नाहिं प्रगटाय।
त्यों तुज गुण अंकुर सवै, प्रवचन बिन सब छाय ॥१॥

भावार्थ-जैसे पृथ्वी में सभी प्रकार के अंकुर सर्वदा रहते हैं, किन्तु वे ग्रीष्म ऋतु की प्रवल उष्णता से संतप्त हो बाहर से सुखाकर जमीन में लुप्त हो जाते हैं त्योंही हे शुद्धात्मन्? मोक्ष सुख के अंकुर शुद्ध ज्ञानादिक सब तेरी इस अमूल्य आत्मा में ही भरे हुए हैं। वे इस जुलमी जगत्-ज्वाला में भयानक पाप कर्म रूपी ताप से अति संताप पाकर छिपे हुए हैं। उन पर प्रवचन-पञ्चम ज्ञानी की ज्ञान वर्षा की झड़ी लगने से वे आपही प्रगट होंगे। जिस प्रकार आषाढ़ मास में वर्षा ऋतु की झड़ी लगने से तृणांकुर आप ही प्रगट होते हैं। इसी प्रकार सुनिश्चित है कि आत्म गुण भी प्रगट होंगे।

॥ दोहा ॥

ज्यों सारंग लखे नहीं, भरी सुगंध निज देह।
त्यों तूं निज गुण नहिं लखे, शुक्ल ध्यान बिन देह।२।

भावार्थः-जिस प्रकार सारंग (मृग) अज्ञानता के कारण स्वदेहोत्पन्न नाभिस्थ कस्तूरी की सुगंध आने के कारण इधर उधर ढूंढता है, कि यह सुगंध कहां से आ रही है। इसी प्रकार हे जड़ मति आश्रव धारियो? मोक्ष रूपी सुगंध तो आत्मा में ही भरी हुई है। परन्तु शुक्ल (शुद्ध) ज्ञान से उज्ज्वल ध्यान प्राप्त किये बिना वह वस्तु दृष्टि गोचर नहीं होगी। केवल अपनी मदान्धता के कारण × षट् काय-मर्दन धर्म चला कर

× पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इनको नाश करने में धर्म मानना।

पहाड़ पहाड़ घूमते और वहां नाना प्रकार के आरम्भादि पाप कृत्य करा कर यह मानते हो कि "अहंधर्मात्मास्मि" कितनी मूर्खता है। अहह ! कुछ भी नहीं सोचते कि यहां से गमन के पश्चात् तुम्हारी क्या दशा होगी ! किन्तु इसकी चिन्ता तो ज्ञानियों को हो रही है,

दोहा

माखन घृत वत् जानिये, विमल अग्नि संयोग।
त्यों द्वादश विधि तापतां, होय आत्म अमोग। १।

भावार्थः-जैसे मक्खन घृत ही है, किन्तु अग्नि से तप्त हुए बिना निर्मल घृत नहीं होता, इसी प्रकार हे भोले मनुष्यों ! आत्मा तो मक्खन के पिंड समान है, जब वह बारह तरह के द्रव्य भाव तप रूप अग्नि के तप पर रखा जाता है, तब कर्म मैल जलकर शुद्ध आत्मा रूपी घृत रह जाता है। परन्तु नाना प्रकार की मिथ्या बुद्धि से अनन्त प्राणियों को दुःख देकर आत्म कल्याण का लाभ लेने की इच्छा-रखना खून से भीगा वस्त्र खून से साफ करने के समान है।

ए ज्ञानार्थी बन्धुओ ! ओघ संज्ञा में लीन, संज्ञाहीन विकलेन्द्रिय समान, मिथ्यात्व बुद्धि से पुष्ट ऐसे मनुष्यों से केवल इतना ही कहना है, कि निष्पक्ष और निर्मल सूत्र सिद्धांत पढ़ कर भी भव-लत्ता की वृद्धि करने के लिए षट् काय का मर्दन कर अज्ञान स्वभाव से मोक्ष लेने की इच्छा रखते हो, यह कहां का न्याय है ! किञ्चित् विचार तो करो कि यह उत्तम नरभव आर्य कुल-क्षेत्र पाकर व्यर्थ खो दोगे तो फिर यह कब प्राप्त होगा ! इस आर्य मनुष्य जन्म में आकर धर्म साधन करने की तो सम्यक्त्वी देव और देवेन्द्र भी इच्छा करते हैं। किन्तु

आपके लिए तो यह सर्वोत्कृष्ट मनुष्य जन्म नहीं के बराबर है। क्योंकि इस अमूल्य मनुष्य-भव में आकर कुलाचार की लज्जा से और जाति पांति की शरम से सच्चे दया धर्म को मिथ्या और मिथ्या हिंसा धर्म को सच्चा मानना यह आश्चर्य की बात नहीं तो क्या है? कितने ही महानुभाव तो हट वाद से हिंसा धर्म को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे सज्जन रत्न तुल्य मनुष्य जन्म को पत्थर के भाव खोदेते हैं। यह केवल निरी मूर्खता ही समझी जा सकती है। यह अवश्य है कि जब परभव में यहां के किये हुए आरम्भ स्थापनादि कृत्यों के भोगने का समय आवेगा तब जाति, पांति, भाई, पिता, या पत्थरादि मूर्तियां कोई भी सहायता नहीं कर सकेगी। परन्तु अज्ञानता के कारण जीवन की वाच्छा रखने वाले अनाथ प्राणियों के प्राणों को संतप्तकर भारी कर्मों का जो संग्रह कर रखा है। उसके बदले में अधोगति की राजधानी के राजा तो पापी प्राणियों की खातिर-तवज्जह करने में कभी कभी नहीं करेंगे। यह विश्वास पूर्वक समझ लेना चाहिये। सारांश यह है कि जैन शास्त्रों में सर्वज्ञ पुरुषों ने भव्य प्राणियों के लिए जब धर्मोपदेश फरमाया है, तब शिष्य ने प्रश्न किया कि स्वामिन? अज्ञानी पुरुष कितने कारणों से नारकीय आयुष्य बांधते हैं? इस विषय में श्रीमद् ठाणांग सूत्र के चतुर्थ ठाणे का मूल पाठ यह है।

चउहिं ठाणेहिं जीवा निरयाउयं पकरेंति महा आरंभियाए महा परिग्गहियाए कूणी महारेणं पंचादियं वहेणं।

भावार्थ-जीव चार प्रकार से नारकीय आयुष्य बांधता है। (१) अन्याय-(षट् कायादि का आरम्भ करने से) (२)

अत्यंत परिग्रह रखनेसे (३) मांस खाने से (४) पंचेन्द्रिय प्राणियों की। सा करने से। ये चार कारण नरकायु बंधाते हैं। ऐसा ज्ञान होते हुए भी अज्ञानी मनुष्यों का विचार उपरोक्त कारणा से पीछा नहीं हटता। किन्तु ऐसा समझ में आता है कि यतः " कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि " सारांश यह है कि बंधे हुए कर्म बिना भुगते नहीं छूटते। इसलिए आश्रव मति मित्रों से इतना ही निवेदन है कि जाति पांति और मत का पक्षपात न रख कर निष्पक्ष विचार करो कि उन ग्रन्थों में कार्मिक मिथ्या बुद्धि से हिंसा पुष्ट की गई है। और कल्पित देवों की सेवा भक्ति या पूजा श्लाघा आरंभ कर सावद्य षट् काय मर्दन करने में महान् लाभ का कारण दिखा कर तुम्हें अज्ञान की ढाल पर चढ़ा दिये हैं। इसलिए हे पामर प्राणियों! उन पीत वस्त्र धारियों के वचनों में न फस कर उनकी लज्जाका किनारा कर अपनी अमूल्य आत्मा की दया लाकर निम्नाङ्कित कारणों या पदार्थों पर खूब ध्यान देकर बुरे का त्याग करो और सत्य को ग्रहण करो। सत्य को सत्य और झूठ को झूठ कहने में कभी संकुचित न होओ। कारण कि मिथ्या कहने से कहीं तुम फिर दुःख सागर में न डूब जाओ।

संसार में धर्म का अवलोकन करने के लिए मुख्य तीन तत्व हैं। उन्हें पहचान कर यथा योग्य ग्रहण करो। इन तत्वों के नाम हेय ज्ञेय और उपादेय हैं। इनमें से संसार में जितनी नाशवान् और असत्य वस्तुएं हैं, उन्हें त्याग देने का नाम 'हेय' है। इस विश्व में सभी पदार्थ जानने योग्य हैं, इसलिए उन्हें जानने का नाम 'ज्ञेय' है। और सत्य पदार्थ का ग्रहण इसी को उपादेय कहा है। इन तीनों तत्वों के अतिरिक्त · संसार

मे चौथा तत्व है ही नहीं। इसलिए अधो लिखित पहचान इन तीन तत्वों के साथ मिलाकर यथा स्थित करना यही विद्वता का लक्षण है।

तीन तत्वों के साथ मिले हुए पदार्थ

१ शुद्ध ज्ञान २ सुधर्म ३ सुदेव ४ सुगुरु ५ सम्यक्त्व ६ सुमार्ग ७ सुमति ८ न्याय ९ तत्व।

१ अशुद्ध ज्ञान २ कुधर्म ३ कुदेव ४ कुगुरु ५ मिथ्यात्व ६ कुकर्म ७ कुमति ८ अन्याय ९ अतत्व।

१ पुण्य २ पुण्यानुपाप ३ पुण्यानुपुण्य ४ द्रव्य ५ ध्रुव ६ क्षय ७ लोक ८ भव्य ९ मोक्ष।

१ पाप २ पापानुपुण्य ३ पापानुपाप ४ अद्रव्य ५ अध्रुव ६ अक्षय ७ अलोक ८ अभवी ९ नर्क।

१ सज्जन २ मित्र ३ त्रस ४ भूचर ५ स्थलचर ६ कर्मी ७ धर्मी ८ जीव ९ आश्रव १० बंध ११ निर्जरा।

१ दुर्जन २ शत्रु ३ स्थावर ४ खेचर ५ जलचर ६ अकर्मी ७ अधर्मी ८ अजीव ९ संवर १० मोक्ष ११ अनिर्जरा

१ उदय २ अल्प संसारी ३ कवि ४ सुकाल ५ कर्म भूमि ६ उर्द्धलोक ७ सकामी ८ रागी।

१ उदीरणा २ अनन्त संसारी ३ कुकवि ४ दुकाल

५ अकर्म भूमि ६ अधोलोक ७ अकामी ८ वैरागी।

१ सरागी २ भोगी ३ साधु ४ धर्मज्ञान ५ नीतिज्ञान ६ अमृतज्ञान ७ तारकज्ञान।

१ निरागी २ अयोगी ३ गृहस्थ ४ अधर्मज्ञान ५ अनीति ज्ञान ६ विष ज्ञान ७ वालक ज्ञान।

१ तरण तारण ज्ञान २ डूबने वाला और डुबाने वाला ज्ञान।

इत्यादि अनेक पदार्थ संसार में हैं। हर एक एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। इस लिये ज्ञान और चतुरता का यही कर्तव्य है। जौहरी विना परीक्षा किये हीरे को नहीं खरीदता। तोता फल खाता है, और उसमें से सड़े हुए भाग को फोरन ही फेक देता है। इसी प्रकार सुज्ञ पुरुषों को चाहिये कि यह संसार दुःख सागर है, इसके दुःखों से छुड़ाने वाला और कर्म बंध से मुक्त कराने वाला एक दया धर्म ही है। उसकी परीक्षा कर उसे ग्रहण करें। उपरोक्त छोटी २ सूचनाओं को वुरी न समझें। यदि विस्तार पूर्वक विवेचन किया जाय तो एक २ सूचना के अनेक पृष्ठ भर जायं। किन्तु ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से विवेकी और सुज्ञ पुरुषों को थोड़े में ही बहुत भावार्थ समझा दिया है। उन पदार्थों को जब उपयोग में लाओगे तो स्वयं ज्ञात हो जायगा। क्योंकि प्राचीन काल से जैन धर्म आदि से लेकर अन्त तक दया से ही भरा हुआ है। जैन शास्त्रों में भी महज्जनों ने 'दया' ही धर्म फरमाया है। इस को तो भव्य प्राणि को सुनिश्चित ही समझना चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु जैन धर्म के प्रति पक्षियों ने अर्थात् अन्य धर्माव-

लब्धियों ने भी शास्त्रों में दया धर्म सिद्ध कर दिखाया है। जिस की साक्षी के लिए महाभारत का निम्नाङ्कित श्लोक ही पर्याप्त है।

"यो दद्यात् कांचनं मेरुं; कृत्स्नां चैव वसुंधराम् ।
एकस्य जिवितं दद्यात्; न च तुल्यं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भावार्थः- कोई मनुष्य सुमेरु पर्वत और सम्पूर्ण पृथ्वी को दान दे दे और कोई दूसरा मनुष्य एक प्राणी को दया करके बचाले तो हे युधिष्ठिर ! वह दान इस अभय दान की समानता में कुछ नहीं है।

यह महाभारत का श्लोक है। इस श्लोक में सब प्राण भूत जीव, सत्व के बिना, पहिचान ही जीव दया स्थापित की गई है। तो हे विवेक शून्यों ! क्या जैन धर्म में दया की वृद्धि कर ने वाले जैन शास्त्रों की कमी है? जो तुम नवीन कल्पित कार्मिक ग्रन्थों के आधार से षट् काय मर्दन करके जन्मान्तर की वृद्धि करने का लाभ ले रहे हो ? क्या अज्ञानता की वृद्धि के कारण मूल शास्त्रों पर श्रद्धा नहीं है ? अरे ! तनिक विचार तो करो कि जिस शास्त्र में दया को धर्म का मूल और निर्दय स्वभाव को अधर्म का मूल माना है। तथा विद्वानों ने भी यह प्रमाण ठीक समझा है। तब फिर हे धर्मेच्छुकों ! ऐसी अमूल्य औषधि के मूल स्वरुप पर लक्ष्य लगाओ। इस दया सिद्धान्त के अनेक भेद हैं किन्तु पुस्तक बढ़ जाने के भय से संक्षिप्त में ही दिया जाता है। धर्म की मुख्य साधना दया के दो भेद हैं। (१) स्वदया (२) और पर दयाः-

स्वदया-अर्थात् अपना आत्मा अनन्त, अक्षय, अविनाशी और सुख का भण्डार है। जिस के आठ कर्म, रूप ताले लगे

है । उन तालों को खोल कर अनन्त आत्मिक शक्ति रूप लक्ष्मी का भोगी बनने के लिए सहज स्वभाव से पौद्गलिक से निर्मोही बनना ही स्वदया है ।

पर-दया-यह सांसारिक सुख का निदान है। अर्थात् व्यवहारिक सुख देने वाला है । परन्तु स्वदया प्रगट करने के लिये पर-दया मुख्य साधन है । जिसके प्रसाद से देव मनुष्य के अत्यन्त महत् सुख भोग कर अन्त में स्वदया का गुण प्राप्त कर मोक्ष पद को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु पर-दया में विशेषता यह है कि इस जगत् के जीवों के ५६३ भेद हैं । उनकी पहचान कर उन पर सदा रहम करना और उन्हें करुणा बुद्धि से बचाने का प्रयत्न करना इसी का नाम पर-दया है । ऐसी दया पालने से अनेक शारीरिक लाभ हैं, वे निम्न लिखित श्लोक से ज्ञात होंगे ।

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।
अहिंसायाः फलं सर्वं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥ १ ॥

भावार्थः-सब प्राणियों को जीवन दान देने से दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है । उत्कृष्ट रूप और स्वस्थता मिलती है। तथा लोक में प्रशंसा होती है । इन चार मुख्य लाभों के अतिरिक्त अन्य कई लाभ जीव-दया पालने से होते हैं । इस पर भी मित्रों ! क्या इच्छित वर देने वाला देव सब से श्रेष्ठ है ? सर्वथा नहीं-कदापि नहीं । इस लिये हे जन्तु द्रोही अज्ञानियों ! ज्ञान चक्षु खोल कर देखो तो सही विचारो तो सही । यदि तुमने ठीक विचार किया तो यह जीव दया तुम्हारे हृदय में स्थान कर जायगी और यही दया धर्म रुचि कर हो जायगा

धर्मोध्युवाच—हे विज्ञवर ! आत्मा के तारने के लिए धर्म का

मूल दया फरमाई,सो तो ठीक है, परन्तु दया कहते किसे हैं?

गुरूवाच-हे भद्र! अमूल्य दया का मूल ज्ञान है। जिस की सहायता से दया दृढी भूत हो सकती है। दया पालने के लिये ज्ञान का विवेचन दशवैकालिक के चौथे अध्याय की दशवीं गाथा में इस प्रकार है।

"पढमं नाणं तउ दया, एवं चिठई सव्व संजए।
अनाणी किं काही वा नाहिइ सेय पावगं ॥"

भावार्थः-शिष्य!प्रथम गुरु मुख से ज्ञानाभ्यास कर स्व पर की पहचान कर। पश्चात् स्व और पर दया ज्ञात होगी। इसी प्रकार वीतराग की आज्ञा का पालन कर सब दया धर्म पालनें वाले संयति स्थिरता भाव लाकर आनन्द में मग्न रहते हैं। परन्तु जिन्हें ज्ञान दशा नहीं है, वे अज्ञानी दया धर्म क्या है? कल्याण मार्ग किसे कहते हैं? इसे भी नहीं समझते। ज्ञान से ही दया पलती है, और यही सत्य है।

दया का मूल ज्ञान है। जिसका सविस्तर वर्णन श्री नंदीसूत्र में है। परन्तु इस स्थान पर विशेष विवेचन न कर नाम मात्र देते हैं।

(१) मति-ज्ञान-बुद्धि या अक्लमंदी यह ज्ञान सब मनुष्य और जानवरों में अपने २ पुण्य के अनुसार स्वभाविक उत्पन्न होता है। जिसके २८ भेद है। और सविस्तर ३४० भेद होते हैं।

(२)श्रुत ज्ञान-यह ज्ञान पढ़ने, लिखने, सीखने एवं श्रवण करने से पुण्यानुसार प्राप्त होता है। जिसके १४ भेद हैं, और २० भेद भी कहते हैं।

(३) अवधि-ज्ञान-जिस के मुख्य तया छः भेद हैं।

(४) मनःपर्यव ज्ञान जिस के दो भेद हैं।

(५) केवल ज्ञान-यह ज्ञान अनन्त शक्ति शालि है। यह ज्ञान जिसे प्राप्त होता है, वह चौदह राज लोकों को अपनी हथेली में रखी हुई वस्तु की भांति देखता है। समस्त जगत् के जीवों के परिणाम विना उपयोग लगाये ही हमेशा देखता रहता है।

इन पांच ज्ञानों में से शुरू के दो ज्ञान तो स्वभाविक ही हैं। ये तो थोड़े बहुत सब को प्राप्त होते हैं। परन्तु तीसरा चौथा और पांचवां ये तीनों ज्ञान आत्मिक हैं। ये ज्ञान जब आत्मा कार्मिक स्वभाव से हटकर स्व स्वभाव में पदार्पण करता है, तब आप ही प्रगट होते हैं। परन्तु किसी के सिखाने पढ़ाने से नहीं आते। उपरोक्त ज्ञान के बिना स्व और पर दया बिलकुल नहीं पल सकती। इस लिए धर्म का मूल स्व पर दया रूप ज्ञान है। ज्ञान का मूल विनय है, जिसके अनेक भेद हैं, वे गुरु से प्राप्त करने चाहिए। विनय यही जैन धर्म का मूल है। जिस के विषय में शास्त्रोक्त गाथा निम्नाङ्कित है,

"विणउ जीण सासण मूलं विणउ निव्वाण साहगो।
विणउ विप्प मुकस्स, कउधम्मो कउ तवो" ॥

भावार्थ-विनय अर्थात् गुण सम्पन्न वयोवृद्धों की नम्रता पूर्वक पद वंदना करना, आसन सम्मान सहित आदर देना और त्रिकरण से शुद्ध सेवा करना। यही जैन शासन का मूल धर्म है। जिसके बदले में आचार्य ज्ञान दान देते हैं, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिस मनुष्य के अन्तः करण से अभिमान के कारण विनय और नम्रता नष्ट हो गई हैं, वह मनुष्य अभिमानाश्रित धर्म कार्य करता है, तो भी क्या? उस की वह धर्म क्रिया सब निष्फल है। इस कारण दया धर्म और ज्ञान प्राप्त करने के लिए नम्रता रखना परमावश्यक है।

इस धर्म की आराधना के चार कारण प्रधान हैं, जिनकी विवेचना नीचे की जाती है।

दया धर्म और दान का विवेचन

धर्म के मुख्य दो भेद हैं। एक साधु धर्म और दूसरा गृहस्थ सागार धर्म या एक निराग धर्म और दूसरा सराग धर्म। निराग धर्म तो उत्कृष्ठ दशा प्राप्त होने पर ही होता है। जिस से जीवन मुक्त हो विदेह मुक्त पद प्राप्त होता है। परन्तु सरागी धर्म के असंख्य भेद हैं। उनमें से मुख्य चार हैं।

(१) अभयदानः-इस के भी दो भेद हैं। स्व अभय दान और पर-अभय दान। अपनी आत्मा को अभय अर्थात् भय रहित कर जन्म मरण के भय से बचाने का प्रयत्न करना इसी का नाम अभय दान है। और यही मुख्यत मोक्ष मार्ग है। इसके अनेकों भेद हैं, जिन्हें गुरु मुख से श्रवण करना चाहिए। दूसरा पर अभय दान अर्थात् संसार में जितने त्रस और स्थावर जीव हैं, उनको अपनी तरफ से अभय कर देना। किसी भी प्राणी को अपनी ओर से मन, वचन, काया द्वारा मरणांतिक भय न होने पावे। जिसके अनेक भेद हैं। जिनके पालन से जीव मोक्ष को प्राप्त होता है।

(२) सुपात्र-दान-यह भी मोक्ष का निदान है। इसके अनेक भेद हैं, परन्तु मुख्य दो भेद हैं। (१) जो प्राणी सुपात्र हो, अर्थात् स्व, पर अभयदाताहो ऐसे प्राणी की परीक्षा कर उसे अन्न वस्त्रादि योग्य वस्तु देना। (२) दान दिये जानेवाली वस्तु तथा दाता ये दोनों सुपात्र हों। अर्थात् शुद्ध वस्तु और शुद्धही दाता हो। इसके भी अनेक भेद हैं।

(३) अनुकम्पादान-यह भी महा पुण्य बंधन कारी है। इस दान से देव तथा मनुष्य जन्म के सुख भोगकर अंत में इसकी सहायता से अभयदान तथा सुपात्र दान देने का मार्ग समझ में आजाता है। अभयदान और सुपात्र दान ये निर्झरा के कारण हैं, जिनसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। ऐसे ये दोनों दान अनुकम्पा दान से प्राप्त होते हैं।

(४) कीर्ति-दान-भाट, याचक, भांड आदि याचकों को देना। कारण कि ये लोग कीर्ति दान के लाभ से संसार में अन्य लोगों के सामने कीर्ति करेंगे परन्तु वे सकाम निर्जरा से दान देते हैं, इसलिए केलेके फल की तरह अल्प लाभ प्राप्त करेंगे।

(५) उचितदान-अपने नौकर, चाकर, सगे, सम्बन्धी, जाति, और कुटुम्ब आदि को देने से आत्मा को व्यवहारिक लाभ होता है। उपरोक्त दया धर्म के चार भेद है, जिनमें से दया धर्म के भेद कह दिये है।

---

(२) ब्रह्मचर्य है। इसके मुख्य ८ भेद हैं। नव वाड़ सहित विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करना। जिसके गुरु गम से १८००० भेद होते हैं।

(३) सुभाव अर्थात् उत्तम भाव है। जिसके चार तथा आठ भेद हैं। यह चौथा भाव धर्म भेद सर्वोत्कृष्ट है। और महा सुख दाता है। जिसकी आकांक्षा में सम्पूर्ण जगत् तृषातुर सा है। जिसका स्पष्टी करण गुरु मुख से श्रवण करने के लिए विवेकी पुरुषों से हमारा निवेदन है।

धर्मार्थियों ! उपरोक्त चार भेद धर्म के अमूल्य कार्य सिद्ध करने वाले हैं। इस लिए उनकी आवश्यकता प्रत्येक धर्मार्थी

पुरुष को है। किन्तु जो अधम धुरंधर आश्रव मार्ग में मस्त हैं, वे षट् काय मर्दन धर्म की वृद्धि के लिये सोत्साह साहसिक बन कर प्रभु तथा गुरु की भक्ति के लिये बेचारे अनाथ प्राणियों के प्राणों का हरण कर निर्जरा का कारण मानते है। और अल्प पाप महा निर्जरा की स्थापना करके कर्मों से भरे हुए त्रस स्थावर जीवों पर पीत वस्त्र वेषधारी राजा पीले तिलक करनेवाली निर्दय-हृदय की सैन्य ले अनेक कल्पित-ग्रन्थ रूप हथियारों से पंक्ति बंध हो, देवताओं के प्रतिमा रूप भंडे को गाड़ने के लिए छः कार्य के साथ पूर्व के वैर सम्बन्ध ढूंढ कर उन्हें प्रवाह कर मर्दन कर अधोगति नामा राजधानी के विजय लाभ को प्राप्त करना चाहते हैं। वर्तमान दया धर्म की प्रणालिका से तो यही विश्वास होता है। परन्तु दीर्घाश्रवी बंधुओं के हृदयों में तो दूसरी ही बातें जचा रखी है।

किन्तु ये तो धर्म के लिए छः काया का नाश करके ऐसा मानते हैं कि ऐसे आरम्भ के कार्यों से हमारे निर्जरा कारक गुण प्रगट होंगे। किन्तु ए भोले श्रावकों ? यह नहीं समझते हो कि मोह कर्म के बंध का पुंज बंध जायगा। और यह तो जब समय आयगा स्वयं ही ज्ञात हो जायगा। यहां तो केवल यही कहना है कि आरम्भ करने वालों की ओर से निर्मल ज्ञान द्वारा शुद्ध बुद्धि से सब प्राणियों की रक्षा करने की बड़ी कमी है। कारण वे पूर्व जन्म के बंधे हुए अन्तराय कर्म की प्रबलता के कारण आश्रव मार्ग को त्याग कर संवर मार्ग को कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?

कितने ही मूढमति भ्रम वश यो कहते हैं, कि हम धर्म

कार्य के लिए आरम्भ करते हैं। वह दूसरों को हिंसा रूप दृष्टि गत होता है। जिसकी हमें हिंसा नहीं लगती। ऐसे वचन कहने वालों पर ज्ञानी पुरुष चकित होते हैं। अहह! कितनी अज्ञानता!! कितनी भयङ्कर भूल!!! उन धर्माभिलाषियों से इतना ही कहना है कि इस जनात्मिक धर्म में तो भगवान् वीतराग देव ने आदि मध्य से अंत तक दया रूप बोध का ही प्रवाह प्रवाहित किया है। यह सुलभ बोधी मनुष्यों को निडर होकर समझ लेना चाहिए अन्य धर्म शास्त्रों में भी सत्यांश के वाक्य रचे हैं। और वे शास्त्र कर्ता जीवादिक पदार्थों से ज्ञान शून्य होने पर भी दया धर्म की दृढ़ता दिखाते हैं। देखिये सोम सुन्दर के इस श्लोक में क्या कहा है।

कृपानदी महा तीरे, सर्वे धर्मास्तृणांकुश।
तच्छोषे शोषमायांति,तद् वृद्धौ वृद्धि मान्पुयुः ॥१॥

भावार्थ-कृपारूपी नदी के किनारे सब धर्म तृणांकुर के समान सुशोभित हैं। उस कृपा नदी के शोषित होते ही सब धर्म रूपी अंकुर सूख जाते हैं, और उसकी वृद्धि होते ही सब धर्म बढ़ जाते हैं। किन्तु जब धर्मात्मा होकर ही उनके अन्तः करण से कृपा रूपी प्रवाह स्रोत सूखने लग जाय तो उनके धर्म का निर्वाह कब तक हो सकता है। अर्थात् निर्दयता मोक्ष की शत्रु है। इस लिये क्रोधित हिंसकों से निवेदन है कि अन्य धर्मावलम्बी भी जब इस तरह हिंसा का मूलोच्छेद कर दया का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु तुम तो मुख से दया २ चिल्लाकर धर्म के लिए दीर्घ आश्रव रूपी तोप की आवाज करते हो। जिससे तुम्हारी दयालुता का लोप हो जाता है। कारण कि कितने ही प्राणी मुख से तो दया शब्द बोलते हैं। किन्तु जब

समय आता है तो वे छः काया के अनाथ प्राणियों को देखते ही पूर्व के शत्रु भाव के कारण उन पर चूहे बिल्ली का सा दृष्टांत उपस्थित कर देते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे षट् काय के विनाश मे ही सदा तोष मानते होंगे किन्तु उनसे इतना ही कहना है कि हे विभ्रमियों! यदि हिंसा से धर्म होता है, तो अमृत से विष भी होना चाहिये। अग्नि से शीतल जल, सर्प के मुख से अमृत रस, दुष्ट मुख से पर गुणोच्चारण, समुद्र के क्षारीय जल से दुग्ध, कीचड़ से कपूर, सोमल से शक्कर मिट्टी के तिलक से केशर का तिलक और मृत प्राणी में जीवन न तो कभी देखा और न कभी सुना। किसी देवके सानिध्य से यदि ऐसा हो जाय तो आश्चर्य नहीं। किन्तु हिंसा से मोक्ष फल और धर्म प्राप्ति तो भूत भविष्य और वर्तमान् किसी में भी सम्भव नहीं। यह एक सुनिश्चित बात है।

इस सत्योपदेश से तुह्मारे दिल में पूर्ण विश्वास तो हुआ होगा, परन्तु ज्यों हारा हुआ जुआरी दुगुना जुआ खेलता है, वैसेही पापाश्रयी प्राणी पूर्व जन्म के क्रूर कर्मोदय से दयारुप लक्ष्मी हारकर अठारहवें पाप स्थानक की पराधीनता में आश्रव रूपी जुआ खेलकर कोटयाधीश बनना चाहते हैं। यह कैसे आश्चर्य की बात है। इसलिए हे भ्रमियों! थोड़ासा तो विचार करो कि इस संसार में कौन २ से प्राणी मृत्यु पसंद करते हैं? और कौन २ से प्राणियों को जीना और सुख भोगना अप्रिय है? इसका कोई शास्त्रोक्त प्रमाण तो दो। जीवन और सुख की आशा के लिए हास्य-समुच्चय ग्रन्थ में कहा है।

अमेध्य-मध्ये कीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।-

समाना जीविता कांचा, समं मृत्यु भयं द्वयोः ॥

भावार्थः-पाखाने के मेले में रहनेवाले जीव और इन्द्रलोक निवासी देव, दोनों ही समान ही जीवित रहने की इच्छा रखते हैं, और मृत्यु भय भी दोनों को तुल्य ही है। इसी प्रकार प्राणियों के रक्षार्थ कितने ही ग्रन्थ कितने ही प्रकार से साक्षी देते हैं। जैन शास्त्र में केवली महाराज ने दशवे कालिक के छट्टे अध्ययन की ग्यारहवीं गाथा में भी ऐसे ही स्पष्टी करण किया है।

सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउ न मरि जीउं।

तम्हा पाण वहं घोरं, निग्गंथा वज्झयंति णं ॥

भावार्थः-केवली महाराज फरमाते हैं कि हे भव्य जीवों ! इस विश्वके स्थावर जंगम सभी प्राणी जीवित रहने और सुख पाने की इच्छा रखते हैं। परन्तु दुख और मृत्यु नहीं चाहते। इसलिए हे सुज्ञ मनुष्यों ? प्राणवध जीव हिंसा के कार्य आत्मा को महा भय के देने वाले समझकर निर्ग्रन्थ अप रिग्रही साधु चारित्री उन का परित्याग करते हैं। इस उप- रोक्त गाथा के आदि से लेकर वीसवीं गाथा तक साधु के पांच महाव्रत और छठे रात्रि भोजन का वर्णन किया है। प्रथम पांच महाव्रत के आरम्भ में ही नो प्रकार से साधु जीव हिंसा नहीं करते। न किसी के द्वारा कराते और न जीव हिंसा करने वाले को ही अच्छा समझते। ऐसे ही साधुजी के सब व्रत निर्वद्य है। ऐसा सिद्धान्तों में प्रत्यक्ष पाठ है। तो भी मुग्ध जनों के अन्तः करण में महा हिंसा रूपी रौद्र भावों का समावेश हो गया है। जिसके कारण ऐसी अज्ञा- नता की ढाल पर चढानेवालों का जन्मान्तर में बंधे हुए कर्मों

द्वारा दुःख से बदला चुकाये विना छूटना कठिन है। सारांश यह कि मोक्ष मार्ग को हिंसा रूपी कीचड़ चढ़ाकर लेप करना चाहते हो यह कितनी भारी भूल है। देखो, दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की गाथा क्या कहती है।

धम्मो मंगलमुक्कठं, अहिंसा संजमो तवो।

देवा वितं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

भावार्थः-जैन आत्मिक धर्म मोक्ष मार्ग की साधना करने के लिए परम मांगलिक है। सारांश यह कि इस संसार के अनेक कार्मिक धर्मों से सर्वोत्कृष्ट है। इसकी सम कक्षता का दूसरा धर्म नहीं। इसे श्रेष्ठ धर्म क्यों कहा है? अहिंसा अर्थात् प्राणियों के प्राण को नहीं सताना इसी का नाम जीव दया और यही धर्म का पहला पाया है। ऐसी दया की प्राप्ति के लाभ में १७ प्रकार का संयम प्रगट होता है। अर्थात् आश्रव रुकता है। आश्रव रुकने से निर्भरा होती है। जो पूर्व कर्मों को जला देती है। निर्भरा के छः वाह्य और छः आभ्यन्तरीय इस प्रकार बारह भेद हैं। जिनके नाम द्रव्य और भाव तप है। ये तीनों मूल भेद धर्म के आदि में बतलाये हैं। उपरोक्त अहिंसा, संयम और तप इन तीनों का त्रिकरण शुद्ध भाव से आराधन करने वालों के चरण, देव और मनुष्यादि सभी आकर पूजते हैं, और संतोष मानते हैं। वे पुरुष कैसे हैं? जिनके सदा सर्वदा उपरोक्त धर्मारा-धन ये ही मन, वचन और काया के योग स्थिर हैं। वे ही पुरुष रत्न देवादिकों से वन्दनीय हैं। परन्तु जो षट् काय मर्दनादि सारंभ में मतावलंबित होकर स्वतः आश्रव करते है। दूसरों को उपदेश करते हैं, और ऐसा करने वालों को अच्छा समझ

ते हैं । ऐसी अज्ञान दशा वालों को भी पन्द्रह जाति के अधोगति स्वामिदेव सेवा भक्ति करने में कभी कमी नहीं करेंगे । यह सिद्धान्तों में ज्ञानी पुरुषों ने प्रत्यक्ष फरमाया है । देखिये ! उपरोक्त गाथा में तो स्वदया और पर दया इसी का नाम धर्म है । अब इस गाथा का 'संवेगी' नाम धराने वाले मनुष्य पीले तिलक धारियों की सभा में क्या अर्थ करते होंगे? यह सब विचारणीय है । केवल कुमतावलम्बी बाल मित्रों को हितेच्छु की दृष्टी से इतना उपदेश देने की आवश्यकता है कि तुम्हारे कर्मोपार्जित दो नेत्र तो खुले हैं, किन्तु ज्ञान रूपी चक्षु मृषावाक्यों से रचित ग्रन्थों का आवरण आजाने से जैन शासन रूप आर्य भूमि पर दया रूप अंकुर ज्ञानोपदेश मेघ की धारा से प्रगट हो रहे हैं । और गणधर महाराज ने अनंत ज्ञानी तीर्थंकरों की सहायता से सूत्रार्थ में रचकर सब भव्य जीवों के लाभार्थ प्रगट कर दिये हैं । तो भी तुम्हारे पाषाण कठोर हृदय में वे दृष्टि गत नहीं होते । तथा वे वाक्य तुम्हें रुचिकर नहीं होते । उलटा उन पर शत्रु भाव लाकर नये ग्रन्थों के निबन्ध रच कर षट् काय रक्षक धर्म को देश निकाला देने के लिए होशियार हुए हो और अनन्त ज्ञानी के निष्पक्ष सूत्रों का उल्लंघन करना चाहते हो तो क्या इतनी मूर्खता और अज्ञानांधकार से दया धर्म का नाश हो जायगा ! अरे बाल मित्रों दया रूपी सूर्य के प्रबल प्रकाश के आगे अज्ञान रूपी हिंसा मृषादिक अंधकार कभी ठहर नहीं सकता । प्राणियों के रक्षार्थ अन्य धर्म शास्त्रों के कितने ही प्रमाण मौजूद हैं । श्री महाभारत के शांति पर्व के पंचम पद में और विष्णु पुराणादि में भी दया धर्म प्रतिपादन किया है ।

श्री महाभारते कृष्णोवाच—

सत्येनो त्पद्यते धर्मः, दया दानेन वर्धते।

क्षमया स्थाप्यते धर्मः, क्रोधाल्लोभाद्विनश्यति।

भावार्थः-सत्य से धर्मोत्पत्ति होती है और दया दान से बढ़ती है। क्षमा करने से धर्म स्थिर होता है, और क्रोधादिक से धर्म नाश को प्राप्त होता है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुन वर्जनम्।

पंचस्वे तेषु मान्येषु, सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः।

भावार्थः-अहिंसा-दया, सत्य, अदत्तत्याग, दान, मैथुन त्याग इन पांच प्रकार के धर्मों में जो विवेकी मनुष्य प्रवृत्त होते हैं, उन सज्जनों की आत्माओं में सर्व प्रकार के धर्मों के लक्षण प्रगट हो जाते हैं।

वेदाः सर्वे किलाधीताः, सर्वे यज्ञाश्च भारत।

कृतस्तीर्थाभिषेकश्च व्यर्थं तद्दयया विना।

भावार्थः-सब वेद पढ़ लिये, सम्पूर्ण यज्ञ कर लिये, सकल तीर्थों में स्नान कर आये, किन्तु यदि दया नहीं है, तो यह सब व्यर्थ हैं। अर्थात् जो प्राणियों पर निर्दय भाव रखते हैं, उनके उक्त सब कृत्य वृथा हैं।

अहिंसा लक्षणो धर्मः, अधर्मः प्राणिनां वधः

तस्माद्धर्मार्थिभिर्लोकैः, कर्तव्याः प्राणिनां दया।

भावार्थः-अहिंसा अर्थात् दया ही धर्म का लक्षण है। और सब आत्मा धर्म के आरम्भ में स्वदया तथा पर दया होना ही चाहिए। स्व तथा पर प्राणी का वध यही अधर्म का

लक्षण है। इस लिये हे धर्मार्थी बंधुओं! सब प्राणीयों की रक्षा करो।

शोणितार्द्र भवेत् वस्त्रं, शोणिते नैव शुध्यति।

एवं पाप युतं कर्म, पापेन नव शुद्धति।

जिस प्रकार खून से भीगा हुआ वस्त्र खून ही से धोने पर कभी स्वच्छ नहीं होता, इसी प्रकार पर प्राण-हिंसा के अनादि काल से लगे हुए भयानक पाप, विना पुण्य जल के कभी नही छूट सकते अर्थात् खून से रंगा हुआ वस्त्र पानी से ही साफ होता है, इसी प्रकार पाप रूपी मैल दया करने से ही छूट सकता है। ऐसा श्रीकृष्ण महाभारत में कहते हैं।

❀ विष्णु पुराण का श्लोक ❀

अहिंसा सर्व जीवेषु, तत्वज्ञैः परिभाषिता।

इदंहि मूलं धर्मस्य, शेषस्तस्यैव विस्तरः"

भावार्थ--सब प्राणियों पर ज्ञानियों को दया करना चाहिए। दया यही धर्म का मूल है, और दान, शील, तप, भाव ये दया-धर्म की शाखाएं है। इसलिए कभी जीव हिंसा मत करो।

अहिंसा सत्यमस्तेयं; ब्रह्मचर्य सुसंयमः।

मद्यमांसमधुत्यागो; रात्रि भोजन वर्जनम्।

भावार्थः-अहिंसा, जीव दया, सत्य भाषण, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, सुसंयम, पांचों इंद्रियों की विषय शक्ति को दवाना, और चार महा विगय, मदिरा, मांस, मध और रात्रि भोजन इन सब का त्याग करना ही धर्म है। इन सब कारणों में प्रधान कारण दया हो, तभी ये सब त्याग निभ सकते हैं।

प्राणिनां रक्षणं युक्तं, मृत्यु भीता हि जन्तवः ।
आत्मौपम्ये न जानीया दिष्टं सर्वस्य जीवनम् ।

भावार्थः—धर्मार्थियों को प्राणिमात्र की रक्षा करना उचित है। क्योंकि मृत्यु से सभी जीव भयभीत रहते हैं। इसलिये सब जङ्गम स्थावर प्राणियों को अपने प्राण की तरह समझना चाहिए। जीवित रहना सब को प्रिय है, और मृत्यु अप्रिय।

उद्यतं शस्त्रमालोक्य, विषादं यान्ति विह्वलाः ।
सर्वे प्रकंप्यते जीवाः, नास्ति मृत्यु समं भयम् ।

भावार्थः-इस संसार में मति भ्रम से निर्दय स्वभाव वाले अज्ञानी मनुष्यों ने पाप बुद्धि में लीन हो, पर-प्राण-हरण के लिए बनाए हुए शस्त्र तथा संसार में दीर्घकाल तक जन्म मृत्यु के लाभ प्राप्त करने के लिए अज्ञान बुद्धि से त्रस स्थावर प्राणियों के प्राण हनन करने के लिए रचे हुए हिंसा विधि के शास्त्र जिन्हें शास्त्र नहीं एवं शस्त्र ही कहना चाहिए ऐसे उज्वल हिंसा रूपी अस्त्र शस्त्र देखकर ही विषाद ग्रस्त बन सब त्रस स्थावर प्राणी थर २ कांपने लगते हैं। सारांश यह है कि देह धारी प्राणियों को मृत्यु के समान दूसरा भय नहीं है।

कंटकेनापिविद्धस्य, महती वेदना भवेत् ।
चक्र कुंता सियष्ठयाद्यै, र्मार्य मागस्य किं पुनः ।

केवल एक कांटे के लगने से ही जब असहय वेदना होने लगती है, तो चक्र, भाला, तलवार, लकड़ी आदि से मारने से क्या प्राणियों को कष्ट नही होता होगा ? अर्थात् होता ही है। किन्तु उक्त शस्त्रों के पक्षपाती हिंसाचार्य इन्द्रिय धर्म में

लुब्ध हो, तथा नास्तिक जगत् फांस की फांसी में फंस पराधीन हो अपनी देह के साधन प्राप्त करने के लिए अनेक कपोल कल्पित कुतर्कों से भरपूर दीर्घ आश्रवी कुशास्त्र रूपी शस्त्रों की प्ररूपणा करते हैं। तो क्या वे पर-प्राणियों के प्राणों को सकुशल रहने देंगे? नहीं, कभी नहीं। हां, इतना अवश्य है कि हिंसा करने वाले प्राणियों ने तो त्रस स्थावर जीवों के प्राण हरण के लिये ही शस्त्र रूप कांटे की जाल बिछाकर इस जुल्मी कालिकाल में जन्म लिया है। पर उन कंटक शास्त्रों की वचन रूपी तीक्ष्ण धार को चूर्ण करने के लिए ज्ञानोदय से दया वाक्य मिश्रित शास्त्र के उपदेश-जूते पहन कर, धर्म रूपी पृथ्वी पर दया मार्ग में चल मोक्ष रूपी शहर में जाने के लिए सदा आनन्द उत्साह से निर्भय बन विचरना चाहिए।

इस प्रकार श्री महाभारत और विष्णु पुराण में दया धर्म को दृढ़ीभूत किया है। इतना ही नहीं किन्तु अन्य दार्शनिकों के शास्त्रों में भी प्रत्येक स्थान पर दया धर्म के विषय में नाना प्रकार का विवेचन किया है। दया धर्म के बिना जितने भी शास्त्र बने हैं, वे सब बिना मूल के ठहरे हुए वृक्ष की भांति है अन्य दर्शनी जीव दया जानते और न जानते हुए भी प्रत्येक धर्म सम्बन्ध में उसे आगे रखते हैं। तभी वे शास्त्र सर्व मान्य और पूज्यनीय हैं। परन्तु उन धर्म शास्त्रों के रचयिता स्वयं विशेष ज्ञाता न होने से विभंग ज्ञान से जो कुछ देख सके, उतना पर दया स्थापन धर्म कह सके हैं। क्योंकि स्वदया के स्वरूप का उन्हें लक्ष्य ज्ञान न होने से वे एक पाक्षिक उपदेश दे सके हैं। परन्तु अन्तरात्मा परमात्मा के अतिरिक्त स्वदया अन्य किसी के लक्ष्य में नहीं आसकती। पर-दया

ही महा पुण्य है, और यही स्वदया का आधार भूत है। परन्तु स्व और पर पक्ष की दया के विना जो २ पुरुष धर्म क्रिया करते हैं, और केवल तप्त स्वभावी आश्रव मति एक पक्ष लेकर निर्दयी होकर कहते हैं, कि भक्ति के लिए आश्रव हो तो " अप्पकम्मं वहु निज्जरा " अर्थात् अल्प कर्म लगते हैं, और अनेक कर्मों की निर्जरा होती है । इस भ्रम वश अपनी आत्मा को आप ही ठग रहे हैं। वे भयानक जन्म से कैसे छूटेंगे ? और इस संसार में उनका शरणागत कौन होगा " वेराणु वद्धा नरयं उवेंति " अर्थात् जा दया धर्मी होकर पर-प्राणियों की रक्षा में सहायक न हो, प्रत्युत इसके विप रीत ' दयाधर्मी ' ऐसा अमूल्य नाम स्थापन कर परमेश्वर या गुरु के लिए भक्ति की कल्पना कर त्रस स्थावरों के प्राण हर शत्रु भाव दिखाने में पीछे पैर नहीं रखते, वे कालान्तर में जब कर्मोदय होगा, और हिंसा करने वाले प्राणियों की ओर से सहायता के लिये पंद्रह जाति की काली पलटन तैयार होगी, तव न्याय कोर्ट में अपने कृत कर्मों का क्या उत्तर देंगे ? और आत्म सुधार के समय अपनी कुवुद्धि द्वारा अपने लाभ को खो वैठने वाले जड़ मति उस विपत्ति के समय कितना पश्चाताप करेगें ? क्योंकि नीति ज्ञान और दर्शन का लाभ प्राप्त कर निर्मल दया धर्म में अग्रसर वन कर धर्म सम्व-न्धी कार्य में प्राण वध करते किञ्चित भी नहीं डरते। यह कितने अन्याय की वात है। इसी के लिये एक तत्कालीन दृष्टांत आप के सामने रखा जाता है।

सं० १६४० के फाल्गुन मास में भावनगर में जैन धर्मी नाम धराने वाले तपालोकों ने एक समोसरण वनाया । उस

समय एक तपा श्रावक की स्त्रीने घी पीने के अपराध में एक गाय को मृत्यु दण्ड दिया। गो हत्या का पाप अगणित है। इसी तरह सं. १६४१ में पर्यूषण के पहले भाव नगरी तपगच्छ की सुधरी हुई साभा में शास्त्र ज्ञान का अभ्यास करने वाले ने एक बकरे का होम कराया। जब तुम्हारी ऐक्य-विहीन जाति में इसकी चर्चा चली थी, तब सुनने में आई थी। इस सम्बन्ध में सच झूंठ तो परमेश्वर जाने, परन्तु जैन धर्मी नाम धरा कर ऐसे कृत्य करने वाले " जैन " सिद्ध नहीं हो सकते। हाँ, अजैन अवश्य होंगे। फिर बेचारे ऐसे अनाथ पंचेन्द्रिय जीव गाय तथा बकरा अपने पूर्व कृत्यों से तो मर ही रहे हैं, परन्तु तुम्हारे अन्यायी हाथों से दो जीव निरपराध मार डाले गये वे जन्मान्तर इस वैर को कभी न भूलेंगे, यह तो निश्चित ही है, किन्तु वर्तमान समय की प्रथा के अनुसार भी इस अन्याय को छिपा कर सुधरी हुई सभा के सहायक बन, इस बात की कुछ भी छान बीन न की। यही नहीं, किन्तु अनेक प्रकार के कापट्य जाल से इस बात को दबाकर आनंद मनाये। लोकोपवाद की भी किञ्चित् परवाह नहीं की। तब क्या तुम्हारे पीत वस्त्र धारियों से इस सम्बन्ध का प्रायश्चित्त या आलोयना लेकर, शास्त्रानुसार शुद्ध हो गये होंगे? किन्तु हमें तो यह भी विश्वास नहीं होता। क्योंकि लोकोपवाद या ज्ञाति धर्म रखने के लिये दण्ड लिया होता तो धर्मापराध टालने में भी सम्भव है। परन्तु वे दोनों ओर की निन्दा से निरपराधी नहीं बन सकते। इसलिये समझ में आता है, कि जीव हिंसा द्वारा बंधे हुए कर्मों से आप सुधरे हुए वकील कायदा कानून लगा कर दुर्गति के स्वामियों की झपट से भी बच जायंगे। किन्तु

मित्रों ! आप स्वप्न में भी ऐसा ख्याल न करे कि हम नर्का-धिपति से बच जायंगे । क्योंकि तुम्हारी चतुर जाति ने दो प्राणियों के प्राणों की परवाह न कर केवल तुम्हारी दया के हेतु दया धर्म पाला है । परन्तु जन्मान्तर में तो नरकाधिपति न तो तुम्हारी रिश्वत लेंगे और न सिफारिश ही का ख्याल रखेंगे प्रत्युत् मृत प्राणियों का फर्ज तुमसे वजवायंगे, यह सुनिश्चित समझना । जब इतने बड़े प्राणियों के वध का भी तुम्हारे पाषाण हृदयों में किञ्चित् भी दुःख या शोक नहीं हुआ तो, बेचारे पृथ्वी आदि असंज्ञी पंचेन्द्रीय जीवों के वध तक का आरम्भ तो तुम मोक्ष और महा निर्जरा के लिये ही गिनते हो । उनकी चिन्ता तो होने ही क्यों लगी ! तब हे दया धर्म के प्रतिपक्षियो ! तुम से केवल हमारा इतना ही प्रश्न है कि तुम लोग जो जगह २ ग्रन्थों तथा चोपियों में दया २ चिल्लाते हो, वह दया किन प्राणियों की पालनी चाहिए ! उन प्राणियों के नाम और स्थान तो कृपा कर बतावें । फिर प्रत्येक जगह कहते हो कि हिंसक नरक जाते हैं, तो किन जीवों की ? और कौन ? इसका तो स्पष्टी करण करें । अन्य धर्मावलम्बी तो अपने शास्त्रानुसार दया पालने का उपदेश करते होंगे किन्तु तुमने किन प्राणियों की दया पालने का विचार किया है ?

अन्य धर्मीवाल ज्ञानावलम्बी बन आश्रव करके छः काया का आरम्भ अज्ञानता से करते हैं, उन्हें तो तुम भारी कर्मी बताते हो, और स्वयं सर्व शास्त्र-पारंगत विद्वान छः काया के जानकार बनकर धर्मान्धता के कारण धर्म निमित्त प्राणियों को नष्ट करते हो तो क्या तुम्हें आश्रव कम लगता है ? और उन्हें विशेष इसका कारण ? उत्तर सूत्र न्यायानुसार होना चाहिए । हां, सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के किये हुए आरम्भ

में न्यूनाधिक पाप लगता है, यह हम भी जानते हैं । क्योंकि भगवती जी में कहा है, कि किसी अनार्य पुरुष ने क्रोधित हो किसी स्थान को जलाने का विचार अग्नि लगादी। उस अनार्य के मन में तो सब प्राणियों के नाश करने की उत्कण्ठा है, किन्तु उसी समय एक आर्य पुरुष उस दावानल को देख कर सब प्राणियों के रक्षार्थ अग्नि शांत करने की इच्छा से जलादि छःकाय के आरम्भ द्वारा उसे शांत करदे तो दोनों महा आरम्भियों में अग्नि लगाने वाले के चिकने और बुझाने वाले के हलके कर्म लगे हैं। इसका समाधान तो वीतराग प्रभु ने कर दिया है। परन्तु तुम अपने धर्मारम्भ पर इसे घटित न कर वीतराग भगवान् के वचन को मान देकर उत्तर दो।

अन्य दर्शनी जीवादिक के ज्ञाता न होने से सारंभी धर्म मानते हैं, तो तुम उन्हें दुर्गति दायक गिनते हो, किन्तु तुम सब प्राणियों को पहिचान कर भी शास्त्राधार से प्राण, प्रजा, इन्द्री, योग संज्ञा जानकर भी धर्म के निमित्त तीव्ररस के साथ उन्हें हनते हो तो प्रतिपक्षियों की अपेक्षा धर्म समझ कर हिंसा करनेवाले तुम कितने अंश में सिद्धहुए? क्या तुमने भी पाताल तक जाने का विचार किया है, थोडा तो विचार करो। क्या तुम नहीं जानते कि जीव कितने प्रकार से नरक का आयुष्य बांधते हैं, जानते हो तो सूत्र पाठ के साथ दिखाओ।

फिर पीत वस्त्र धारियों से पूछना है कि तुम अपने श्रावकों को पूर्ण रूप से शास्त्र ज्ञान बताते हो या केवल गप्पाष्टक भरे ग्रंथों से कान भर देते हो। क्योंकि यह व्यवहार जैन-व्यवहार या आचार नहीं मालूम होता। अन्य दर्शनी तो

कहते हैं कि हमारे शास्त्रों में दया पालने के लिये महा पुरुषों ने अत्यन्त विवेचन किया है, किन्तु हम विवश हैं, कि उनके कथनानुसार नहीं चलते । क्योंकि व्यवहाराधीन हैं । वे तो यह मंजूर कर के भी निरपराधी बनजाते हैं, किन्तु तुम दया धर्म का ढोंग बनाकर अनन्त प्राणियों को धर्म के निमित्त मार कर दया समझते हो तो यह दया कौन से शास्त्राधार से है? इसलिए हे दीर्घाभिवियों! साद्यन्त शास्त्राध्ययन कर फिर 'दया' शब्द निकालो तो उचित भी समझाजाय। किन्तु इस समय तो दया धर्म के प्रति पक्षियों की भांति दीनता पूर्वक आरम्भादिका अपराध क्षमा करवाना चाहिए कि हम हमारे दया धर्म के नाम गुण के रीत्यानुसार चल नहीं सकते और आरम्भ मार्ग की रूढ़ि में फंसे हैं। जब ऐसी उदासीनता हृदय में लाओगे तभी कृत्यारम्भ कर्मों की बाढ़ घटने लगेगी और उन कर्मों के घटने से वीतराग भगवद् प्रणीत धर्म की रुचि बढ़ेगी । दया स्वभाव निस्संदेह प्रगट होगा । क्योंकि भगवान ने ग्यारह अङ्ग और बारह उपाङ्गो में आदि से अन्त तक कहीं भी ऐसा वाक्य नहीं रखा है कि जिससे 'हिंसा से तिरते हैं, ऐसा ध्वनीत होता हो। हां, सिद्धान्तों में हिंसा करने वाले की क्रिया को सावद्य क्रिया तो अवश्य बतलाई है। परन्तु ऐसी क्रिया निर्जरा का कारण समझना चाहिए ऐसा शास्त्र में नहीं है । ऐसी सावद्य क्रिया अकाम निर्जरा का कारण है । यह शास्त्र देखने पर तुरंत मालुम हो जायगा। देखो, श्रीमदुत्तराध्ययन के छटे अध्ययन की छटी गाथा—

अज्झत्थं सव्वउ सव्वं; दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भय वेराउ उवरए ॥

भावार्थ- इस प्रकार के इष्ट संयोग से उत्पन्न सुख सब को प्रिय लगता है। तथा शास्त्रानुसार सब प्राण धरने वाले प्राणियों को जीवन प्यारा है,इसलिये "प्राणियों को मत मारो अर्थात् दया पालो और तुम्हारी ओर से उत्पन्न सातों भय से तथा वैर भाव से निर्भय कर अभय दान दो,तो तुम भी अभय पद पाओगे। इसी सूत्र के अठारहवें अध्ययन में कहा है,

सगरोवि सागरंतं, भरहवासं नराहिवो।
इस्सारियं कवलं हिच्चा, दयाइ परिनिव्वुडो॥

भावार्थ-सागर नामक एक चक्रवर्ती तीनों दिशा में समुद्र तक आज्ञा चलाई और उत्तर में लघु हेमवंत तक शासन किया। वे भरत क्षेत्र के राजा केवल या सम्पूर्ण ठकुराई छोड़ कर स्व और परदया संयम से अंत कर योग्य सिद्ध पद प्राप्त हुए। यह दया का ही प्रभाव है।

न तं अरी कंठछेत्ता करेई।
जं से करे अप्पाणिया दुरप्पया।
से नाहइ मच्चु मुहंतु पत्ते।
पच्छाणुतावेण दया विहूणो।

उसी सूत्र के बीसवें अध्ययन के काव्य में कहा है कि जो जैन लिङ्ग धारण कर इन्द्रियों की पराधीनता से मिथ्यात्व सेवन करता है, और फिर अपनी सहायता के लिए दूसरों से सेवन कराता है, वह महापराधी है। सारांश यह है कि प्राण हरने वाला और वैरी जो बुरा कार्य नहीं कर सकता है,उससे अधिक बुरा उस वेष को लजाने वाला करता है। अर्थात् स्वयं वेषधारी हिंसा मार्ग ग्रहण कर शरणागत से भी वैसा ही

वर्ताव करना चाहते हैं। वे असयंमी अपना और दूसरों का कार्य विनाश करने से मृत्यु समय भारी पश्चाताप करेंगे।

इन्दियत्थे विवज्जेत्ता, सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ति तप्पुरक्कारे, उव उत्ते रियं रिए॥

भावार्थ-इसी सूत्र के २४ वे अध्ययन मे कहा है कि हे संयमार्थियों! तुम पंचेन्द्रिय के विकार तथा पांच प्रकार की सझाय इन दस बोलों को छोड़ कर शुद्धात्म उपयोग से इरिया अर्थात् राह चलते सुमति अर्थात् ज्ञान बुद्धि लगाकर चार हाथ दृष्टि आगे डाल कर षट् काय प्राणी की रक्षा करना-दया के निमित्त सावधान हो कर चलना।

एवमेयाणि जाणित्ता, सव्व भावेण संजए।
अप्पमत्तो जये निच्चं, सव्विदिए समाहिए॥१६॥

भावार्थ—दशवै कालिक सूत्र के आठवें अध्याय की सोलहवीं गाथा के पहले भगवान ने षट् काय जीवों की पहचान बताई, फिर उपरोक्त गाथा में फरमाया कि षट् काय जीव का स्वरूप पहचान कर अपने आत्मा के सुधार के लिए मन, वचन, काया स्थिर करके संयति कहे हुए आठ स्थानक की अप्रमादी बन रक्षा करे अर्थात् दया पाले। अपनी पांचों इन्द्रियों का निग्रह करके ज्ञानवान् साधु हो सकता है, ऐसा कहा है। इसलिए सर्व प्रकार से दया पाले और दूसरों से भी दया पलाने में कभी नही चूके। परन्तु किसी भी प्रकार हिंसा करने की आज्ञा तो है ही नही।

संधए साहु धम्मं च, पाव धम्मं निराकरे।
उवहाणं विरीए भिक्खू, कोहं माणं च पत्थए।

भावार्थ-सूय गडांग सूत्र के ग्यारहवें अध्याय की ३५ वीं गाथा मे कहा है कि हे संयतियों! अच्छे धर्म की साधना रख हिंसा धर्म को त्यागो और उत्कृष्ट तप कर के क्रोधादिक को छोड़ो, क्योंकि क्रोधादि से तप का नाश होता है। यों तीर्थंकर भगवान् ने सब सूत्रों में हिंसा धर्म त्यागने की आज्ञा फरमाइ है। किन्तु हिंसा करने की आज्ञा कहीं नहीं दी। भूत भविष्य और वर्तमान् तीनों काल में हिंसा का त्याग ही प्रधान उद्देश्य है। हिंसा स्थापनार्थ कभी उपदेश नहीं दिया है, इस के लिये जैन शास्त्र साक्षीभूत है।

गारंपि आवसे नरे, अणु पुव्वं पाणेहिं संजए।
समया सव्वत्थ सुवए, देवाणं गच्छे सलोगयं ॥ २ ॥

भावार्थः- फिर उसी सूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे उद्देशा की तेरहवी गाथा में ऐसा कहा है कि जो गृहस्थावास में बसने वाले श्रावक अनुक्रम से युक्ति पूर्वक यथा शक्ति यत्न पूर्वक सुंदर व्रत पालकर सब जीवों को अपने आत्मा के समान गिन दया, धर्म, संवर, सामायिक कर देव लोक में चले जाते हैं। फिर उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्याय में शक्रेन्द्र की प्रेरणा से दसारण भद्र राजाने कार्मिक रिद्धि का अभिमान त्याग धर्माभिमान रखने के लिए दया धर्म अर्थात् स्व तथा पर की दया रूप संयम का आराधन किया। तब उसी समय इन्द्र आकर सब देव ऋद्धि के साथ नमस्कार करने लगा। यह देव ऋद्धि का प्रभाव है।

श्री ज्ञाता सूत्र के प्रथम अध्याय में मेघ कुंवर ने पूर्व जन्म में हाथी तिर्यञ्च के भव में भद्र स्वभाव के कारण वन में दावानल प्रज्वलित होने से उष्णता से भयभीत एक शशक

को बचाने के लिए अपने पैर को ऊँचा रख भारी शारीरिक कष्ट उठाया, इस कारण उनका देहावसान भी होगया। वहां से भद्र परिणामों के कारण मनुष्य भव का आयुष्य बांध कर मेघ कुंवर हुए और संयम लेकर मृत्यु पा विजय विमान में ३२ सागर के आयुष्य की स्थिति पाई। महा विदेह क्षेत्र में मनुष्य भव प्राप्त कर संयमानुष्ठान साधकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। यह सब दया का ही प्रभाव है।

इसी प्रकार शांति नाथ भगवान् के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनिये। ये दशवें भव में मेघरथ राजा के नाम से प्रसिद्ध थे। वहां देव कृत कृत्रिम परेवा के रक्षार्थ कार्मिक देव कृत पारधी के कहने से अपने शरीर का मांस काट २ कर तराजू पर धर दिया, किन्तु फिर भी पारधी की इच्छा तृप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने अपना सारा शरीर ही तराजू में रख पारधी के अर्पण कर दिया। वहां दया के परिणाम से तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया। यह भी दया का प्रभाव है। जैसे देव कृत परेवा के रक्षार्थ मेघरथ राजा ने अपना सर्वाङ्ग शिकारी के भक्षणार्थ अर्पण कर दिया, तो स्वभाविक सच्चे प्राणियों के रक्षार्थ दया धर्मी क्या कुछ भी नहीं करे? जितना बन सके उतना करने में कभी त्रुटि न रखे। उपरोक्त फल दया के प्रभाव से ही प्राप्त हुए न कि हिंसा से। प्रश्न व्याकरण के छुट्ठे अध्ययन में कहा है कि हे पूज्य! दया को धारने वाले कौन २ पुरुष हैं, वह पाठ यह है। " सव्वजग वच्छलेहिं तिलोगमहिएहिं "

भावार्थः—सम्पूर्ण विश्व के स्वामी और त्रिलोक में पूज्य तीर्थंकर महाराज स्वयं दया पालने के निमित्त प्रस्तुत हुए। इसी तरह सामान्य केवली मनः पर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, मति श्रुति ज्ञानी तथा लब्धिधर आदि जो २ दया धर्म में

उत्तम पुरुष हुए वे सब दया धर्म के ही वृद्धि कर्ता हैं। यह सब सूत्रों से निष्पन्न प्रति ध्वनित होता है। तीर्थंकर चक्रवर्ति वासुदेव, बलदेव आदि पदवीधर हुए यह सब संयम दया का प्रभाव है। हिंसा पूर्ण कृत्यों से किसी भी सिद्धान्त में किसी ने विजय प्राप्त की एसा कहीं भी दृष्टी गोचर नहीं होता। इसी कारण विश्वास पूर्वक दया धर्म सर्वोत्कृष्ट धर्म है, और आत्म भेद खुलने की दया रूप कुञ्जी है। क्योंकि दशवैकालिक सूत्र के छट्ठे अध्ययन की नवमीं गाथा में कहा है कि–

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिठा; सव्व भूएसु संजमो॥

भावार्थः-मोक्ष साधन करने के लिए दया धर्म का पहला पाया है। प्राणी मात्र की रक्षा करना यही संयम गुण धर्म की वृद्धि करने वाला है। यही समझ कर केवल ज्ञानोदय के समय ही भव्य प्राणियों को निम्नाङ्कित उपदेश किया है।

जावंति लोए पाणाः तस्सा अदुव थावरा।
ते जाण मजाणं वा; न हणे नो विघापए।

भावार्थः-दसवीं गाथा में कहा है कि हे धर्मार्थियों! इस लोक में जितने प्राणी हैं, वे त्रस और स्थावर दो जाति के हैं। उन सब को जान या अजान में किसी कार्य वश मत मारो, कभी मत मारो। अर्थात् दया करो। फिर उत्तराध्ययन के सत्तरहवें अध्याय की छट्ठी गाथा में कहा है कि जो साधु नाम धराकर हिंसोपदेश दे, वह महा पापी है।

समद् माणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्न माणे, पाव समणे त्ति वुच्चई॥

भावार्थः-जो पुरुष साधुत्व धारण कर पान, फल, फूल हरीकाय तथा बीजादि जाति की हिंसा करता है, तथा कराता है, या करने वाले का भला चाहता है, वह पापी श्रमण है। इसलिए दया श्रेष्ठ है।

ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खागेवा गिहित्थे वा, जे संति परि निव्वुडा॥

भावार्थः-उत्तराध्ययन के पांचवें अध्याय की अट्ठाईसवीं गाथा में कहा है कि जो २ धर्मार्थी साधु तथा गृहस्थ ये दोनों मोक्षार्थी संयम तप की आराधना कर मुक्ति पद के योग्य हो जाते हैं।

उपरोक्त विधान से गृहस्थों को भी तप संयम की दया करना बतलाया है। और आश्रव त्यागने के लिये कहा है। फिर जिनेश्वर देव की आज्ञा तो एकान्त निर्वद्य है, और भूत भविष्य तथा वर्तमान में-वही संवर करणी की बोधक होगी, किन्तु आश्रव स्थापनार्थ किसी तीर्थङ्कर ने कुछ नहीं कहा। सब जगह दया स्थापित की है।

सवणे नाणेय विण्णाणे, पचक्खाणेय संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धि॥

भावार्थः-भगवती जी में कहा है कि जो साधु मुनिराज की सत्संग करता है, (१)उसे सूत्र सुनने को मिलते हैं, (२) सुनने से ज्ञान प्राप्त होता है। (३)ज्ञान से विज्ञान अर्थात् अनुभव प्राप्त होता है, (४)अनुभव से त्याग, (५)त्याग से संयम गुण, (६)संयम गुण के फल से जिनाज्ञानुसार अनाश्रवी, (७)अनाश्रवी के फल से बारह प्रकार का तप आराधते हैं, (८)जिससे निश्चय कर्मों का निकंदन होता है, और (९) क्रिया रहित हो जाते हैं, (१०) तथा

सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार साधु मुनिराज के सहवास से दस फल प्राप्त होते हैं। इस लिए ज्ञानी पुरुषों के समागम का लाभ ज्ञान वृद्धि के साथ २ आत्म कल्याण दया, संयम और तप का लाभ दाता है। यह सूत्र वाक्य प्रसिद्ध है, और अज्ञानी वेषधारी माया, कपटी, पड्वाई रस लोलुप, छकाय के अहित वांछक, ऐसे भारी आश्रवी आरंभियों का सहवास उपरोक्त दस गुणों का नाशक और इनके विपरीत दस गुणों का उत्पादक दुर्गति दायक है। इस लिए उपरोक्त गाथा का सारांश यह है कि हिंसा बोधक की संगति नहीं करना चाहिए। अब हे धर्मार्थियों! दीर्घाश्रवी आरम्भ कर्ता का संग त्याग शुद्ध दया मार्ग भजो। फिर वीतराग देव ने मोक्ष मार्ग प्रकाशन में प्रथम षट् काय के हितेच्छु होकर दया धर्म में अपनी तथा पर प्राणी की दया बताकर फिर श्रावक धर्म और साधु धर्म के भेद बताये हैं। उसमें पूर्ण दया का समावेश होगया है। किन्तु केवल दया ही धारण न कर यह धारण करे कि सब सिद्धान्तों का सार ('आया भावं जाणंति तं सव्वं जाणई') जिसने अपने आत्मा का स्वरूप कार्मिक जगत् से पृथक समझा है, उसने सब कुछ समझा है। और जिसने अपने आत्मिक भाव को न समझा वह सब पदार्थों से अनभिज्ञ है और जगत् के पर पौद्गलिक भाव में रमता है। इसलिए हे भोले प्राणियों! वीतराग प्रभुने जगत् के भव्य जीवों को तिराने के लिए प्रथम दया धर्म का उपदेश दिया है। यह सब ध्यान में आते हुए भी इस प्रकार प्रतिकूल प्रवृति में फंसकर महा आरम्भ की आवृत्ति में आत्म साधन की कल्पना कर के उत्साह दिखाते हैं, यह कितना आश्चर्य है। फिर दशवै कालिक के चौथे अध्ययन में कहा है कि:-

जयं चरें जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥

भावार्थ-आठवीं गाथा में संयम धारी मुनि ने कहा है कि हे धर्मार्थी! छःकाय जीवों की रक्षा करने के लिए और तुम्हारे आत्मा को कर्म रूप बंधन से मुक्त करने के निमित्त मोक्ष मार्ग में यत्ना सहित चलने, खड़े रहने, बैठने, निर्दोष भाषा बोलने का हमेशा उपयोग रखोगे तो जीव हिंसा रूप पाप कर्म में न फंसोगे। इस गाथा का अर्थ विस्तार किया जाय तो उसका पार नहीं आसकता। इस लिए सुलभ बोधी सज्जनों को सच्चे ज्ञान से समझाने के लिए गणधर महाराज ने सर्वज्ञ केवली भगवंत की साक्षी से ये सिद्धान्त रचे हैं। इन सब का भावार्थ आदि से अंत तक सर्वथा एकसा है, और अंशमात्र भी फेरफार नहीं है।

परन्तु कालान्तर में केवल ज्ञानी महाराज के विरह के पश्चात् जिन २ आचार्योंने सिद्धान्त के आधार पर ध्यान रख अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए ग्रन्थों की प्रबन्ध रचना की है। उनमें कितना ही भाग तो मूल शास्त्रों के अनुसार रचा गया है, परन्तु देश काल की प्रवृति के अनुसार या पञ्चम काल के उत्पात से समझ में न आने अथवा अपने भरण पोषण में हरकत न होने देने आदि अनेक विचारों से प्रपञ्ची शब्दों का समावेश कर मूल शास्त्रों से बाहर अन्य करीब एक लाख और अड़तालीस हजार रचे गये हैं। उनमें से कितने ही ग्रन्थों में तो आरम्भ समारम्भ पूजन आदि का ही पाठ है। तथा कितने ही में सारंभ से गुरु भक्ति का समावेश किया है। कितने ही में पहाड़ पर्वतों को तीर्थों की

कल्पना कर मंदिर बनाने उसमें पाषाणादिक की प्रतिमा स्थापन करने में महान् फल दिखा महा आरम्भ का समावेश किया है। कितने ही ग्रन्थों में उपरोक्त तीर्थों की यात्रा करने से उस आरम्भ से प्राप्त लाभ का वर्णन किया है। इस प्रकार जिन २ ग्रन्थ कर्ता आचार्यों ने काल की महत्वता के अनुसार अपने तथा अपने सेवकों के मन को प्रसन्न रखने के लिए जो २ कारण प्राप्त होते गए, वे वे उनमें रखकर स्वेच्छा से ग्रन्थ रच २ कर उनका माहात्म्य बढाते गये। परन्तु उन ग्रन्थों में उन्होंने लोकोपयोगी व्यवहारों का समावेश किया उसी के साथ अपने शारीरिक सुख के लाभार्थ भी उपदेश देते गये। इस कारण मूल सूत्रों का भाग अल्प रह गया, और ग्रन्थों का व्यर्थ भाग बढ़ गया। इस स्थान पर उन धर्मात्माओं से कहने का तात्पर्य यह है कि उन आचार्य द्वारा लिखित मिश्र ग्रंथों का तथा गणधर महाराज द्वारा केवली महाराज की साक्षी से रचे हुए मूल सूत्र दोनों का परस्पर मीलान करें तो तत्काल भिन्नता सिद्ध हो जायगी। सारांश यह है कि अनन्त ज्ञान-शक्ति से जो सूत्र रचे हैं, उनसे आदि से अन्त तक निर्वद्य और निर्लेप सुख प्राप्त होता है, और कलिकाल के आचार्यों ने जो ग्रन्थ रचे हैं, उनमें जहां तक मूल सूत्रों का आधार रख कर रचना हुई है, वहां तक निर्लेप और निर्वद्य उपदेश दिया है, परन्तु जहां कलिकाल की प्रवृत्ति का स्वभाव उदय हुआ है, वहां सूत्र के विरुद्ध हिंसा उपदेश में पड़कर उपरोक्त ग्रंथों में दया रूप वाक्य तो बिल्कुल कम लाये हैं, और हिंसा वचन रचना में तो कुछ कमी नहीं रखी है। तब मित्रवर! उन ग्रन्थों को सिद्धान्त कैसे कह सकते हैं, यह विवेकी पुरुषों को ज्ञान चक्षुओं द्वारा विचार लेना चाहिए।

यहां तो हमारे कहने का केवल इतना ही तात्पर्य है कि जिन२ ग्रन्थों में जो २ बातें और जो २ अर्थ और जो २ शब्द मूल शास्त्र के उपदेश के विरुद्ध न मालूम हों, वीतराग भगवान् के निर्वद्य वचनोपदेशानुसार ही हो, वे ही सब मान्य है वे विद्वत्ता और स्वधर्म के पुष्टि कर्ता है। सारांश यह कि आचारांग सूत्र तथा नंदी सूत्र में कहा है कि जो मिथ्यात्वी सूत्र सम्यक्त्वी के हाथ में आजाय तो उसपर से भी जीव निर्वद्य उपदेश देकर धर्म को प्रदीप्त करें और दया का विस्तार करे।

कारण यह है कि सम्यक्त्वी के हाथ में आने से वेद, कुरान और पुरान सब सम्यक्त्वी शास्त्र हो जाते हैं। किन्तु इसके विपरीत ग्यारह अंग बारह उपांगादि जो सम्यक्त्वी सूत्र हैं, वे यदि अन्य दर्शनी के हाथ में चले जायं तो वे अत्यन्त निर्वद्य भाषा में होनेपर भी अन्य दर्शनी उन सूत्रों पर से सावद्य उपदेश देने लगजाते हैं। तब वे सूत्र भी मिथ्यात्वी के हाथ में जाने से मिथ्यात्वी हो जाते हैं। इसलिए हे मित्रों। जिन २ शास्त्रों के वाक्यों से निर्मल गुण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की पुष्टि होती है, वे सब वाक्य मान्य हैं—पूज्य हैं-कारण कि वीतराग प्रभु ने सब सूत्रों मे निर्वद्य उपदेश दिया है। अन्य मत के शास्त्रों में शुद्ध धर्म के साधनार्थ श्रीमद् भगवद्गीता के बारहवें अध्याय के तीसरे और चौथे श्लोक में कहा है कि:-

येत्वक्षर मनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्र गम चिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
सन्नियम्येंद्रिय ग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वे भूत हितेरताः ॥ ४ ॥

भावार्थः-जो सब प्राणियों का भला चाहने में हमेशा उद्यत हों और इन्द्रिय समुदाय का निग्रह कर सब पर समान दृष्टि रखें तथा आत्म भूत, अव्यक्त, सर्व व्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल ध्रुव ऐसे सुस्वरुप में ही रमण करें तो परमात्म पद प्राप्त हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज् ज्ञानात्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्म फल त्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥१२॥

भावार्थः-उसीका जन्म श्रेष्ठ है, जो आत्मिक सार्थतकता के लिए ज्ञानाभ्यास करेगा, क्योंकि उस ज्ञान वृद्धि के लाभ से महत् शुद्ध ध्यान प्रगट होगा। तथा शुद्ध ध्यान के प्रभाव से जन्मान्तर में उपार्जित कर्मों के फल का त्याग होगा। अर्थात् त्याग धर्म के प्रगट होने से ही मोक्ष धर्म प्राप्त हो जायगा। इसलिए ज्ञानाभ्यास करते समय शांत स्वभाव रहना प्राकृतिक है। और उस स्वभाव के कारण अपनी तथा सब जंतुओं की रक्षा किस प्रकार कर सकते हैं, यह अध्यो लिखित श्लोक से मालूम होगा।

अद्वेष्टा सर्व भूतानां, मैत्रः करुण एवच।
निर्ममो निरहंकार, मम दुःख सुखः क्षमी ॥१३॥

भावार्थः-जो ज्ञानी धर्मात्मा पुरुष हैं, उन्हें द्वेष नहीं रहता, वे सर्व भूतों पर मित्र भाव रखते हैं, और अहंकार तथा ममता भी नहीं रखते। जो सुख और दुख को समान गिनते हैं, तथा सर्वदा दया और क्षमा में मग्न रहते है। ऐसे पुरुषों का संसार से तिर जाना सहल है। फिर गीता के तेरहवें अध्याय का सातवां श्लोक इस प्रकार हैः-

अमानित्व मदं भित्वमाहिंसा चांति रार्जवम् ।
आचार्यो पासनंशौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

भावार्थ-हे अर्जुन ! जो निरभिमानी, अदंभी, अहिंसक शांत, क्षमावान, अपनी आत्मा को सदा शांत रखने में लीन रहे। जिन्हों ने धर्म का मार्ग बताया है, उन आचार्य की यथा शक्ति, त्रिकरण शुद्ध भक्ति करे । तथा मूल गुणों के आधार पर से अशुद्ध कर्मों पर विजय प्राप्त करें । ये सब गुण जिनमें हों वे सिद्ध गुणी ज्ञानी आत्मा है। फिर तेरहवे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक मे कहते हैं।

अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं, तत्व ज्ञानार्थ दर्शनं ।
एतज ज्ञान मिति प्रोक्तमज्ञानं पदतो ऽन्यथा ॥११॥

भावार्थः-जिनके विचार हमेशा अध्यात्म ज्ञान में लीन है, और जो तत्व ज्ञान के अर्थ के ज्ञाता हैं, वे ही ज्ञानी हैं। इसलिए हे अर्जुन ! इसके विना जो २ अनेक कार्य होते हैं, वे सब अज्ञानता के ही रूप हैं। फिर पन्द्रहवे अध्याय का ग्यारहवां श्लोक देखिये ।

यतंतो योगिनश्चैनं, पश्यंत्यात्मन्यन स्थितम् ।
यतंतोप्य कृतात्मानो नैनं पशंत्यचेतसः ॥११॥

भावार्थः-स्व तथा पर आत्मा का यत्न करने वाले योगी पुरुष अपनी ज्ञान बुद्धि में स्थित जीवों को हमेशा देखते हैं। वे पुरुष इस संसार में सर्वोत्कृष्ठ हैं। परन्तु जिन्होंने ज्ञानी बनकर अपने चित्त का साधन नहीं किया है, वे मूढ़ जड़ बुद्धि यतनावंत नाम धराकर भी अपने को तथा दूसरे को देखने में असमर्थ हैं। ऐसे अज्ञानी मोक्ष पाने के योग्य भी

नहीं है। फिर सोलहवें श्लोक के अध्याय के दूसरे श्लोक में संसार से तिराने वाले सद्गुणी पुरुष के लक्षण दिखाये हैं:-

अहिंसा सत्यमक्रोध स्त्यागः शांतिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्तं, मार्दवं ही रचा पलम् ॥२॥

भावार्थः-अहिंसा, जीवदया, सत्य, क्रोध हीनता, त्याग शांत स्वभाव तथा अपैशून्यता जिन्होंने त्याग दी है, तथा जो सब प्राणियों की दया पालते हैं, एवमेव अलम्पटी, मार्दव अर्थात् सदा निरभिमानी है, लज्जाशील, स्थिर स्वभाव तथा अचल हैं वे ही पुरुष तरण तारण हैं। इन गुणों से हीन कोई पुरुष तिराने वाला नहीं है। ऐसे पक्षपात हीन उपदेश वाक्य पर धर्मियों के प्रत्यक्ष शास्त्र में मिल जाते हैं। उपरोक्त श्लोकों का उपदेश जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों से मिलता हुआ समझ कर ये वाक्य धार्मिक पुरुषों के व्यवहार में लाने योग्य है। इसलिए जितने भी वाक्य पक्षपात हीन वाक्य हैं वे सम्यक्त्वी सूत्र के ही समझना चाहिये। परन्तु जो २ वाक्य सम्यक्त्वी ज्ञान शास्त्र के मत से भिन्न हों वे सब हेय हैं-त्यागने योग्य हैं। यह शास्त्रानुसार ज्ञान दृष्टि से विचार करने पर मालूम होता है। परन्तु किसी भी धर्म में दया के प्रतिकूल हिंसा बुद्धि से जीव का कल्याण होगा ऐसा नहीं कहा है। फिर तुम दया धर्मी नाम धराकर सब धार्मिक कार्यों में आदि से ही हिंसा का प्रतिपादन कर स्वात्म कल्याण के निश्चित लक्ष्य को पूर्ण करना चाहते हैं, तो जैन धर्म शास्त्र के अनुसार इसे सम्यक्त्वी नहीं कह सकते। क्योंकि समकित धारी ज्ञानी पुरुषों का निर्मल चित्त तो सदा प्राणियों के रक्षणार्थ ही उद्यत रहता है। यहां तक कि किसी भी प्राणी के प्राण बचाने में

नहीं हिचकता। यह शास्त्र से पूर्णतया सिद्ध है। परन्तु अथामति अत्यन्त गरम अग्नि रूप स्वभाव के वाक्यों से दया रूप बोध देने वाले उत्तम धर्मियों के सामने हिंसा प्रतिपादन करने के लिए अनेक कुतर्क सहित विवाद करने को तैयार होते हैं। और स्वाभिमानी होने के कारण हिंसा धर्म की पुष्टि करते २ वे वीतराग भाषित मूल शास्त्रों का भी उल्लंघन करजाते हैं। ऐसी अज्ञान वुद्धि रखने वाले हिंसा मतियों का जैन धर्म के मूल शास्त्रों की प्रणालि का देखने से तो सांसारिक दुःखों से मुक्त होना महा कठिन है। परन्तु अन्य धर्म शास्त्रों में भी कहा है—

अहंकारं बलं, दर्पं, कामं क्रोधं च संश्रिताः।
ममात्म पर देहेषु, प्रद्विषंतोऽभ्य सूयकाः॥ १८॥

भावार्थः-गीता के सोलहवें अध्यायके अठारहवें श्लोक में कहा है कि इस संसार में ज्ञानी मनुष्य मद और अहंकार से छक जाते हैं। और कहते हैं कि हमारी जाति उच्च है, सब से बड़ीहै। हमारा कुल श्रेष्ठ है, तथा हम बड़े धनाढ्य और कई शास्त्रों के पारंगत विद्वान हैं। इन कारणों से तथा अन्य कई कारणों से जिनका अन्तःकरण स्वाभिमान तथा काम राग से पुष्ट है, तथा जो स्वबुद्धि से ग्रहण किये हुए मार्ग पर आरूढ हो, अपनी महत्ता बढाने के लिए सब मनुष्यों के साथ क्रोध करते हैं। एवम् उपरोक्त दुराचरणों के आश्रव द्वारा शुद्ध श्रेष्ठ और निष्पक्षपात मार्ग की निन्दा करते हैं। वे निन्दक कुमार्गगामी मनुष्य स्वयं द्वेष रूप समुद्र में डूबकर उत्तम धर्मियों को भी डुबोना चाहते हैं इसलिए हे अर्जुन! वे प्राणी मेरे कट्टर द्वेषी हैं। ऐसा अन्य शास्त्रों में भी पाया जाता है

तो जैन शास्त्र ऐसे प्राणियों को धुतकारते हों, इसमें आश्चर्य ही क्या है?-नवीनता ही क्या है?

इस अवसर पर इतना ही कहना है कि इस प्रथम प्रश्न में दया-पालन का विवेचन शास्त्राधार से दिया है, जिसमें कितने ही अन्य शास्त्रों के श्लोक जैन शास्त्रों के वाक्यों से मिलते हुए समझ सूत्र वचन की पुष्टि के लिए लिखे हैं, किन्तु सब का मूल मतलब यही है कि जैन धर्म के मूल शास्त्र तो निर्वद्य उपदेश में ही रचे गये हैं। अन्य दर्शनियोंने षट् कायका आरम्भ करते हुए भी कितनी ही जगह उनके बनाये हुए ग्रन्थों में पक्षपात हीन बुद्धि से उनकी समझ के अनुसार दया पालने का उपदेश किया है। तब वीतराग प्रभू ने तो छःकाय के जीवों की रक्षा करने के लिए सिद्धान्तों में निष्पक्षपात देशना देने में कुछभी त्रुटि नहीं रखी है। यह सूत्रों के दया रूप वाक्यों और अन्य दर्शनियों के शास्त्रों से पुष्टि प्राप्त होती है। भगवान् वीतराग देव की आज्ञा दयामय है, परन्तु हिंसा करने की नहीं है।

" कय वलि कम्मा का प्रश्नोत्तर "

प्राचीन समय में कई धनाढ्य श्रावक गृहस्थ तथा कई देशाधिपति जैन धर्मी राजा थे। वे सद् गृहस्थ अपने रहने के लिए मकान बनवाते तथा सोने, बैठने, स्नान-मञ्जन करने, आभूषण पहनने आदि के भिन्न २ स्थानक बनवाकर अपना गृहस्थ धर्म निभाते थे। जब कभी उन गृहस्थों के घर माङ्गलिक कार्य होते तब प्रत्येक गृहस्थ स्नान गृह में आसनासीन होकर तैलादिक सुगंधित पदार्थों का अभ्यंग करवाते और नौकर लोग अनेक प्रकार के पानी से स्नान कराते थे। स्नान विधि से यही तात्पर्य है कि उनके शरीर को पुष्टि-प्राप्त हो, उनका बल वीर्य और पराक्रम बढ़े। इस विधि का जिन २ सूत्रों में वर्णन है, उसे " कय वलि कम्मा " कहते हैं। इस पाठ का अर्थ शरीर के बल को पुष्ट करना है, परन्तु यहां कितने ही मतावलम्बी पुरुष मिथ्यात्वोदय से आश्रव मार्ग की पुष्टि करते हुए ऐसा अर्थ करते हैं कि " उस घर के देव की पूजा करना " इस पर कितने ही अपने मत जंग में मस्त हो कुयुक्ति के साथ इसका ऐसा अर्थ रचते हैं, कि सम्यक्त्वी श्रावक के घर तो तीर्थङ्कर की प्रतिमा है। इसलिए श्रावक को घर के देव तीर्थङ्करों की प्रतिमा पूजना चाहिए। ऐसा लिखने वालों से केवल इतना ही कहना है कि तीर्थङ्कर महाराज ने व्यवहारिक भोगावली कर्म के पश्चात् वैराग्य दशा का लाभ प्राप्त कर अनित्य संसारी जनों को तथा चुनेहुए घर द्वार आदि को त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। पश्चात् चार घन घाती कर्म क्षय हो जाने से केवल ज्ञान प्रगट हुआ और चार तीर्थ स्थापित कर उनके हितार्थ उपदेश व्यवहारिक बन्धन से छुड़ाने लगते। एवम् शाश्वत् सिद्ध

पद रूप घर के वहां पहुंचाने का उपदेश देते हुए स्वयं वायु की तरह निर्बंध हो विचरने लगते थे, परन्तु किसी के मोह बंधन में नहीं फंसते थे । क्या उन तीर्थङ्कर महाराज के गृहस्थावास में रहने के लिए घर नहीं था, जिससे वे तुम्हारे भोवूं कुएं में आकर अन्याय पराधीनता वश तुम्हारी वज्राङ्गुली के ठोंसे खाने के लिये घर के देव बने रहते ? वे कभी किसी के वश में नहीं रहते । वे तो वीतः गतः रागः यस्य स "वीतरागः" अर्थात् जिस के राग द्वेषादि दूर होगये हैं, ऐसे वीत राग हैं । वे किसके घर के देव हैं ? जिन्होंने माता, पिता, स्त्री पुत्रादि का भी बन्धन नहीं रखा, तब क्या तुम उनके विशेष कुटुम्बी हो जो तुम्हारे लिए वे घरके देव बने बैठे रहें ? ऐसा कदापि नहीं हो सकता । जो देव घर द्वार के बन्धन में फंसकर घर में बिराजते हैं, वे पित्र, सती, कुलदेव, या देवी आदि व्यवहार भोगी देव हैं । कदाचित् इन्हें कोई घर में न पूजे तो उसे डरा धमका कर या छुवा फिरा कर भी घर में बैठते हैं । हां, ये तुम्हारे घर के देव हों तो इन्कार नहीं कर सकते । परन्तु वीत राग प्रभु तो जिस दिन से घर छोड़ा, उस दिन से विहार कर जिन २ शहरों में वे गये, वहां २ स्त्री पुरुष नपुंसक रहित बाहर उद्यान शाला, राज सभा प्रभृति निर्दोष स्थानों पर स्वतन्त्रता के साथ निर्बन्ध हो समोसरण में बिराजे हैं । परन्तु त्यागावस्था में किसी भी समय भोगियों के घर नहीं रहें । अंत समय विदेह युक्त हुए हैं जब से उन्होंने संयम लिया था, तब से शिवपद प्राप्त होने तक बाहर ही बाहर विचरे, किन्तु फिर कभी किसी के घर में आकर नहीं बैठे ।

फिर तुम जो घर में बिठाने का अर्थ लगाते हो तो वे देव

किस दशा के है ? हां तीर्थङ्कर की त्यागावस्था को घर में बिठाने के लिए कहोगे तो वहां पड़वाई होना सम्भव है, परन्तु हमारे ध्यान से तो अनन्त ज्ञानी तीर्थङ्कर महाराज अपड़वाई होते हैं। इस लिए वे घर में कैसे बैठ सकते हैं। फिर तुम्हारे घर में बैठे हुए देव को प्रतिमा कह सकते हैं, परन्तु तीर्थङ्कर देव कैसे कहें ?

(२) चले हुए विषय के शब्द का अर्थ तुम्हारे माने अनुसार देव पूजा हो तो कुल देवादिकों को सम्यक्त्वी श्रावक सांसारिक व्यवहारार्थ पूजे अर्चे, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? परन्तु इतना तो निश्चय है कि वे मोक्ष धर्म के लिए नहीं पूजते हैं। उदाहरणार्थ वर्तमान समय में कितने ही श्रावक व्यवहारी मनुष्य जगत् व्यवहारार्थ व्यवहारिक सुख के लिए विवाहादि प्रमोद महोत्सव में गणेश, भैरव, नवग्रह की तथा दिवाली में लक्ष्मी तथा सरस्वती का पूजन करते हैं, वे उस में कुछ मोक्ष खाता नहीं समझते। वे निर्जरा के लिए पूजन अर्चन नहीं करते हैं, यह निश्चित बात है।

(३) भरत चक्रवर्त्ती चक्ररत्न की पूजा करते हैं, यह सब व्यवहारिक खाता है, उस जगह का पाठ जम्बू द्वीप विज्ञप्ति सूत्र में देखें।

(४) ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्याय में अरणक श्रावक का अधिकार है। वहां अरणक श्रावक ने यात्रा के समय जहाज में बैठते समय भोगी देवों को बलि बाकले दिये और कई व्यवहारिक कार्य किये, वे भी व्यवहारिक सुख के लिए ही किये हैं, किन्तु निर्जरा के लिए नहीं।

(५) अन्तगढ़ सूत्र के तीसरे वर्ग के आठवें उद्देश्य में

भद्दलपुर नगर के रईस नागसेठ की स्त्री सुलसाने पुत्रेच्छा से कई दिन हिरणगमेसी देव की पूजा की वह भी सांसारिक सुखों के लिए ही की है। यों कितने ही स्थानों पर संसार व्य-वहार के लिए सारम्भी देवों की गृहस्थ लोग पूजा करते हैं, परन्तु तीर्थङ्कर तो सारम्भ से कभी पूजे ही नही जा सकते। मतलब यह है कि मूल से तो 'कयबलिकम्मा' शब्द काअर्थ देव पूजा करना नहीं होता। परन्तु इसका अर्थ तो स्नान गृह में शरीर की विभूषा शोभा तिलकादि करना बल पुष्टि के लिये होता है। जिसको सूत्र की साक्षी से कहते हैं।

(६) भरतेश्वर के स्नानाधिकार का सविस्तार से पाठ है। तहां कयबलि कम्मा शब्द बिलकुल नही है तब क्या वहां उनके घर के देव न थे? थोड़ासा विचार कर अर्थ करो तो मालूम होगा।

(७) उववाई सूत्र में कौणिक राजा के स्नानाधिकार में उप-रोक्त पाठ बिलकुल नहीं है। और कौणिक राजा को 'पेमाणु राग रत्ता' अर्थात् अत्यंत प्रेम से भक्ति रंग में लीन ऐसा कहा है। परन्तु कयबलि कम्मा का पाठ वहां नही है। तब उन्होंने किसकी पूजा की होगी? बात यह है कि सिद्धान्तों में जहां २ सविस्तार स्नान मज्जन का अधिकार चला है, वहां २ तो उपरोक्त पाठ नहीं है। और जहां २ विधि पूर्वक पाठ नहीं है, वहां २ उपरोक्त पाठ दे दिया है, इसलिए इस शब्द का अर्थ बल पुष्टि के लिए ही ठीक है।

(८) ज्ञाताजी के दूसरे अध्याय में भद्र सार्थ वाह की स्त्री का अधिकार है। वहां वह सार्थ वाहिनी पुत्रकामना से नगर बहि-र्स्थित नाग भूतादिकी सेवा मानता के लिए पूजा लेगई है।

वहां स्नान के समय सब पूजादि सामान वायव्य तट पर रख आप वावड़ी में उतरी और वहां स्नान करते समय कयवलि कम्मा का पाठ है तो वहां कौन से तीर्थंकर या देव की पूजा की ? अगर पूजा की भी हो तो किससे ? क्योंकि पूजापा तो सब वाहर रखा था, और पूजा विधि तो पूजापा से ही होती है, यह भी तुम लोग कहते हो। यदि उस समय जल की अञ्जली लेकर पूजा की हो, ऐसा तुम समझते हो तो वास्तव में तुम बड़े बुद्धिमान हो ! केवल जल अर्पण करदेने को ही पूजा समझते हो, मंजूर करते हो तो तुम्हारे मंदिर या घर मे बैठे हुए देवों को भी अञ्जली अर्पण कर क्यों नही वोसिराते। और इतने छःकाय के प्राण हरण का अन्याय क्यों करते हो। कारण कि धर्म खाते तो एक अंजली का आरंभ करना भी शास्त्र में नहीं कहा है, किन्तु फिरभी आप जैसे वाल मित्रों ने छःकाय के जीवों से कालान्तर का पूरा २ वैर लेना सोचा है। यही हमें प्रतीत होता है।

वहां भद्रा सार्थ वाहिनी ने वायव्य में पूजापा रखा, परन्तु उसमें अञ्जली आदि का जो तुमने वैष्णवों का उदाहरण दिया है, तव तुम्हारी और वैष्णवों की पूजन में क्या अन्तर है ? इस कारण तुमने उनका उदाहरण दिया है। इस उत्तर में तो तुम्हारे कथन से ही प्रगट होता है कि तुम भी भद्रा की भांति घर के देवों को जल देकर अपना समय वचाते हो।

ज्ञाताजी के सोलहवें अध्ययन में द्रोपदी के स्नानाधिकार के समय नग्न भाव के वहां 'कय वलि कम्मा' का पाठ है। जहां द्रोपदी स्वप्नावस्था के उत्पन्न हुए पाप को नष्ट करने के लिए व्यवहारिक स्नान मज्जन कर अर्थात् वल वृद्धि के लिए

अनेक प्रकार के जल से मज्जन कर माङ्गलिक व्यवहारादिक वस्त्र पहन स्वेच्छित फल पूर्ति के लिए घर के व्यवहारिक जिन देव की पूजन करने गई है। परन्तु स्नान के समय, 'कय बलि कम्मा' के स्थान पर तीर्थङ्कर या अन्य देव की पूजा करना कहते हो, यह सम्बन्ध कैसे मिल सकता है? पूजन करने के स्थान का मूल पाठ तो प्राचीन समय की लिखी हुई पुस्तक में इस प्रकार है—
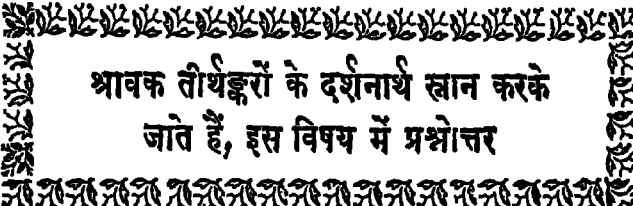
"जिण पाडिमाणं अच्चणं करेइ करेइत्ता,,

इस पाठ के अतिरिक्त मूल में नमोत्थुणं, चैत्त वंदन, प्रद च्छिणा। तिक्खुत्तो या सूर्या आभ देव की साक्षी का किञ्चित् भी पाठ नहीं है। कारण कि देहली में उदयचंदजी यति है, उनके पास छः सौ संवत् वर्ष का ज्ञाता सूत्र लिखा है। तथा कन्हैयालालजी गृहस्थी के पास भी कई वर्षों का लिखा हुआ प्राचीन ज्ञाता सूत्र हैं। उन दोनों का पाठ परस्पर मिलता है। इतना ही नहीं परन्तु वे सूत्र वहीं उपस्थित हैं, अतः जिन्हें देखने की उत्कण्ठा हो, वे देख सकते हैं। पश्चात् लिखे हुए ज्ञाताजी की प्रतियों में जो इतना परिवर्तन हो गया है, वह कल्पित है। राय प्रसेणी सूत्र में केशी स्वामी ने परदेशी राजा से किये हुए प्रश्न के उत्तर में कठियारे का उदाहरण दिया है वह कठियारा जंगल में दिन भर लकड़ी काटने के परिश्रम से थक गया तो, उसने भोजन बनाने के पहले यथोचित रीति से स्नान मंजन किया। वहां 'कयबलिकम्मा' का पाठ है। वहां घर देव या पर देव कौन आकर बैठे थे? जिनकी कि उसने पूजा की! इस का उत्तर आश्रव मति इस प्रकार देते हैं कि

वहां उसने उसके मान्य देव पूजे होंगे, इसमें क्या आश्चर्य है इस प्रकार अपने ही मुँह से वकालत करके कुतर्क उत्पन्न करना ठीक नहीं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आश्रव मीतयों ने छः काय जीवों के छेदने के लिए भयानक शास्त्र रूपी अन्याय को जन्म दिया है। कारण कि वे प्रत्येक वात में हिंसा की पुष्टि करने वाला विवाद आगे रखते हैं। यह कुछ कम आश्चर्य कारक बात नहीं है।

दीक्षा महोत्सव के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर

कितने ही मतान्ध हिंसा की पुष्टि के लिए ऐसा कहते हैं कि प्राचीन समय में अनेक गृहस्थों ने बहुत सा धन खर्च कर दीक्षा-महोत्सव में बहुत धन-खर्च करना, जिससे संयमार्थी की भक्ति होती है; यह वृथा वाद है। कारण कि परिग्रह को खर्च कर जो भाव बढ़ाना चाहते हैं, तो भावों के भण्डार नहीं भरे हैं, जो आरम्भ से निर्जरा रूप भावना का लाभ प्राप्त हो जाय। यह तुम स्वमति द्वारा क्यों नहीं विचारते, क्योंकि शुद्ध भाव या शुद्ध ध्यान ये दोनों तो ज्ञान दर्शन के उपयोग से ही बढ़ सकते हैं। इसलिए परिग्रह से आरम्भ कर संयमार्थी की भक्ति के लिए उपरोक्त भाव की आशा रखना यह बात-अज्ञान है। क्योंकि व्यवहारी लोग गृहस्थावास में शक्ति शाली हो तो स्वेच्छानुसार दीक्षा महोत्सव में खर्च कर चाहे उतना व्यवहारिक लाभ ले सकते हैं।

वे स्वेच्छा से चाहे सो करें, परन्तु यह कोई शास्त्र प्रमाणित निर्जरा का कारण नहीं समझना चाहिए। वैराग्यावस्था प्राप्त होने पर दीक्षामहोत्सव किया जाय अथवा न किया जाय, दोनों समान हैं। क्योंकि बिना दीक्षोत्सव के ही दीक्षित हो, तो क्या उनके चरित्र में कोई न्यूनता आजाती है? और महोत्सव करके जो दीक्षा लेते हैं, उनका चारित्र उच्च हो जाता है? यह कुछ नहीं है। क्योंकि संयति राजा, दशारण भद्र राजा, गौतमादि ग्यारह गणधर, भरतेश्वर, मरुदेवी माता ऋषभदत्त, देवानन्दा, आदि अनेक साधु साध्वी तथा अंतगढ़ केवल ज्ञानी हुए जिनके दीक्षा महोत्सव सिद्धान्तों में नहीं चले। परन्तु उन्होंने ज्ञान दर्शन के अवलम्बन से आत्म साधन किया है। भगवती जी के नवमें शतक के तैंतसि वें उद्देश्य में जमाली का दीक्षा महोत्सव हुआ है। परन्तु अन्त में वे पड़वाई हो गये तो यह सब पूर्वोपार्जित कर्माधीन है? इसी लिए महोत्सवादि व्यवहार संसार व्यवहार के लाभ की निस्सन्देह वृद्धि करने वाले हैं।

श्रावक तीर्थङ्करों के दर्शनार्थ स्नान करके जाते हैं, इस विषय में प्रश्नोत्तर

कितने ही भ्रम मति यह कहते हैं कि जब श्रावक भगवान् के दर्शनार्थ जाय, तब स्नान करके जाय। नहीं जाना भी अयोग्य है। उनसे कहना है कि हे आश्रव मतियों! जो मनुष्य सम्यक्त्वी या मिथ्यात्वी समोसरण में जाते समय स्नानादि क

शरीर की शोभा करते हैं. वे अपने गृहस्थ धर्म के लिए करते हैं। गृहस्थ को हमेशा व्यवहारिक शृंगार करना शोभा बढ़ाने वाला है, निर्जरा हेतु नहीं। क्योंकि सिद्धान्तों में जिन २ श्रावकों ने यथा शक्ति व्रत लिये हैं, उस समय संसार में रहने से जो २ नियम असिद्ध थे उनके लिए छूट रखी थी। परन्तु वह छूट धर्म खाते नहीं गिनाती थीं, इसलिए स्नान करके जायं तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। हां अपने पास बत्तीस असज्झाइयों में से एक भी असज्झाई न हो तो स्नान न करते हुए जाने में भी क्या हानि है ? इसपर थोड़ा सा विचार तो करो। भगवती सूत्र के बारहें शतक के पहले उद्देश्य में सावत्थी नगरी के निवासी शंख नामा श्रावक पौषध शाला से पौषध में ही भगवान् वीर प्रभु को समवसरण में वंदन करने गये थे। वहां भगवंत ने शंखजी को उत्तम जाग्रना जग रहे हैं, ऐसा कहाथा। उस समय शंख श्रावक जी विना स्नान किये ही गये थे। इसलिए यहां विशेष यही कहना है कि श्रावक धर्म पालने वाले गृहस्थों ने जो २ सागारी व्रत लिये हैं, उन व्रतों को शुद्ध श्रद्धा से आराधते हुए वे रखी हुई छूट के आरम्भ को दिन प्रति दिन त्यागने का विचार करते हुए विचरें, परन्तु उन आरम्भों को पुष्ट न करें। विना कारण से निरारंभी रह सके तो ऐसे विचार कार्य रूप में परिणित करने में भी न चूकें। ऐसा करने पर वे श्रावक बहुत वर्ष तक सामान्य श्रावकत्व पालते हुए भी उत्कृष्ट-श्रावक का धर्म पालन करना चाहें, तो ग्यारह श्रावक की प्रतिमा अङ्गीकार करें। और उसमें यह विशेषता रखें कि बारह व्रत स्वीकार करते समय जो छःछंडी के आगार रखें हैं, उन्हें पहली प्रतिमा आदरते समय त्यागदें। यों चढ़ते २ छट्टी प्रतिमा के समय स्नानादिक कितने ही छूटे व्यवहार भी त्यागदें, और श्रावक कर्म

करते रहें। ऐसी प्रतिमा धारण करने वाले गृहस्थ स्नानानादिक न करने से तुम्हारे से तुम्हारे कथनानुसार समवसरण में नहीं जा सकते। इस स्थान पर तुम्हारे विरुद्ध विचारों से जाना जा सकता है कि तुम ऐसे निराश्रवी पाठ के उदाहरण सुनकर अत्यन्त लज्जित होओगे। कारण कि जिन २ गृहस्थों के व्यवहार का अनुकरण कर संसार के लिए किए हुए आरम्भ की रीति के पाठ सन्मुख रखते हो, उस समय तो तुम्हारे स्वभाव से यही प्रगट होता है कि तुम षद् काय के जीवों से अनभिज्ञ हो। तब क्या समय २ पर आरम्भ बढ़ाते जांय ऐसा मानते हो ? प्राचीन काल के श्रावक गृहस्थों ने ज्ञान वैराग्य से कितनी ही वस्तुओं का त्याग किया और धर्म ध्यान ध्याते समय उत्पन्न हुए देव परिषह को सहा। इस प्रकार श्रावक का उत्कृष्ट कर्तव्य श्रावक को न बतलाते हुए नाचना, कूदना, खाना, पीना, गाना, बजाना, शोभा शृंगार करना हमेशा चाहते हो, तो क्या सिर्फ संसार के लाभ की ही इच्छा रखते हो।

दोहा

जब लग तेरे पुण्य का, पहुंचा नहीं करार।
तब लग तुझ को माफ है, अवगुण करो हजार।

भावार्थः-ए अज्ञानी मित्रों ! तुम्हारे मन में तो विश्वास होगा ही, परन्तु अब निश्चय कर लेना कि जब तक पूर्वोपार्जित पुण्य उदय में है, तब तक जड़ मति स्वेच्छा से धर्म विरुद्ध चलते नहीं चूकते। क्योंकि किये हुए कर्मों का अपराध क्षमा होगया होगा, ऐसा समझते हो। परन्तु जब समय पक जायगा, तब वीतराग प्रभू के अमूल्य दया रूप वाक्य याद आयेंगे।

प्रतिमा देखने और वंदन करने से सम्यक्त्व प्रगट होना है, इस विषय में प्रश्नोत्तर

कितने ही विवेक हीन मिथ्यात्वोदय से ऐसा कहते हैं कि प्रतिमा देखने, वंदन करने, एवं पूजने, से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। परन्तु ऐसा कहना वृथा है। कारण कि सम्यक्त्व प्राप्त होने का मार्ग तो शास्त्र में ज्ञान द्वारा बताया है। क्यों कि इस अनित्य अन्यायी संसार की ज्वाला में अनन्त काल से सम्यक्त्व के विना मिथ्यात्व धर्म की प्रबलता के कारण जन्म, जरा और मृत्यु करता हुआ यह जीव परिभ्रमण करता है। और अनन्त क्रोड़ जन्मान्तर में रमते हुए तथा अनेक प्रकार के कष्टों से 'अकाम निर्जरा करते हुए प्रवृत्ति करण का सुअवसर हाथ आता है। फिर अनन्त करोड़ अशुभ कर्मों का नाश होने से अपूर्व करण का समय मिलता है, उस अपूर्व करण की उदयार्थी में ग्रन्थी भेदकर तीसरे अनिवर्ती करण प्राप्ति के समय में द्रव्य भाव गुरु के आश्रय से यह जीव सास्वादन सम्यक्त्व छोड़कर रही हुई चार सम्यक्त्वों में से कोई एक प्रकारकी समकित प्राप्त करता है। परन्तु उस समय प्रतिमा मिलने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है, ऐसा तो समझ में नहीं आता।

उपासक दशाङ्ग सूत्र में आनन्द श्रावक को प्रथम मिथ्यात्व वोसिराने के समय श्री महावीर स्वामी का समागम मिला है। उस समय उन्होंने यथोचित रीति से पद वंदन कर त्रिकरण शुद्ध भाव से सेवा कर सागार अणगार धर्म का

उपदेश सुन, फिर उठकर विनय पूर्वक नम्रता के साथ भगवान् को कहने लगे कि हे भगवन् ! मैंने निर्ग्रन्थ के प्रवचन " सद्दहामि जाव रुययामि " ऐसा कह कर " एवंमेय भंते तहमेयं भंते " अर्थात् जैसा आप फरमाते हैं, वैसा ही निराश्रवी निर्ग्रन्थ का धर्म है । और वैसा ही मैं श्रद्धान करता हूं । ऐसा कहकर फिर कहते है " देवाणुपियाणं अन्तिए बहवे जाव मुंडे भवित्तानो खलु अहं तहा संचाएमि " अर्थात् आपके पास बहुत से हलुकर्मी दीक्षित होते हैं,किन्तु मैं असमर्थ हूं। इसलिए मैं आपके पास श्रावक के बारह व्रत आदरना चाहता हूं । ऐसा कहकर विधि सहित सब व्रत अंगीकार किये। फिर "आणंदे समणोवासए जाव अभिगए जीवाजीवे उवलद्धे पुण्णपावे " । अर्थात् सम्यक्त्व सहित बारह व्रत लेनेके पश्चात् भगवान् कहते हैं कि आनंद श्रावक का जन्म हुआ अर्थात् मिथ्यात्व में से शुद्ध समकित धर्म में पैदा हुआ। और जीवादिक नव पदार्थ का ज्ञाता बना यों सागार गृहस्थाश्रम के निभने योग्य आगार रख श्रावक धर्म के योग्य व्रत धारण किये और " जाव " बारहवें व्रत मुनियों को आहारादि कल्पते दान देने आदि सब नियम लिये । हां, आश्रव मत-सारम्भ-धर्मार्थ कुछ मन्दिर प्रतिमा बनाऊं, बनवाऊं, या बनाने वाले को अच्छा समझूं इसकी मर्यादा आनंद श्रावक ने व्रत लेते समय न की परन्तु द्रव्य तथा भाव से सम्यक्त्वाराधन तो अवश्य किया।

सातवें व्रत में छब्बीस बोल की मर्यादा प्रतिदिन श्रावक धर्म में भोगोपभोग में आने वाली वस्तुओं की, परन्तु घर

मन्दिर या बाहर के मन्दिर के लिए कुछ भी मर्यादा न रखी। क्योंकि सम्यक्त्व धारी होने से निरर्थक आरम्भ कर अनर्थी दण्ड का भागी बनना ठीक न समझा। हां, किसी समय वे कुलाचार वश कुल धर्म के देवों की कारणादि आजाने से भोगोपभोग से सेवा करें पर वे कुल धर्म के निरपराधी देवों को तुम्हारे अनुसार प्रतिदिन न सतावें। इसलिए आनंद श्रावक ने यह व्यर्थ का आश्रव वोसिराकर नित्य कर्म अर्थात् हमेशा सत्य धर्म सामयिकादि पौषध विधि आदि निर्जरा हेतु करने में न चूकें और मृत्यु समय सब आश्रव वोसिरा कर पहले देव लोक पहुंचे। इसी प्रकार पीछे के नो आश्रवों की विधि समझ कर विवेकियों को इसे सम्मान देना चाहिए जिससे आनन्दश्रावक की भांति समकित्व प्राप्त हो।

इसी प्रकार भगवती सूत्र के अठारहवें शतक के दशवें उद्देश में सोमल ब्राह्मण, सावत्थी नगरी के रईस श्रावक, तुंगिया नगरी के रईस श्रावक, राय प्रसेणी में चित्त सार्थी तथा परदेशी राजा, राज ग्रही में सुदर्शनादि अनेक श्रावक, द्वारामती के यादव वंशी श्री कृष्णादि, विशाला नगरी के चेड़ा राजा, काशी कौशलादि के अठारह राजा, संयति, सुलसा, मृगावती इत्यादि अनेक श्रावक और श्राविकाएं धर्माचार्यों से उपदेश सुन सम्यक्त्वी या नियम धारी बनी है, और स्वयं वोधी तीर्थङ्करो ने स्वयं उपदेश लिया है। प्रत्येक बुद्ध हुए वे चर्म शरीरी हैं, जिन्होंने किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष देख सम्यक्त्व या आश्रव मार्ग त्याग साधु बन धर्म साधन किया है। श्रावक श्राविकाएं भी सम्यक्त्व पाने से सदा धर्मोपदेश सुन बन सके उतना आश्रव त्याग पौषध प्रति क्रमण उपवासादि उत्तम कर्म कर मनुष्य जन्म का लाभ लेने में नहीं हिच

किचाती हैं। वे सब प्राप्त ज्ञान की प्रबलता से समकित सहित निराश्रवी करणी करके लब्ध समकित की मुराद पूर्ण करती हैं। परन्तु उपरोक्त श्रावक श्राविकाओं ने सम्यक्त्व पाने के लाभ से तुम्हारे समान हठ वादिता धारण कर आश्रव मार्ग की पुष्टि नहीं की है। उन्होंने श्रमणोपासक नाम धराया यह सिद्ध है, और सूत्रों में भी सविस्तृत वर्णित है। किन्तु किसी भी सूत्र में मूल, अर्थ, टीका, चूर्णी भाषा, निर्युक्ति, न्याय भेद, संगीत, प्राकृत, तथा संस्कृत में ऐसा नहीं लिखा है, कि वे मन्दिरो पासक या पाषाणो पासक थे। तब क्या तुम्हारी ही मति इतनी मंद होगई है, जो श्रमणोपासक नाम होते हुए भी प्रतिमा, मंदिरादिकों के आश्रय के लिए सम्यक्त्व प्राप्ति की विरुद्ध रीति बतलाते है?

समकित प्राप्ति के ६७ भेद हैं। उनमें मंदिर प्रतिमा का तो कोई कारण नहीं है। फिर पूर्वाचार्यों के रचे हुए आगम सारादि ग्रन्थ जिनमे निष्पक्ष उपदेश दिया है, उनमें सम्यक्त्वो दय होने का क्या कारण बताया है? यह तो देखो! उन्हीं आचार्यों ने सावद्य मार्ग की स्थापना करने के लिये एवं भव भ्रमण प्राप्त करने के लिए पाषाणादि के पाठ बढ़ाये तो वे किस दशा को प्राप्त हुए होंगे? यह सिद्धान्त पाठ या निष्पक्ष-पात ग्रन्थों की सहायता से स्वपक्ष की दृढ़ता प्रत्यक्ष सिद्ध करके बताओ।

भगवती जी के अठारहवें शतक के सातवें उद्देशे में मंडूक श्रावक ने सम्यक्त्व धारण की। उसी प्रकार उत्तराध्ययन के बीसवें अध्याय में अनाथी मुनि के उपदेश से राजा श्रेणिक ने मिथ्यात्वत्याग सम्यक्त्व ली। वहां भी श्रेणिक राजा ने गुरु मुख के धर्मोपदेश की प्रशंसा की है। यह विचार करने पर

तत्काल मालूम हो जायगा। उसी राजा ने सम्यक्त्व पाने से पहले अनाथी मुनि के नाथ होने आदि भूल से जो जो वाक्य कहे थे, उनके लिए क्षमा प्रार्थना की है। कारण कि त्यागी के लिए भोगामंत्रण सर्वथा अयोग्य है। इसलिये क्षमाये है। इसका विस्तार पूर्वक खुलासा आगे दिया है।

ज्ञाता सूत्र के बारहवें अध्याय में जीत शत्रु राजा सुबुद्धि श्रावक की सहायता से सम्यक्त्वी हुए हैं। उस राजा ने धर्मेच्छा के समय सुबुद्धि श्रावक से कहा कि " इच्छामिणं देवाणु पियाणं तवअंतिए जिणवएणं निसामित्तए " अर्थात् हे देवानु प्रिय ! तुमसे केवली प्रणीत धर्म सुनने की इच्छा रखता हूं। राजा के ये वचन सुनकर श्रावक धर्मोपदेशना देने लगे।

तएणं सुबुद्धि अमच्चे जियसत्तुस्सरन्नोविचित्रं केवली,
पण्णत्तं चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ तमाइक्खेइ जहाजीवा।
बुज्झंति जावपंच अणुवयाणि तएणं जिय सतुराया।
सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा जावसे जहेयंतुब्भे वदह।

भावार्थः-सुबुद्धि श्रावक का उपदेश सुनकर अंतमें जित शत्रु नृपति कहते हैं, कि हे श्रावक ! मैंने तुम्हारे वचन श्रद्धा पूर्वक सुने। आदि कहकर राजाने सुबुद्धि श्रावक से सम्यक्त्व धर्म था योग्य रीति से आश्रव त्यागा। परन्तु तामस गुणियों की भांति आश्रव नहीं बढाया।

श्री सूय गडांग सूत्र के दूसरे श्रुत स्कंध के सातवें अध्याय में श्रावक के गुणों के विषय में कहा है कि-

अप्पेच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्मा-णुया, सामाइयं, देसावगासियं पुरत्था पाईणं पडीणं दा-हिणं उदीणं एतावता जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्ते हिं दण्डेहिं णिक्खत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमं करेह अहं असि ।

भावार्थः-श्रावक जब सम्यक्त्व दशा प्राप्त करता है, तब वह व्रत प्रत्याख्यान करके निर्ममत्व भाव में संतोष मानता है। तब वह अल्पेच्छा, अल्पारंभ, अल्प परिग्रह, सुशियल सुवर्ती धर्मीष्ट, धर्मवृत्ती सामायिक तथा दशवा दिशावगा-सिक व्रत ग्रहण करता है और पूर्वादि चारों दिशा की सीमा नियत कर पश्चात् धर्म ध्यानारूढ़ होता है। किसी भी प्राण जीव, भूत और सत्वको आप नहीं मारता, दूसरों से नहीं मरवाता और मन, वचन, काया से यथा योग्य उच्च परि-णाम रखकर सब जीवों पर क्षमा करता है । ये सम्यक्त्व धारी श्रावकों के गुण हैं। ऐसा करने वाले श्रावक ही पूर्ण वैरागी कहे जाते है। इतना होते हुए भी तुम 'देवों के प्रिय' स्नेही तो छःकाया के प्राण लेने के लिए इतने उत्सुक हो कि उपरोक्त गुण धारी श्रावक तुम्हारे अघोर कृत्यों को देखकर महान् आश्चर्यान्वित होते हैं, क्योंकि कलिकाल के मनुष्यों की कर्म करणी के आगे उनकी रखी हुई छूटका आश्रव तो एक तिनके के समान है। यह तुम्हारे आश्रव स्वभाव के लिए आश्चर्य प्रदायक है।

सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी की अल्पता और बाहुल्यता

कितने ही अज्ञानी मनुष्य कहते हैं कि हमारे सत्य धर्म के प्रभाव से हमारे धर्म में बहुत मनुष्य हैं, और बहुत मनुष्य होते रहते हैं। उनके प्रश्नोत्तर में यह कहना है कि एक चौ-बीसी के सरल उदाहरण पर ध्यान दो। प्रथम आदिनाथ से महावीर स्वामी तक तथा तीसरे आरे से पांचवें आरे तक सम्यक्त्वी जीव कम और मिथ्यात्वी जीव अनन्त गुने थे। जब सब सूत्रों की प्रणालिका पर ध्यान देकर विचार करते हैं, तो भूत, भविष्य और वर्तमान काल में सम्यक्त्वी जीवों से मिथ्यात्वी जीव अनन्त गुने दृष्टि गत होते है। कारण कि पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, छः सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय ये सब मिथ्यात्वी हैं। परन्तु गर्भज तिर्यञ्च में सम्यक्त्व धारी थोड़े और मिथ्यात्वी असंख्य गुने हैं। इसी प्रकार नारकी में तथा चार जाति के देवता में सम्यक्त्वी से मिथ्यात्वी असं-ख्य गुने हैं। एकसो एक क्षेत्र मनुष्य के, उनमें छप्पन अन्तर द्वीप के युगलियाओं को छोड़ कर शेष अकर्म भूमि तथा कर्म भूमियों में सम्यक्त्व धारी कम और मिथ्यात्वी असंख्य हैं। तात्पर्य यह है कि सब समय में सम्यक्त्वी थोड़े और मिथ्यात्वी अधिक होते हैं। अर्थात् आश्रव मार्ग की तो वृद्धि ही होती है।

दृष्टान्त-नेमिनाथ भगवान् के समय यादव वंश में छप्पन करोड़ यादव और साढ़े तीन करोड़ कुमार ये दसाधिपों के

परिवार के इतने पुरुष और कृष्णादि सब की मिलाकर बहुत सी स्त्रियां होतीं हैं। परन्तु इनमें पुरुष और स्त्रियां सम्यक्त्व धारी कम और मिथ्यात्व रमणी बहुत हुई? तभी यादवों ने मदिरा पान कर द्वीपायन ऋषि को संताप दे द्वारिका के नष्ट होने का समय ला दिया।

वीर परमात्मा तो केवल ज्ञान के साथ संशय रहित उपदेश देते थे। उनके उपदेश के समान अन्य सद् गृहस्थों का उपदेश किञ्चित भी प्रभावोत्पादक नहीं होता। उनका इतना प्रबल प्रभाव होते हुए भी वीर के रागी श्रावक एक लाख और ५६ हजार सम दृष्टि थे। गौशाला के ग्यारह लाख सेवक सुनने में आते हैं। अहा! मिथ्यात्व की कितनी विशेषता है? इस लिए वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखने वाले उत्तम दया धर्मी तो प्रत्यक्ष ही अल्प दृष्टि गत होते हैं। तथा आश्रव निपुण विकल स्वभाव वाले षट् काय के मारने वाले तप्त स्वभावी तो आखिर निगोद तक अनन्त गुणे भरे हैं। सारांश यह कि जो तत्व मार्ग हैं, उसमें से तो रस पान करने वाले ही रसपान कर तृप्त रहते हैं, और आश्रव मतियों के सचल चित्त को भेदने वाले, बाईस परिषह के झपाटों से वे पीछे पांव न दें, तथा निर्मल मति, निश्चल चित्त से सम्यक्त्व मार्ग को अनुसरते हुए विचरते हैं। इसलिए वे अल्प हैं। मिथ्यात्व मतियों की वृद्धि का कारण यह है कि कोई भी बहाना बनाकर स्वच्छन्द चलना या जिस मार्ग में किसी भी परिषह का उपसर्ग न हो, उसी मार्ग में लग जाना। इसी प्रकार कल्पित भोगोपभोग लेने की आशा से कितने ही भोले प्राणी उस मार्ग में अनादि काल से फंसे थे, वे अब भी वैसाही समझें तो इस में क्या आश्चर्य है?

दृष्टांत-खास सोने के सिक्के के रुपये दस, आधे रुपये बीस, पावले चालीस, दुअन्नियें अस्सी और आने एकसौ साठ ? यों नीच वस्तु होती गई कि वृद्धि भी होती गई। परन्तु स्वाभिमानी कहते हैं कि हमारा धर्म बहुत फैला हुआ है, इसलिए हमारा धर्म श्रेष्ठ है। यह तो अपने मुंह मिया मिट्ठू बनना है। परन्तु शास्त्राधार से तो दिन प्रति दिन सुशास्त्र सुसाधु, इसी प्रकार शुद्ध दया धर्म काल के महात्म्यानुसार कम होता जायगा और कुशास्त्र फितुरी, कुसाधु, आश्रव धर्म का विशेष विस्तार तो पञ्चम आरे के मध्याह्न तक रहेगा। परन्तु उत्तम वीतराग धर्म के आराधिक भरत ईरवर्त में प्रथम प्रहर में ही लय हो जायंगे। ऐसा शास्त्रोक्त कथन है, इसलिए हे ग्रन्थावलम्बि ! बाल मित्रो ! व्यर्थ घमंड छोड़ो और स्वकल्याण का मार्ग पकड़ो।

नमोत्थुणं के भेद के प्रश्नोत्तर
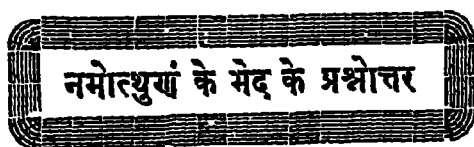
कितने ही अज्ञानाश्रवी हिंसारूढ़ि को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि जिन प्रतिमा की पूजा करते समय द्रौपदी ने नमोत्थुणं कहा है। इस लिए वह सम्यक्त्वी थी, और उसने ऐसा निर्जरा के लिए कियाथा। बात यह है कि विवाह के समय सांसारिक कारण से प्रतिमा पूजकर नमोत्थुणं दिया होता तो वहां ऐसा पाठ होता " लच्छी दयाणं राज दयाणं जस्स दयाणं सुख भोग दयाणं" अर्थात् लक्ष्मी राज्य सुयश,

व्यवहारिक सुख, और मनेच्छा को तृप्त करने वाले विषय भोग के दातार हो। ऐसा पाठ द्रौपदी कहती। किन्तु ऐसा कहा क्योंकि वह सम्यक्त्व धारीथी, और सुबुद्धि से वह पाठोच्चार किया।

अब दया धर्मी कहते हैं कि हे विकल मति बन्धुओ! तुम्हारे कथानुसार ऐसा मालुम होता है, कि सम्यक्त्वी या मिथ्यात्वी, भवी या अभवी ये सब नमोत्थुणं के पाठ भिन्न २ बोलते होंगे। परन्तु ऐसा नही समझते।

सीधी रीति से समझो, क्योंकि इस विषय में हम कयबलि कम्मा के उत्तर में लिख चुके हैं कि पुरानी प्रतियों में द्रौपदी ने नमोत्थुणं आदि "जाव सुरिआभे" इतनी साची लिखी है, वह बिलकुल नहीं है, और नई प्रतियों में यह साच ठूंस दी है, ऐसा सम्भव होता है। इसी प्रकार तुमने कितने ही मूल सूत्रों में कल्पित पाठ की पब धर घुसेड़ी है। क्योंकि द्रौपदी ने नमोत्थुणं सूरिआभ देव की तरह कुछ भी किया होगा ऐसा प्रतीत नहीं होता। हां, तुमने सूरिआभ की साची देते और नया पाठ घुसेड़ते समय कुछ भी विचार नहीं किया। देव काल में सूरिआभ देव और विजय पोलिया नमोत्थुणं इत्यादि पाठ कहते ठहरा कर सस्यक्त्वी और मिथ्यात्वी में भेद दिखाते हो, भला यह क्या करते हो ? सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी ने नमोत्थुणं कहते समय तुम्हारे ज्यों पाठ फिराया है, कि जिससे विरुद्ध रीति से भेद दिखाते हो। परन्तु शास्त्रानुसार यों समझना कि सूरिआभ वैमान में बारह बोलके सूरिआभ उत्पन्न होते हैं, वे भवी अभवी इत्यादि बारह बोल वाले समान ही नमोत्थुणं देते हैं, और वहां सम्यक्त्वी मि-

थ्यात्वी का कुछ भी भेद नहीं है। परन्तु तुम्हारे लिखे अनुसार देखने से तो तुम्हारा मत और तुम्हारा नमोत्थुणं भी उपरोक्त शब्दों के मुआफिक भिन्न मालूम होता है। इसलिए हे भ्रमित बन्धुओ ! जिस कृत्यकी दूसरे विशेष कृत्य से समानता करना हो तो वह समानता समान पदार्थ से की जाने पर योग्य समझी जाती है। क्योंकि गणधर की उपमा गणधर से और सामान्य साधु की सामान्य साधु से दी जा सकती है। तीर्थङ्कर को तीर्थङ्कर की, सिद्ध को सिद्ध की, चक्रवर्ति को चक्रवर्ति की, वासुदेव को वासुदेव की, बलदेव को बलदेव की, ये सब उपमाएं सामान्य आकृति वालों को या सामान्य कर्तव्य परायणों को दी जाती है। परन्तु द्रौपदी ने जो कार्य नहीं किया, वह सूरि आभने किया। अर्थात् सूरि आभने बत्तीस पदार्थों का पूजन किया, परन्तु द्रौपदी ने नहीं किया। तुम कहते हो कि वैसा किया तो यह सम्बन्ध कैसे मिल सकता है ? इसलिए भोले भाले लोगों को नया पाठ रखने का पता न होने से वे अवश्य भ्रान्ति जाल में फंस जाते हैं, और सम्यक्त्व सहित कृत्य करते २ हिंसा रूपी आवरण से आच्छादित हो जाते हैं। इसलिए ऐसी भ्रान्ति न रखते हुए नमोत्थुणं की एक ही रीति सिद्ध होती है, और सम्यक्त्वी तथा मिथ्यात्वी के लिए भिन्न नमोत्थुणं शास्त्र में बिलकुल नहीं है।

अब इस प्रश्नोत्तर से मति विभ्रमी मनुष्य आशंका करते हैं, कि नमोत्थुणं का पाठ नहीं चाहिए, और नमोत्थुणं बिना सम्यक्त्वी के और कौन कह सकता है ? तुम तो पाठ होते हुए भी उसको उड़ाते हो।

अरे निरर्थक विवादियो ! इसके प्रत्युत्तर में इतना ही कहना है कि यथार्थ श्रद्धा विहीन नमोत्थुणं से ही सम्यक्त्वी

नही कह सकते हैं । क्योंकि सम्यक्त्व श्रद्धा विहीन नमोत्थुणं के ज्ञाता तो बहुत से हैं, तो क्या नमोत्थुणं के ज्ञाताओं को तुम अपनी श्रद्धानुसार सम्यक्त्वी मानते हो ? परन्तु ऐसा न समझना चाहिये । मतलब यह है कि केवल नमोत्थुणं पढ़ जाने से शास्त्रानुसार कभी सम्यक्त्वी नही ठहर सकता । अनुयोग द्वार सूत्र में ऐसा कहा है कि

" जे इमे समण गुण मुक्क जोगी छक्काया निरणुकंपा ।
हयाइव उद्दामा गयाइव निरंकुसा घट्ठा मट्ठा ॥
कुप्पोट्ठा पंडूरपमं पाउरण जिणाणं अणाणाए सच्छंद ।
विहरिउणं उभओकालं, आवस्सयस्स उवट्ठंति । "

भावार्थः-कोई साधु मूल या उत्तर गुण महाव्रत सुमति गुप्ति आदि सब नियम ग्रहण कर फिर पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से पड़वाई हो, त्याग देते हैं । कारण कि वे परिषह से हायमान परिणाम लाकर संयम से विरुद्ध बर्ताव करते हैं, उन वेष धारियों के अंतःकरण से दया लुप्त हो जाती है। वे घोड़े की तरह पेर फटकारते हैं, इरिया सुमति को त्याग कर चलते हैं, वक्र हाथी की भांति वीतराग के आज्ञारूप अंकुश का भय न रख, अपनी इच्छानुसार वस्त्रादि द्वारा शरीर की शोभा सुश्रूषा कर मस्तक के केश संभाल, केसू के फूल की तरह पीले रंग से सुशोभित रहते हैं । वे जिनाज्ञा के बाहर हैं ।

ऐसे पड़वाई दोनों वक्त नमोकारादि छः आवश्यक करते हैं, तो भी वे निर्दय पुरुष आज्ञा के विरुद्ध हैं । क्योंकि द्रव्य आवश्यक के कहनेवाले नमोत्थुणं आदि सर्व कर्तव्य साधु धर्मानुसार करते हुए भी सम दृष्टि की गणना में नहीं आ सकते हैं । तो तुम केवल नमोत्थुणं शब्द

को पकड़कर हिंसा धर्म की स्थापना करना चाहते हो यह कितनी मूर्खता है।

फिर नंदी सूत्र में कहा है कि दस पूर्व से चौदह पूर्व तक पढ़ने वालों की बुद्धि सुलटी होती है, और नो पूर्व पढ़ने वालों की सुलटी और उलटी दोनों होती है। इस पर से यह समझा जाता है कि अधिक सूत्र ज्ञान आदि पढ़ते है, तो भी मिथ्यात्व बुद्धि रह जाती है, तो फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है? जिस प्रकार देवता जिन प्रतिमा के सामने नमोत्थुणं आदि व्यवहार क्रिया करते हैं, उसी प्रकार द्रौपदी ने भी विवाहोत्सव में व्यवहार क्रिया की तो उसके कृत्य को देखकर मुग्ध दशा के वश दिग् मूढ़ से क्यों बनते हो?

फिर कहते हैं कि सम्यक्त्वी देव जिन प्रतिमा पूजन के समय नमोत्थुणं कहते है, और मिथ्यात्वी देव, वेद, कुरान, पुरान तथा चंडी पाठ पढ़ते है, तो क्या यह परस्पर मत भेद होगया है? ऐसा तो किसी जैन शास्त्र में नहीं है, फिर भी तुम अपने मत से हिंसा पुष्ट करना चाहते हो, इसलिये तुम्हारे कार्यो को धिक्कार है?

हे अबुधों! जिन प्रतिमा नमोत्थुणं इत्यादि शब्द देख कर ही जब तुम भड़क जाते हो, तो जैन शास्त्र में तो कई प्रकार के शब्द हैं, जिन्हें देखकर सुध भूल जाना और प्राणियों के प्राण लेने को तैयार हो जाना यह जैन धर्मियों का लक्षण नहीं है। क्योंकि व्यवहारिक क्रिया में तो सिद्धान्त के पाठ अधिक उपयोगी हो जाते हैं। परन्तु कर्म निर्जरा के लिए तो सम्यक्त्वावस्था में ही ये सिद्धान्त उपयोगी हो सकते है। प्राचीन समय में किसी गृहस्थ ने सांसारिक व्यवहारार्थ शास्त्र

के पाठ कहे हों उन्हें मोक्षार्थ गिन लेना उचित नहीं । क्योंकि भगवती जी के बारहें शतक के पहले उद्देशे में शंख श्रावक ने निर्जरा हेतु पौषध धारण किया है, जिसका पाठ निम्न प्रकार हैः-

जेणेव पोसह सालाए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पोसह सालं अणुप्प विसंति पोसह सालं पम्मज्जइ २ त्ता उच्चारपासवण भूमिओ पडिलेहेइ २ त्ता दभ संथारगं संथरइ २ त्ता दभसंथारगं दुरूहइ २ त्ता पोसह सालाए पोसहिए बंभ परिस्स उमुकमाणि सुवण्णस्स वव गय मालावण्णगविलेवणस्स णिक्खित्तसत्थ मुसलस्स एगस्स अवि तियस्स दभ संथारोवगयस्स पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणे विहरइ ।

भावार्थः—जहां पौषध शाला है, वहां आकर उसमें प्रवेश कर उसे पूंज लघु नीत वृद्ध नीत की भूमि का परिमार्जन कर दाभ के संथारे का प्रति लेहन कर उसको बिच्छाकर बैठ गये । वे उस शाला में ब्रह्मचर्य सहित पौषध करते समय मणि सुवर्णादि पुष्प सचेत और अचेत अकल्पनीय सब सावद्य वस्त्रादिक त्याग अकेले निर्भय हो दाभके संथारे पर बैठ पक्ष सम्बन्धी पौषध के प्रत्याख्यान ले धर्म जागरण करते हुए विचरने लगे । उन्होंने यह सब कर्म की निर्जरा के लिये किया है, ऐसा समझना चाहिए । परन्तु इसमें शंख श्रावक की कल्पना मात्र भी व्यवहार के लिये न थी ।

अब इसी पौषध विधि के पाठ को लेकर कहना है कि

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में भरत महाराज के बयान में माग-धादि तीर्थ देवों को साधने के लिए अट्ठम पौषध कर बैठने की आवश्यकता हुई, वहां भरत महाराज भी यही पाठ विधि सहित बोलेहैं। इसलिये इस समय यह पाठ संसार खाते के लिये बोला गया ऐसा समझना चाहिए।

इसी प्रकार कृष्ण वासुदेव ने गजसुखमाल कुंवर के जन्म के पहले हरिणैगमेषी देव को आराधने के लिये द्रौपदी को लेने के लिये जाते समय समुद्र किनारे लवणाधिपति को साधने के लिए अट्ठम पौषध विधि की है। वह ज्ञाता सूत्र और अंत-गढ़ सूत्र में देख लेना। इसी प्रकार ज्ञाताजी के प्रथमाध्ययन में अभयकुमार ने धारणी माता के लिये मेघ का दोहलो पूर्ण करने के लिए पूर्व सम्बन्धी मित्र देव को आरा-धते अट्ठम पौषध विधि की वह भी सब विधि शंख श्रावक की तरह की तो क्या तुम्हारे मतानुसार शंख श्रावक की क्रिया जैसे पाठ देखकर सब निर्जरा हेतु सिद्ध हो जायंगे या लौकिक व्यवहार खाते सिद्ध होंगे। चक्रवर्ती आदिने पौषध किये वे सिर्फ देवों को आराधने के लिये विशेष अभिग्रह के कारण किये किन्तु विधि की एक रीति देखकर इन्हें निर्ज-रा के लिए नहीं कह सकते। क्योंकि इन चक्रवर्ती की भांति कितने ही मनुष्य सम्यक्त्वी होते हुए भी सांसारिक कारणों के लिये देवताओं को आराधते हुए महान् कष्ट सहते हैं। परन्तु शंख श्रावक ने तो निर्जरा के लिए यह उत्तम क्रिया की है। उनके पाठ और दूसरों के पाठ एक से हैं। इसलिए ऐसे पाठ देखकर विचार करने से फौरन ध्यान में आ जाय-गा। इसी प्रकार द्रौपदी और सूरिआभ देव के पूजा के समय

का दिया हुआ नमोत्थुणं का पाठ निर्जरा हेतु ठहरा कर मुग्ध मनुष्यों के मण्डल को भ्रम में डाल रखा है, इससे मति-विभ्रम मनुष्यों की मूर्खता प्रत्यक्ष सिद्ध है । तो भी कहना पड़ता है कि नमोत्थुणं कहने से एकान्त समदृष्टि नहीं हो सकते। कारण कि भगवती शतक के बारहवें उद्देशे में अनंत खुता के बयान में सब जीव भवनपती से नवग्रहीवेग तक अनन्त समय उत्पन्न हुए । जिससे बारह देवलोक तक राजनीति साधते हुए अनेक समय नमोत्थुणं के पाठ कहे सो नमोत्थुणं के पाठ से ही समदृष्टी नहीं हो जाते हैं । मनुष्य भव में अभवी तथा मिथ्यात्वी बहत्तर कला पढ़कर तथा स्त्रियां ६४ कला निपुण हो जैन शास्त्र या मिथ्यात्व शास्त्र की कितनी ही रीतियें जानी जा सकती हैं । उसमें नमोत्थुणं आजाय तो पढ़ती हैं, जिससे क्या वे सम्यक्त्वी हो जाती हैं ? वर्तमान समय के कितने ही अंग्रेज जैन शास्त्रों को शुद्ध कर इतना ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, कि जैनियोंसे उनके किये हुए अंग्रेजी में प्रश्नों का उत्तर देना भी कठिन हो जाता है । तब ऐसे कोमल मति विद्वान् अंग्रेज़ों को तो तुम तप्त स्वभावी अपने सहधर्मी ही गिनते होओगे ? परन्तु विश्वास रखो कि कहीं से ज्ञान सूत्र प्राप्त कर लेने पर वे कदापि सम्यक्त्वी नहीं हो जाते । इसी प्रकार द्रौपदी और सूरिआभ देव भी 'नमोत्थुणं' कहने से एकान्त सम्यक्त्वी नहीं कहे जा सकते।

फिर इस स्थानपर यह कहना है कि ज्ञाता जी की नई प्रतियों में द्रौपदी के अधिकार में 'नमोत्थुणं' का पाठ दृष्टि गोचर होता है ।

परन्तु भड़ोंच शहर के भण्डार में ताड़पत्र पर लिखा हुआ ज्ञाता-सूत्र सात सो वर्ष का है । उसमें भी 'कय बलि कम्मा'

के प्रश्नोत्तर में लिखे अनुसार पाठ है। इसलिए प्राचीन पुस्तकों के आधार से ज्ञात होता है कि यह विशेषण काल्पनिक और किसी आचार्य का रखा हुआ है। इसी प्रकार नमोत्थुणं का पाठ कहने से सम्यक्त्वी भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दिल्ली वाले उदयचंदजी यति के पास की तथा कन्हैयालालजी के पास की, और भड़ोंच भण्डार की ताड़ पत्र पर लिखी हुई प्रति ये तीनों अति ही प्राचीन प्रतियें हैं। जिनमें द्रौपदी के विषय में उपरोक्त दिया हुआ पाठ ही है। इसलिये सूरिआभदेव की समानता कैसे सिद्ध हो सकती है? फिर देवताओं के नमोत्थुणं के पाठ उनके जीत व्यवहार में गिने जाते हैं। इसी प्रकार द्रौपदी की पूजा कुल धर्म में गिनी जानी चाहिये। इसलिए शब्द को देखकर छल में आजायं, उनसा अज्ञानी और कौन है! कारण कि संवर करणी के पौषध और व्यवहार के पौषध एक से हैं। उसी तरह संवर में दिया हुआ नमोत्थुणं और व्यवहार के नमोत्थुणं का पाठ समान ही है। परन्तु निर्जरा मार्ग तो भिन्न ही है। यह तुम्हारे मतानुकूल नहीं है, क्योंकि तुम्हें तो आश्रव से कर्म बंधन बांध कर नाट्य शाला में नाटक करना है और निर्जरा करने वाले को व्यवहारिक कारण त्याग कर एक आसन से धर्म ध्यान करना है? इन दोनों विचारों में परस्पर मतभेद है, इसलिए धर्मियों की करणी और तस स्वभाववालों की करणी समान नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक समय द्रौपदी और सूरि आभदेव का आधार लेकर आरम्भ समारम्भ स्थापित करते हो, परन्तु तनिक विचार तो करो कि द्रौपदी को विवाह के समय सम्यक्त्वी क्यों गिनते हैं? ज्ञाता सूत्र में तो उस समय सम्यक्त्वी नहीं कहा है। इसलिये द्रौपदी के

विवाह में तो वह समकित धारिणी नहीं थीं, और तुम कहते हो कि थीं, यह अघटित वात है । क्योंकि कुमार्यावस्था में नाम संस्करण के समय' दोवई दारिया" ऐसा पाठ है । इसी प्रकार प्रतिमा पूजन के समय व द्रौपदी स्वयंवर मंडप में आई तव " दोवई रायवरकन्ना " ऐसा पाठ दिया है, और पांचों पाण्डवों के साथ विवाह हो गया तव उसको " दोवई देवी " कहा है। फिर संसार व्यवहार के भोग भोग कर अंत में दीक्षित होने के लिए संसार त्यागा तव "दोवई अज्जा" ऐसा पाठ है परन्तु " दोवई समणो वासिया " ऐसा पाठ नहीं है। इसलिए प्रतिमा पूजन के समय द्रौपदी सम्यक्त्वी होती तो ' साविया ' ऐसा पाठ होता । क्योंकि पूर्व समय में जो २ स्त्रियां गुरु तथा गुरुणी के पास सम्यक्त्वी हुईं व व्रत लिये उस समय उन्हें सिद्धान्तों में ' साविया ' कहा है। इसी प्रकार पुरुष को भी ' समणोवासय ' कहा है। तव कहने का अर्थ यही है कि द्रौपदी की पूजा आदि सव व्यवहार लौकिक हैं, किन्तु लोकोत्तर नहीं। हां, विवाह के पश्चात् उसका सम्यक्त्वी होना संभव है, तथा उसमें सूरिआभ देव की साक्षी देते हो तो क्या तुम्हें चौवीस तीर्थङ्करों के संख्यातीत श्रावक श्राविकाओं में से साक्षी देने योग्य कोई भी उदाहरण नहीं मिला ? जव कि तुमने अव्रती अप्रत्याख्यानी सूरिआभ का उदाहरण उपस्थित किया। क्या तुम्हें इस चौवीसी में प्रतिमा पूजने वाली द्रौपदी ही दृष्टिगत हुई ? किन्तु तुम तो इधर उधर के गप्पे मारकर सावद्य कर्म की पुष्टि करना चाहते हो। परन्तु शास्त्र कहते हैं कि हिंसा करने वाले के कृत्यों का

फल जब उदय भाव में आवेगा तब महा पश्चाताप करना पड़ेगा। ऐसा जानते हुए भी तुम हिंसा पुष्टि करते हो तो क्या लाभ प्राप्त करोगे ? विवेकी इसपर अवश्य विचार करें।

—:O:—

पहाड़ पर्वतों की यात्रा के विषयमें प्रश्नोत्तर

कितने ही स्वभान भुले हुवे तप्त स्वभाव वाले मनुष्य कहते हैं कि संघ निकाल कर शत्रुंजय, गिरनार, आबू, तारंगा, गोड़ी, सम्मेद शिखर, केशरियाजी आदि तीर्थ भूमि की यात्रा के लिये पर्यटन करने जाना महा निर्जरा का कारण है। तथा इससे मनुष्य जन्म जीतव्य सार्थक होता है, यह कथन सर्वथा मिथ्या है।

ऐसे भ्रमित सज्जनों से कहना है कि यात्रा करने से लाभ प्राप्त होता है, ऐसा अन्य दर्शनी कहते हैं, और दर्शनी ही वेद, धर्म, शास्त्र तथा श्रुति के पंडित इसका खंडन भी करते हैं। जैसा कि कितने ही अन्य दर्शनियों के मूल शास्त्र देखने से सिद्ध होता है।

उदाहरणार्थ पांचों पांडवों ने श्रीकृष्ण से आज्ञा चाही कि हे राज्य मुकुट मणि ! आपकी आज्ञा हो तो हम ६८ तीर्थ यात्रा करने जावें ? इसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने ज्ञान दशा पर विचार कर कहा कि मेरी एक तूंबी भी साथ लेते जाओ। यह कह कर एक कड़वी और कच्ची तूंबी उनको दी। पांडव उस तूंबी को लेकर सब तीर्थों की यात्रा कर वापस श्रीकृष्ण के पास आये, और वह तूंबी श्रीकृष्ण को लौटा दी। उस समय

पंडित मंडली में बैठे हुए श्रीकृष्ण सभा में पांडवों को उपदेश देने के लिये शस्त्र से उस तूम्वी को काटडाली और उसका पांडव आदि सव सभा के लोगों को प्रसाद बांट दिया। तथा स्वयं ने भी थोड़ा सा हाथ में रखकर छुपा लिया । पांडवादि सभा के सभी लोगोंने उस तूंवी का महाप्रसाद मुंह में डाला तो कटु होने के कारण थूंक दिया। तव पांडवों को श्रीकृष्णने कहा कि हे पांडवो ! यात्रा की हुई तूंवी को मत थूंको । तव पाण्डवों ने कहा कि यह वहुत कटु है, इस लिये थूंक दी। उस समय श्रीकृष्ण कहते हैं कि क्या तुमने इसे यात्रा नहीं कराई? जो अभी तक इसके स्वभाव में कडुवापन मौजूद है ? तव पाण्डवों ने कहा कि महाराज हमारी अपेक्षा तूंवी को अनेक तीर्थस्थानों में स्नान-मज्जन का अवसर मिला है। किन्तु तूंवी की कटुता आभ्यन्तरिक कटुता होने के कारण उसका कडुवापन नहीं मिटा । तव इसमें हमारा क्या दोष है? उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि तूंवी तो जड़ पदार्थ है, उसमें से भी कडुवापन नहीं मिटा तो तुम विवेकियों के हृदय से कडुवापन गया या रहा ? परन्तु विचार करने से ज्ञात होता हैकि तुम्हारे अन्तःकरण से भी कडुवापन नहीं गया । इस लिये हे सुज्ञ पांडवो ! यात्रा करने, नदी सरोवर में पड़ने, तथा अनेक प्राणियों के प्राण लेने एवम् रास्ते चलने से जो थकावट मैल या पसीना उत्पन्न होता है, उससे वाहरी गंदगी दूर हो जाती है, किन्तु आन्तारिक मल मूत्र, शुक्र, खून, रसी आदि अनेक प्रकार की गन्दगी तो सव तीर्थों में सौ वक्त, लाख वक्त स्नान करने से भी नही मिट सकती। शरीर हमेशा अशुद्ध है। इसलिये तीर्थ जल से गन्दी देह भी शुद्ध हुई तो अज्ञान आत्मा हमेशा क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, और राग द्वेषादि

अनेक विकारों के बंधन में फंसी हुई है, तो वह यात्रा और तीर्थों के जल से कैसे शुद्ध हो सकती है।

अब पांडव पूछते हैं कि हे कृपानाथ! यात्रा स्नान का फल कैसे सफल हो सकता है! फरमाइये।

आत्मा नदी संयम तोय पूर्णा, सत्यावहा शीलतटादयोर्मि।
तत्राभिषेकं कुरु पांडु पुत्र, न वारिणा शुध्यति चांतरात्मा॥

भावार्थः- आत्मा रूपी नदी जो संयम अर्थात् पाप टालने के नियम रुप जल से भरपूर भरी है, जिसमें सत्य रुपी प्रवाह प्रवाहित होता है, जिसके शील रुप दो तट अर्थात् किनारे हैं, हे पांडु पुत्र! उसमें स्नान करो, किन्तु जल-स्नान से अन्त-रात्मा शुद्ध नहीं होगी।

चित्तमंतर्गतं दुष्टं, तीर्थ स्नानैंन शुद्धति।
शतं तद्धि जने धौतं, सुराभांड मिवा शुचि॥

भावार्थ-हे युधिष्ठिर! अंतर में चित्त दुष्ट है, वह तीर्थोदक में सो वार स्नान करने से भी पाप रूपी मैल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता। जैसे मदिरा के बरतन को सो बार जल में स्नान करावें तो भी शुद्ध नही होता, इसी तरह हमेशा वह भी अशुद्ध ही रहता है।

मृदो भारसह श्रेण, जल कुंभ शतेन च।
न शुद्धति दुराचारः स्नानस्तीर्थ शतैरपि॥

भावार्थः-हजार वक्त मिट्टी का लेपन कर सौ २ घड़े पानी से स्नान करें तो भी यह अपवित्र शरीर शुद्ध नही होता। इसी तरह खराब आचारवाले निर्दय स्वभाव से तीर्थों में सौ २ वक्त स्नान करें तो भी कभी शुद्ध नहीं हो सके।

आरम्भे वर्तमानस्य, मैथुनाभिरतस्य च ।
कुतःशौचं भवेत्तस्य; ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥

भावार्थ-प्राण वध के आरम्भ में हमेशा रहें और मैथुन सेवन में उद्यत रहें, तो हे युधिष्ठिर ? वे ब्राह्मण भी कैसे शुद्ध हो सक्ते हैं ?

कामरागमदोन्मत्ता; ये च स्त्रीवशवर्तिनः ।
न ते जलेन शुध्यंति; स्नातास्तीर्थशतैरपि ॥

भावार्थः-हे युधिष्ठिर ! जो काम राग आदि से मत्तगजेन्द्र-वत् अर्थात् हाथी की तरह मदोन्मत्त है, और सदा स्त्री के वश में होकर विषयादि की वृद्धि करते हैं, वे दुष्ट सो बार तीर्थ यात्रा या स्नान करें, तो भी कभी शुद्ध नहीं हो सकते हैं। जैसे गधी को सौ बार साबुन लगाकर गंगास्नान कराया जाय तब भी वह घोड़ी नहीं हो सकती । इसी प्रकार अज्ञानी दुष्ट स्वभाव त्यागे विना तीर्थादि स्थानों में पर्यटन करें तो सब वृथा हैं।

यों अन्य दर्शनी भी यथा योग्य ज्ञानाभ्यास के लाभ बिना की हुई तीर्थों की यात्रा अमान्य करते हैं, और इसलिये उप-रोक्त आदेशानुसार उनके आत्म सुधार के लिये यथोचित रीति भी प्रति पादन करते हैं ।

ऐसे ही अन्य दर्शनियों में तत्त स्वभावियों के मित्र बंधु भी हैं। क्योंकि वे अन्य दर्शनी तत्त स्वभाव वालों की भांति मुसा-फिरी करके दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ते। तीर्थादि नदी नालों में और अन्य स्थानों में आत्म कल्याणार्थ दौड़ २ कर जाते हैं। और डुबकियें लगाकर चले आते हैं। बहुत सा द्रव्य भी खर्च

करते हैं। किन्तु उनके मूल ज्ञान धर्म में तो देशाटन करके तीर्थ यात्रा करने की सख्त मनाई है।

देखो जैन धर्मियों के सिद्धान्त शास्त्रों में वीतराग देव ने पक्ष-पात रहित आत्म कल्याण का सच्चा मार्ग दिखाया है। उस पर ध्यान न देते हुए जो विपरीत मार्ग से चलते हैं वे कितनी भूल करते हैं। क्योंकि ज्ञाता सूत्र के पांचवे अध्याय में सुखदेवजी सन्यासी ने थावरचा मुनि से प्रश्न किया कि हे स्वामिन्! आपमें यात्रा है? इस प्रश्न के उत्तर में थावरचा मुनि कहते हैं कि हे सुखदेवजी।

"जणं मम नाणदंसणचरित्ततव संजममाइहिं जो एहिं जवणा से जत्ता।"

भावार्थः-जो श्रमण सब प्राणियों पर सम दया रूपी मन रखता है और ज्ञान दर्शन चारित्र तप इन चारों के साथ संयम ग्रहण कर सदा सर्वदा यतना-दयाभाव उपयोग सहित निश्चल चित्त से आत्म धर्म का आराधन करता है। वही शुद्ध यात्री है-और आराध्यपथ ही शुद्ध यात्रा है। यह थावरचा मुनि ने नेमीश्वर गुरु के उपदेशानुसार सुखदेवजी से कहा परन्तु पहाड़ों के पत्थरों से सिर फोड़ने से यात्रा सफल होती है, ऐसा मूल सूत्रों मे किसी भी जगह नही लिखा है।

आवश्यक सूत्र की तीसरी गुरु वंदना में लिखा है कि "जत्ताभे जवणीं जंचभे" भावार्थ-हे गुरु! आप यात्रा सहित हैं। हे पूज्य! आपने पांचो इन्द्रियों के विकार जीते हैं। यों शिष्य ने बहुत ही मान भक्ति के साथ किये हुए अपराध क्षमायें और फिर यात्रा के लिये विवेचन किया कि हे गुरु आप ज्ञानवान् हैं, जो आपकी कृपा से मुझे ज्ञान दशा

प्रगट हुई आप दर्शन में निश्चल हैं, अर्थात् शुद्ध सद्दहणा आस्था तथा जिनाज्ञा में स्थिर आत्मवान हैं, वैसा ही मुझे भी कर दिया। हे गुरु! आपने चारित्र गुण से सावद्य आश्रव को त्यागा और मुझे भी आश्रव त्यागने का उपदेश दे निहाल किया। इसी भांति हे गुरु! आप तप गुण से पूर्वोपार्जित कर्म क्षय करते हैं और मेरे पूर्वोपार्जित कर्म क्षय कराने के लिये प्रस्तुत हुए हैं। आपने पञ्चेन्द्रिय विकार का निग्रह किया है, और मुझे भी निग्रह के लिये उपदेश दे रहे हैं, इस लिये आप मेरे परमोपकारी हैं। यदि आपकी किसी प्रकार अशातना-अभक्ति हुई हो तो मैं शक्त्यनुसार क्षमा चाहता हूं। अब ऐसे पक्षपात रहित पाठ में गुरु गुण का समावेश हैं, जिसमें भावों से पूरी २ यात्रा हो जाती है, तो भी हे पहाड़ावलम्बियों! कासीदों!! यात्रियों!!! यात्रा के गुण जाने बिना देशाटन का स्वेच्छा से छः काया का आरंभ करते हो तो क्या तुम सिद्धान्त के आधार से ऐसा करते हो? देखो भगवती सूत्र के अठारहवें शतक में महावीर स्वामी ने सोमल ब्राह्मण को ऐसी ही निर्वद्य यात्रा बताई है।

इसी प्रकार श्री निरयावलिका सूत्र के तीसरे वर्ग में श्री पार्श्वनाथजी ने सोमल ब्राह्मण को ऐसी ही निर्वद्य यात्रा समझाई है। परन्तु देशाटन करने से यात्रा का फल नहीं बताया। तोभी हे वज्रकर्मियों पामर अज्ञान पीले तिलक के मंडल को कार्मिक तीर्थों के पराक्रम-फल दिखाकर पहाड़ २ घूमाते हो तो वे परभव में अवगुण कर्त्ता होंगे या नहीं? कुछ तो विचार करो।

ऐसी कार्मिक यात्रा की पुष्टि करने के लिये शत्रुंजय पर्वत की महिमा बढ़ाकर शत्रुंजय माहात्म्य नाम का ग्रन्थ

रचकर तुमने भोले सेवकों को भरमाया है, और उस ग्रन्थ में ऋषभदेव तथा महावीर का नाम देकर कहा कि पुंडरीक गणधरने शत्रुंजय की महिमा पूछी और ऋषभदेव ने उत्तर दिया। इसी तरह यावत् महावीर स्वामीने गौतम के सामने शत्रुंजय माहात्म्य कह दिखाया, और ऋषभदेवने शत्रुंजय की ९९ यात्रा की। शत्रुंजय पर्वत शाश्वत है। वह समस्त पर्वत अनंत गुण का भंडार है, तथा सब तीर्थों का राजा है। वह प्रथम पचास योजन का था, और उसका शिखर दस योजन लम्बा था। वह छट्ठे आरे मुंड हाथ के अनुसार रहेगा। इत्यादि कितनी ही अकल्पनीय बातों से ग्रन्थ बना शत्रुंजय यात्रा की महिमा बढ़ाई है। यह कुछ मूल सूत्रों में नहीं है। मूल सूत्रों में तो हस्ति- कल्पनगर से " अदुर सामंते " अर्थात् अति समीप भी नहीं और अति दूर भी नहीं। जहां शत्रुंजय पर्वत लिखा है, वहां तीर्थ यात्रा करना ऐसा तो लिखा नहीं है। हां, वहां साधु महापुरुष संथारा कर मोक्ष (देवलोक) पधारे यह बात मंजूर है। परन्तु उस पर्वत पर पांचो पांडव बीस करोड़ साधुओं के साथ सिद्ध हुए ऐसी बहु संख्या तथा सब साधु श्रावक वहां यात्रा करने गये, ऐसी गवाही मूल शास्त्रों के पाठ में किसी भी जगह नहीं मिलती। फिर हम उनसे इसका उदाहरण पूछते हैं, तो तप्त स्वभाव वाले क्लेश रूपी दाखला देनेको तैयार होते हैं। वे बन्धु अज्ञानता की वृद्धि करते हैं। अंग्रेजों ने भी जैन धर्म की कई पुस्तकों का संशोधन कर शत्रुंजय के बारे में यही लिखा है कि शत्रुंजय जैन धर्मियोंके प्राचीन समय के महात्माओं का

मृत्यु-स्थान है। जैन सूत्र ज्ञाताजी, अंतगढ़जी आदि कितने ही मूल सूत्रों में अंत क्रिया के समय "जाव सितुंजए सिद्धा" लिखा है। अर्थात् जिन चर्म शरीरी महात्माओं ने इस असार संसार को छोड़ा उन्होंने उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और नियम आदि सर्व आत्मिक धर्म का आराधन किया और अंतमें श्वास चलने से चलने फिरने में शरीर से अशक्त हुए तो गुरु से आज्ञा ले शत्रुंजय पर्वत पर संथारा कर अंत समय में केवल ज्ञान दर्शन प्राप्त कर सिद्ध हुए। 'जाव' शब्द का यह अर्थ है कि जिस प्रकार थावरचा मुनि, सुखदेव मुनि आदि सिद्ध हुए उसी भांति यह भी हुए। इसलिए अंत क्रिया के समय में तो शत्रुंजय पर संथारा करने गये लिखाहै, यह योग्य भी है, कारण कि एकान्त भूमि के बिना शुद्ध ध्यान नहीं बन सकता। इसलिये वस्ती से अलग जाना तो शास्त्रों में हैं, किन्तु पीले रंगीन वस्त्र वाले तो षट् काय का प्रारंभ करते हुए आप स्वयं पहाड़ पर भटकने जाते है, और मंद बुद्धि वालों को भटकाते है। परन्तु पूर्व काल के महात्माओंने अपने तथा दूसरों के लिये अज्ञानता धारण कर सावद्य उपदेश नहीं दिया। क्योंकि वे पूर्वकाल के महात्मा आत्म साधन करते, ज्ञान दर्शन में उपयोग लगाते स्वयं यात्रावंत ही थे। उनके उपयोग से शुद्ध यात्रा क्षण मात्र भी दूर नहीं रहती थी। ऐसी शास्त्रों में पूर्ण साक्षी है। जिसका कारण यह है कि पूर्व समय में वीतराग देव आदि सर्व धर्म धुरंधर पुरुष आत्म कल्याणार्थ उपयोग लगाकर अपनी अनादि काल की अज्ञानता राग द्वेषादि सर्व मिथ्यात्व जड़ता से मुक्त होने के लिये एकाग्र ध्यान से ज्ञान दर्शन आदि आत्मिक गुणाराधन की यात्रा करतेथे और ऐसी यात्रा में कोई मरणान्तिक उपसर्ग आजाता तो वे महा शूरवीर और साहसवान होकर हाय-

मान परिणाम न लाते। मेरु की तरह अडोल रहते थे। ऐसा शास्त्रों में कहा है। तुम्हारी मानी हुई यात्रा सावद्य हैं, और तुम्हारे वज्र पाषाण रूप राग, द्वेष, निर्भय स्वभाव और सदा तपा अर्थात् तप्त हुए गुण अभी शान्त नहीं हुए इसलिये अनेक अवगुण वाले पीत संवेगियो तथा उनके सेवकों की यात्रा असत्य है। कारण कि यात्रा करते हुए किसी समय कोई परिषह उत्पन्न हो जाय तो उस जगह यात्रा करने नहीं जाते हो। जैसा कि अभी थोड़े समय पहले पालीताने के परगने में किसी कार्यवश जाते हुए किसी डर से यात्रा करना स्थगित कर दिया था, और उस समय जाना हो भी तो कैसे सकता था। क्योंकि कारण भी तो वैसा ही था। जिसका खुलासा करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इतना तो अवश्य है कि "खाते पीते हर मिले तो हमको कहना, सिर सांटे मिले तो चुपके रहना" अर्थात् यात्रा का सच्चा लाभ समझते हैं तो परिषह के समय में हाय मान परिणाम नहीं लाने चाहिये। इसलिये यात्रा करने के जो २ स्थान ये बताते है वे और यात्रा जाने वाले आदि सब शास्त्र के विरुद्ध गिने जाते है। क्योंकि सत्य कृत्य की यात्रा के साथ तुलना करने से परस्पर भेद पड़ जाता है। देखो अंतगढ़ सूत्र में कहा है कि राज ग्रही नगरीके रईस सुदर्शन सेठ महावीर स्वामी का आगमन सुनकर माता पिता की आज्ञा ले वंदना करने जाने लगे। रास्ते में यक्षाधिष्ठ अर्जुन माली सामने आया जिससे सेठने मरणांत उस समय उपसर्ग समझ सागारी संथारा कर निर्भय विचार रख काउसग्ग कर लिया। फिर अर्जुन माली ने सेठ के पास आकर परिषह देना चाहा पर सेठ के पुण्योदय से उसकी करामात न चली और मोग्रपाणी यक्ष स्वस्थान पर चला गया। अंत में सेठ अनशन पाल कर अर्जुन

माली को साथ ले महावीर स्वामी के चरणों में जा पहुंचे। इस दृष्टांत का मूल हेतु यह है कि साक्षात् वीर भगवान् की यात्रा जाते हुए भी मरणांत उपसर्ग से हायमान परिणाम न लाना शास्त्रोक्त कथन है। अब हठ वादियों की यात्रा और सेठ की यात्रा का परस्पर मीलान करें तो बिलकुल विरुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि शत्रुंजय आदि पर्वतों की काल्पित यात्रा करने के लिये शत्रुंजय माहात्म्य आदि नये ग्रन्थ मूल शास्त्रों के विरुद्ध आरम्भ के वाक्यों सहित रचकर भोले भाले लोगों को भरमाये हैं उसका थोड़ा सा अंश यहां लिखने की आवश्यकता प्रतीत होती है, जिसे पढ़ कर विवेकी स्वयं ही समझ सकेंगे।

सेतुंज्जे पुंडरिओ सिद्धो मुणि कोडि पंच संजूतो।
चितस्स पुणीमाए सोमन्नई तेण पुंडरिओ।

भावार्थः-शत्रुंजय पर्वत पर ऋषभदेव के पुंडरीक नामक गणधर चैत्र शुक्ला १५ के दिन पांच करोड़ मुनि के साथ सिद्ध हुए हैं, इसलिये इसे पुंडरीक गिरि भी कहते हैं।

नमिविनमि रायाणो सिद्धा कोड़ी हि दोहिं साहुणं।
तह दवि डवाल्ली खिल्ला निन्नुआदसय कोडीओ।

भावार्थः-नमि और विनमि दोनों भाई विद्याधरों के राजा दो करोड़ मुनियों के साथ सिद्धगत प्राप्त हुए।

पज्जुन्न संव पमुहा अधुगओ कुमार कोडीओ।
तह पंडवावि पंचम सिद्धि गया नारय रिसिय॥

भावार्थः-प्रद्युम्न कुमार सांभ-कुमार प्रभृति साढ़े साठ करोड़

कृष्ण पुत्र कुंवर के साथ सिद्ध हुए। इसी प्रकार पांचो पांडव वीसकरोड़ मुनियों के साथ और नारद ऋषि इकानवें लाख मुनियों के साथ सिद्ध हुए।

थावच्चा सुयसे लगा य मुणिणो वितह राम मुणि।
भरहो दशरह पुत्तो सिद्धा वंदामि से तुंजे॥

भावार्थ.-थावरया मुनि एक हजार से शुक मुनि एक हजार से और सेलंग मुनि पांच सो के साथ सिद्ध हुए इसी तरह रामचन्द्र मुनि और भरतजी ये दो दशरथ राजा के पुत्र तीन करोड़ साधुओं के साथ सिद्ध हुए उन्हें शत्रुंजय पर नमस्कार करता हूं।

अन्ने वि खविय मोहा उसमाइ विसालवंससंभुआ।
जेसिद्धा सेत्तुंजे तं नमह मुणि असंखिज्जा।

भावार्थः-ये दूसरे मुनिराज मोह का क्षय कर ऋषभादिक उच्च कुल में उत्पन्न हुए वे सब असंख्यात मुनि शत्रुंजय पर सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार करता हूं।

पण्णास जोयणाइं आसि सेतुंजे विथ्थडो मूले।
दस जोयण सिहरतले उच्चत्तं जोयणा अट्ठ॥

भावार्थः-शत्रुंजय मूल में पचास योजन चौड़ा था, तथा दस योजन चौड़ा उसका शिखर था, और वह आठ योजन ऊंचा था।

जं लहइ अन्न तिथ्थे उग्गेण तवेण वंभ चेरेण।
तं लहइ पयत्तेण सेत्तुज गिरिम्मि निवसंतो॥

भावार्थः-जो फल अन्य तीर्थों में उत्कृष्ठ तप एवं शील

पालन करने से प्राप्त होता है वही फल उद्यम करके विमल गिरि में रहने से तत्काल मिल जाता ।

जं कोडीए पुन्नं कामिय आहारभोइआजेउ ।
जं लहइ तथ्थ पुन्नं एगोवासेण सेतुंजे ॥

भावार्थः-करोड़ों मनुष्यों को इच्छित भोजन कराने से जितना पुण्य प्राप्त किया जा सकता है, उतना ही पुण्य शत्रुंजय जाकर एक उपवास करने से प्राप्त हो सकता है ।

जं किंची नामी तथ्थं सग्गे पायाले माणुसे लोए ।
तं सव्वमेव दिट्ठं पुंडरिए वंदिए संते ॥

भावार्थः-कोई मनुष्य स्वर्ग पाताल और मनुष्य लोक के सब नामांकित तीर्थों के दर्शन से जितना फल प्राप्त कर सकता है, उतना ही फल एक पुंडरीक तीर्थ को जाने से प्राप्त होता है ।

पड़िला भंते संघं दिट्ठे न दिट्ठेय साहुसेत्तुंजे ।
कोडी गुणंच अदिट्ठे दिट्ठेय अणंतए होइ ।

भावार्थः-शत्रुंजय की ओर प्रयाण करते ही चाहे वह दृष्टि गत हो या न हो करोड गुणा फल प्राप्त होता है । और देखने से तो अनन्त गुणे फल की प्राप्ति होती है।

केवलनाणुप्पत्ती निव्वाणं आसि जथ्थ साहूणं ।
पुंडरिए वंदित्ता सव्वे ते वंदिया तथ्थ ॥

भावार्थः-जिनको केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है, और जिन मुनियों को निर्वाण-मोक्ष प्राप्त हुआ है। उन सब को नमस्कार करने का फल सिर्फ एक पुंडरीक तीर्थ के दर्शन प्राप्त करने से हो जाता है ।

अट्ठावय समेएपावाचंपाइं उज्जंत नगेय।
वंदित्ता पुन्नं फलं सयगुणं तंपि पुंडरिए॥

भावार्थः-अष्टापद पर्वत पर ऋषभदेव मोक्ष पधारे, सम्मेत शिखर पर वीस तीर्थंकर मोक्ष गये। पावांपुरी में वीर स्वामी चम्पा नगरी में वासु पूज्य स्वामी तथा गिरनार पर्वतपर नेम-नाथ स्वामी मोक्ष पधारे, इसलिए इन तीर्थों को नमस्कार करने से जितना फल प्राप्त होता है, उससे भी सोगुना फल पुंड-रीक तीर्थ के दर्शन करने से होता है।

पुया करणे पुन्नं एग गुणं सयगुणं च पडिमाए।
जिण भवणेण सहस्संणंत गुण पालणे होइ॥

भावार्थः-पूजा करने से एक गुणा, प्रतिमा कराने से सौ-गुना और जिन भवन वनाने से हजार गुना फल प्राप्त होता है। परन्तु अनन्त गुण फल शत्रुंजय की रक्षा करने से प्राप्त होता है।

पडिमं चेइहरं वासेत्तुंज गिरीस्स मथ्थए कुणइ।
भुत्तुण भरह वासं वसई सग्गेण निरुवसग्गे॥

भावार्थः-जो शत्रुंजय पर्वत पर प्रतिमा या मंदिर वनाते हैं या वनवाते हैं, वे पुरुष भरत क्षेत्र का राज्य भोग कर चक्र-वर्ती हो स्वर्ग या मोक्ष जाते हैं।

नवकारसी, प्रहरसी पुरि मढम, एकासना और आम्बिल इन प्रत्याख्यानों से भी पुंडरीक तीर्थ की संभाल करे तो निम्ना-ङ्कित विशेष फल प्राप्त होता है।

नवकारसी से छठ का फल, प्रहरसी से अष्टमी का फल, पुरी मढम से चार उपवास का फल, एकासने से पांच उप-

वास का फल, आम्बिल से पन्द्रह उपवास का फल और उप-वास से मास खमण का फल शुद्ध मन वचन काया के योग प्रवर्तावे तो मिल सकता है। इतना ही फल सिर्फ एक शत्रुंजय का ध्यान धरने से मिलजाता है। चौविहार उपवास कर जो शत्रुंजय की सात यात्रा कर लेते हैं, वे तीसरे भव मोक्ष जाते हैं।

अज्ज विदीसइ लोए भत्तं चइउण पुंडरिय नगे।
सग्गे सुहेण वच्चइ सीलविहूणो विहोऊणं॥

भावार्थ-आज भी प्रत्यक्ष है कि जो आहार पानी त्याग कर पुंडरीक पर्वत पर संथारा करते हैं, शीलव्रत आदि शुद्ध आचार रहित हों तो भी सुख से मोक्ष जाते हैं। (स्वर्ग जाते हैं)

चरणराहियाइं संजय विमलगिरि गोयमस्स गणीओ।
पडिला भेयमेगसाहूणो अड्ढीदीवसाहु पडिलभइ॥

भावार्थ-साधु वेषधारी तो है, परन्तु चरित्र हीन है, वह भी शत्रुंजय पर्वत पर चला जाय तो उसे गौतम सदृश समझो। और उसी समय उसे आहार पानी दिया जाय तो अढ़ाई द्वीप के साधुओं को दान दिया जाय इतना फल हो। धनेश्वर सूरिजी ने भी ऐसा ही कहा है।

एगसावय पुंडरियो पाणभोयणाई भुञ्जसी।
आणंदकाम देवाय अड्ढीदीवं सव्व सावगाणं भुजंसी॥

भावार्थ-एक श्रावक को विमल गिरिपर्वत पर जिमावे तो आनंद कामदेव आदि अढ़ाई द्वीप के श्रावकों को जिमावें इतना फल प्राप्त होता है।

छत्त भभयपडाग चामरभिंगारथाल दाणेण।
विज्जाहरोअ हवइ तह चक्की होइ रहदाणा॥

भावार्थ-छत्र दान, ध्वजा दान और पताका बालभरी चढाने से विद्याधर की पदवी प्राप्त होती है। इसी प्रकार रथ दान करने से (चढ़ाने से) चक्रवर्ती का पद प्राप्त होता है।

दस वीस तीस चत्ता लक्ख पण्णासा पुप्फ दाम दाणेण।
लहई चउत्थछट्ठमदस दुवालस फलाइं।

भावार्थ—दस लाख, वीस लाख तीस लाख चालीस लाख और पचास लाख इतने फूलों की माला चढ़ाने से जो फल प्राप्त होता है, वह निम्नाङ्कित है। दस लाख फूल चढ़ाने से एक उपवास का फल वीस लाख से छट का फल, तीस लाख से अष्टमी, चालीस लाख से चार उपवास और पचास लाख से पांच उपवास का फल प्राप्त होता है।

उन तीर्थों में कृष्णागार आदि उत्तम धूप दें तो पन्द्रह उपवास का फल प्राप्त होता है, और कपूर तथा ग्रास का धूप दें तो उन्हें मास खमण का फल प्राप्त होता है।

दूसरे तीर्थों में सोना आभूषण, या रोकड़े रूपये तथा भूमि का दान देनेसे जितना फल प्राप्त होता है, उस से भी अधिक फल शत्रुंजय पर पूजा या स्नान करने से प्राप्त हो जाता है। इस पर्वत के दर्शन करने मात्र ही से आठों भय दूर हो जाते हैं। यह सब वर्णन लघु शत्रुंजय कल्प में है। इन्होंने यात्रा जाने, मंदिर बनाने, प्रतिमा कराने संवेगियों और उनके सेवकों को जिमाने रुपये आदि देने असंजतियों के मान बढ़ाने का विशेष फल ग्रन्थों में इतने विस्तार से लिखा है कि पढने वाले या सुनने वाले महारंभ में लीन हो बेचारे लाभ की आशा से छःकाय का कूटा करते हुए कुछ नहीं डरते हैं। ऐसी आरम्भी पुस्तकों के आधार से जो यात्रा का फल लेना चाहते हैं, और सब प्राणियों के प्राण लेकर मोक्ष फल प्राप्त करना चाहते

हैं,वे इन जुल्मी ग्रन्थों के आधार से चलने वाले अज्ञान प्राणी अपनी भवलता को समूल किस दिन उखाड़ सकेंगे? यह आश्चर्य की बात है! कारण कि जगत व्यवहार के सुख विषय आदि आडम्बरों में लुब्ध होने वाले अज्ञानियों को ज्ञान, उपदेश त्याग द्वारा वैराग्य वंत करना तो दूर रहा, उनका भला चाहना दर किनारे रहा, उलटे उन पशु समान जड़ बुद्धि वालों को शास्त्र से सरासर विरुद्ध ग्रंथ रचकर लाभ बता महाभारी जंजाल में डाल रहे हैं, उन पीले वस्त्र धारी "देवानां प्रिय" का छुटकारा होना महा कठिन है। इस अवसर पर जैन दया धर्मी बन्धुओं से इतना ही कहना है कि इस ग्रन्थ के लेखक यात्रा करने वाले मुसाफिर की तरह कृत्य कर्म करते हुए नहीं चलते हैं। वे तो एक वीतराग देव के बताये हुए मार्ग ज्ञान दर्शन, चारित्र, तप, नियम इन्द्रिय दमन करके आत्म साधन करते हुए शुद्ध यात्रा करते हैं। तब आप भी शुद्ध ध्यान लगा ज्ञान दर्शन पर उपयोग दे। जगत् ज्वाला पर से ममत्व हटा सब आश्रव त्याग त्रिकरण शुद्ध रख अशुद्ध व्यवहार से शुद्ध व्यवहार में स्थिर हो निर्वद्य स्वभाव द्वारा बंधन रहित यात्रा करो। इसी यात्रा से सब कार्य सिद्ध होंगे। अनन्त भव भ्रमण करने से अशुद्ध व्यवहार अनंत कर्म की वर्गणाओं पर क्षीर नीर की तरह लिप्त हो रहे हैं, उन्हें हेय समझकर स्व पर की पहचान स्वरुप में रमण होने का लाभ प्राप्त करोगे तो शुद्ध निर्वद्य यात्रा हो जायगी।

प्रतिमा पूजने से मोक्ष लाभ होता है उस सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर

कितने ही विकल मति ऐसा कहते है, कि पाषाणादिक की मूर्ति पूजने से श्रावक तीर्थङ्कर गोत्र उपार्जन करते हैं और तीसरे भव मोक्ष जाते हैं। एवम् तीर्थङ्करों के जमाने में भी श्रावकों ने प्रतिमा का पूजन कर मनुष्य जन्म सफल किया है, यह कहना वृथा है।

श्री उपासक दशांग सूत्र में वाणिज्य गाम के रईस आनंद श्रावक "महिड्ढीए अपरि भुया" श्री महावीर का आगमन सुनकर नमस्कार करने गये। वहां उन्होंने धर्मोपदेश सुनकर मिथ्यात्व छोड़ बारह व्रत सहित सम्यक्त्व ग्रहण किया। उनकी मिथ्यात्व दशा में जो ऋद्धि थी, उसकी छूट रख उन्होंनें ऋद्धि बढ़ाने की रुकावट ली और " खेत वत्थुं परिमाण विहिं करेइ" क्षेत्र-खुली जमीन वथु-ढंकी जमीन घरादि महल प्रभृति घर खाते व्यवहार में आने लायक सब खुले रखकर बाकी के आरम्भ के त्याग लिये यह पांचवा व्रत हुआ। फिर छट्टे व्रत में छः दिशाओं में व्यौपारिक कार्य के लिये आने का खुला रख बाकी के त्याग लिये व सातवें व्रत में छब्बीस बोल के नित्य नियम के साथ पन्द्रह कर्मादान के प्रत्याख्यान लिये। इसी प्रकार यावत् संथारे तक विधि के साथ त्याग लिये। जिन में संसारिक-व्यवहारिक जितने व्यवहारिक खाते थे, उन सब की छूट रखी और इतने ही चाहिये ऐसा आप

स्वतः कहते गये। बाकी के वीर परमात्मा के पास से प्रत्याख्यान लिये और आश्रव रोक कर संवर के लिये नवमें दशमें व ग्यारहवें व्रत ग्रहण करने की विधि धारण कर सर्वारम्भ त्याग देने की मंशा बताई। पश्चात् बारहवें व्रत की विधि में श्रमण निर्ग्रन्थ को "फासु एसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं वथ्थं पडिगहं कंवल पाय पुच्छणेणं" अर्थात् फासुक सूझते आहार साधु के लेने योग्य और मेरे प्रतिलाभने योग्य अन्न, जल, मिष्ठान, मुखवास, वस्त्र, पात्र, कम्बल, बिछोना, रजोहरण आदि फिर न ले सकूं ऐसे पदार्थ देकर "पीढ फलग–सेज्जा संथारयेणं उसह मेसहजेणं पडिलाभेमाणे विहरामि"

भावार्थ–पाट प्रभृति पाटियें बाजोठ तथा स्थानक पांच जाति के पराल के संथारों में से एक आध जाति का संथारा तथा एक चीज से उत्पन्न औषध तथा बहुत द्रव्य से उत्पन्न भेषज चूर्ण ऐसे पदार्थ साधुओं को देकर कुछ काल पश्चात् वापस ले सकूं-लाभ प्राप्त करुं यों सब जाति के दानादिकी मर्यादा विधि पूर्वक ग्रहण की। यों श्रावक धर्म की आराधना करने की सूत्रों में सविस्तर हकीकत है। किन्तु जैन प्रतिमा की पूजन विधि तो किसी भी श्रावक ने किसी भी मूल सूत्र में नहीं पूछी। और विधि पूछे विना पूजन भी किसका करें ? देखो उन श्रावकों ने व्रत लिये पश्चात् भगवान के समक्ष ऐसा कहा है कि अन्य दर्शनियों को एवम अन्य दर्शनियों के देवों को तथा अन्य दर्शनियों के ग्रहण किये हुए जैन-द्रव्य लिङ्ग को वंदना-नमस्कार करने का प्रत्याख्यान करता हूं। इसी प्रकार उनके विना बोले मैंने स्वतः होकर बोलना, उन्हें विशेष बुलाना, उनके गुरुओं को धर्म बुद्धि से आहारादि देना या

दिलाना आज से मुझे अकल्पनीय है । विशेष कर अन्य तीर्थियों के वेष में साक्यादि मुनि व अन्य तीर्थियों के देव में हरि हरादि प्रत्यक्ष वर्ती देव, जैनियों में पड़वाई वेष धारी स्वधर्म पतित अन्य दर्शनियों से मिले हुए मुनि ये तीनों जो असनादिक के भोगी हैं, उन्हें गुरु देव समझकर धर्म बुद्धि से असनादिक नहीं दूं और निर्ग्रन्थ गुरु को धर्मेच्छा से चौहद प्रकार का दान दूं । ये निर्ग्रन्थ साधु असनादि वस्तुओं के छः कारण से भोक्ता है । तो भी आनंद श्रावक ने इन्हें दान देना स्वीकार किया है, पर मिथ्यात्वी के वेष में पड़वाई आदि उपरोक्त वेष धारियों को "चेइयं" अर्थात् द्रव्य ज्ञान संयुक्त जैन साधु होकर ये भी उपरोक्त वस्तुओं के ही भोगी हैं। पर उन्हें निर्जरा हेतु न दूं ऐसा कहा है । यों पाठ का बयान होते हुए भी तुम चैत्य अर्थात् प्रतिमा अर्थ करते हो । और व्यर्थ खींचातानी मचाकर खोटे कुतर्क लगाते हो तो यह सुझता नहीं है । चैत्य शब्द का विरुद्ध अर्थ लगाकर आनंद श्रावक के उत्तम कर्म को सावद्य कर्म कराना चाहते हो परन्तु वे उत्तम श्रावक अपने वोसिराये हुए आश्रवों को फिर से ग्रहण नहीं कर सकते ।

जेसलमेर के भंडार में ताड़ पत्र पर लिखी हुई उपासक दशांग की एक कापी है, यह संवत् ११८६ की लिखी हुई है। उसमें " अएण उत्थिय परिग्गहियाइं चेइयाइं " ऐसा पाठ है । परन्तु "अएण उत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं" ऐसा पाठ तो सर्वथा नहीं है । उसके पश्चात् जिन २ उपासक दशांग की प्रति लिपियां बनी हैं, उनमें अरिहंत शब्द नया रखा गया मालूम होताहै । इससे यह कहावत निर्विवाद सिद्ध

है कि कल्पित कला की समानता देव भी नहीं कर सकते। क्योंकि शास्त्रानुसारं शास्त्र का मूल उत्तर मांगे तो मिले, परन्तु कपोल कल्पित शब्द का मेल शास्त्रानुसार कैसे मिल सकता है। अपने मत की पुष्टि के लिये नये शब्द रखे गये हैं। इसका प्रमाण प्राचीन काल के ताड़ पत्र पर लिखे हुए सूत्रों से मिलता है। तब विश्वास रखिये कि आनंद श्रावक ने जितने भी आश्रव त्यागे हैं, और जो २ व्रत लिये हैं, वे सब निर्वद्य क्रिया के लिये हैं। परन्तु उन्हों ने उस समय प्रतिमा पूजन आदि का कुछ भी स्पष्ट अर्थ नहीं पूछा। इसी प्रकार उन्हों ने तुम्हारे मुआफिक शत्रुंजय महात्म्य की सहायता न ले एक वीर परमात्मा के वचनानुसार कल्याण कारी जीव दया धर्म का आराधन किया है। और सब श्रावक इस एक ही विधि को आराध कर देवलोक पहुंचे हैं। परन्तु प्रतिमा पूजन के आधार से मोक्ष की किसी ने भी वांच्छा नही की।

श्री प्रश्न व्याकरण के छठे अध्ययन में दया के साठ नाम चले हैं। उसमें दया को पूजा कही है, और यज्ञ भी कहा है और ये दोनों नाम सत्य है। तथा हमारे लिये आदरणीय हैं। क्योंकि धर्म देव तथा देवाधिदेव का पूजन निर्वद्य अर्थात् बिना हिंसा किये ही होता है। वे तुम्हारे मतानुसार एकेन्द्रिय नहीं है, कि छः काय का भोग मांगे। वे तो स्वशरीरी पंचेन्द्रिय हैं, और निर्वद्य क्रिया करते हुए निरारम्भी होकर विचरते हैं। इसलिये उन निरारंभी देवों की आज्ञा में चलने वाले सब साधु करुणा रस से परिपूर्ण हैं। वे उन देवों के यथा योग्य गुण स्मृतिमें लाकर बचनों द्वारा स्तवना कर निरभिमानी हो काया एवम् आत्मा को नमाकर भाव पूजा

करके जन्म सफल करते हैं। इसी प्रकार तीर्थङ्कर आदि चार तीर्थों ने किया है, और यह सत्य भी है कि काठ या तूंवा जो स्वयं तिरता है, औरोंको भी तिरा सकता है। इसी दृष्टांत के अनुसार तीर्थङ्कर जो २ कार्य करके तिरे हैं, वे ही कृत्य उनके शासन में चलने वालों को भी वताये हैं। जिन २ वस्तुओं के आरंभ का आपने त्याग किया है। चारों तीर्थों को भी दया मार्ग दिखाकर उन २ आरंभों के त्यागने की देशना दी है। यह उत्तम पक्ष अखिल संसार मंजूर करता है।

फिर कहना यह हैकि पत्थर की नैया डूवती है, तो उसमें वैठने वाले भी अवश्य ही डूवते हैं। इसी प्रकार जिन देव या गुरु को व्यवहारिक भोग प्रिय हैं, व उन्हीं का आश्रय रख अपनी आज्ञा में चलने वाले श्रावकों को भी भोग का ही उपदेश देंगे। जिस प्रकार आरम्भ करने वाले की संगत से आरम्भ बढता है,उसी प्रकार दुराचारी की संगति से दुराचार वढ़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? तव हे अज्ञानियों! वीतराग देव ने दयास्वरूप जाने वाद छः काय के रक्षार्थ ऐसा कहा है कि " माहणो, माहणो, माहणो " यह सव श्रोताओं के लिए हितकारी है, परन्तु उन्हीं तीर्थङ्कर देवने किसी समय ऐसा नहीं कहा कि हे भव्य प्राणियों! तुम्हारे कल्याण के लिये एवम् तीर्थङ्कर गोत्र उपार्जन करने के लिये मूर्ति स्थापन कर छः काय के जीवों को मार कर सेवा पूजा करना जिस से तुम्हें अनन्त लाभ प्राप्त होंगे, और तीसरे भवमें मोक्ष सिद्धि होगी। वीतराग भगवान् ने ऐसे सावद्य वाक्य कभी नहीं कहे और हिंसा से अपनी पूजन नहीं चाही। एवम् मूल सूत्रों में आरम्भ से पूजन कर मोक्ष लाभ लेने का उपदेश सम्यक्त्वियों को नहीं दिया। ऐसी रीति जानते हुए भी तप्त स्वभावी अन्य

दर्शनियों की तरह कल्पित पूजा ले बैठे हैं । जिससे ऐसा निश्चय होता है कि स्वामी नारायण के मत की तरह ये भी धर्म चलाते हैं । जिस प्रकार स्वामी नारायण के भक्त उनके मंदिर में बैठी हुई पाषाणादि की मूर्तियों के नाम से एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय जीवों की विराधना कर प्रातःसायं उस लगे हुए पाप को स्वामी के चरणों पर अर्पण कर देते हैं और ऐसी कल्पना करते हैं कि हम यह सब पाप स्वामीजी के लिये करते हैं, इससे हमें रत्तीभर भी पाप नहीं लगता है । जो अधिक रुपये खर्च कर महाराज के धाम की तथा सेवा पूजा की समृद्धि बढ़ाते हैं, उन्हें महाराज के विमान बुलाने आते हैं, और उन्हें महाराज के धाम में सोने के महल मिलते हैं । ऐसे २ लाभ बताकर भोले भाले प्राणियों में महत् परिश्रम करवाते हैं । इसी भांति पीत वस्त्र धारियों ने भी नये २ ग्रन्थ रचकर संगमरमर पत्थर की मूर्तियों की महिमा बढ़ाने के लिये पूजा, दर्शन तथा मंदिर चुनाने, फल फूल तोड़ कर चढाने तथा जिमाने और संवेगियों को बहु मान देने के फल स्वरूप अनेक दृष्टान्त संचयकर ग्रन्थों की साक्षी दे देकर पीले चंदोवे वाले भोले व्यवहारियों को समझाकर उनके पोले पेट को फुलाकर आरम्भ रूपी रेगिस्तान में दौड़ लगवाई है । यह कितने अन्याय की बात है । फिर ऐसे ग्रन्थ रचकर उनका मान बढ़ाने के लिये ऐसे पाखंड करते हैं कि जिन मूल शास्त्रों से वैराग्य उत्पन्न हो उन मूल शास्त्रों से सेवकों को अन-भिज्ञ ही रखकर कुतर्क लड़ाते हैं कि श्रावकों को मूल शास्त्र नहीं पढने चाहिये । इसलिये देव तथा गुरु की भक्ति के ग्रन्थ पढ़कर उनके अनुसार व्यवहार रखने से ही श्रावकों को अनन्त लाभ मिल सकते हैं । यों समझकर पीले वस्त्र वाले अपना

लाभ उठाते हैं, और सेवको को सावद्य पूजा में फंसाते हैं। यह शास्त्र से विरुद्ध है, और निर्वद्य पूजा करना सत्य है। जो तुम वीतराग के निर्वद्य वचनों के अनुसार पूजा नहीं मानते हो और सावद्य पूजा को मान करते हो तो प्रश्न व्याकरण के छुटे अध्यायमें दया का नाम यज्ञ करना भी कहा है, वह कैसे मञ्जूर करोगे ? तुम्हारे कृत्यों की पूजा में आरम्भ होगा। इसी प्रकार अन्य धर्मियों के शास्त्रों में जो यज्ञ विधि है, अजामेध, अश्वमेघ, गोमेघ, गजमेघ, और नरमेघ यज्ञ सावद्य हैं । तो उनके धर्म के आचरण के अनुसार इन्हें भी दया में गिनना पड़ेगा और तुम्हें तुम्हारी सावद्य पूजा की तरह इन यज्ञों को भी स्वीकार करना पड़ेगा। यदि तुम यहां यज्ञाधिकार को भाव यज्ञ समझकर निर्वद्य वाणी में गिनोगे तो पूजा भी निर्वद्य करनी पड़ेगी। इसलिये हे अज्ञान व्यापक अज्ञात मनुष्यो ! ऐसा समझो कि दया यही पूजा है, और दया रूप यज्ञ ही सूत्रों से तथा अन्य धर्मियों के शास्त्रों से सिद्ध होता है, वह नीचे देते हैं।

उत्तराध्ययन के बारहवें अध्ययन में हरकेशी अणगार यज्ञ पाड़े के विप्रों को सम्बोधित कर कहने लगे कि हे मूर्ख विप्रो ! अग्नि होत्र या जल स्नान करके आत्म कल्याण की इच्छा रखते हो यह तुम्हारी मूर्खता है। तब ब्राह्मण पूछते हैं कि हे स्वामिन् कौन से यज्ञ और कौन से स्नान से कल्याण होता है ? और आपने कौन से यज्ञ को माना है ? तब मुनिवर कहते है कि हे महानुभाव ! पंच आश्रव के प्रत्याख्यान लेकर इन्द्रिय दमन करता हुआ संवर गुण सहित अर्थात् मनुष्यादि के व्यवहारी सुख असंयम

को अनिच्छता हुआ शरीर पर से ममता भाव त्याग महा कर्म शत्रुओं को जीतने के लिये मैं बड़ा भारी यत्न करता हूं।

जिसमें मेरे जीव का शुद्ध उपयोगी ही कुंड है । निर्वद्य कर्म रूपी अग्नि और उसे प्रज्वालित करने के लिये शरीर के तेज को बढ़ाकर कर्म रूपी काष्ट जला शुद्ध त्रिविध योग रूप चाडुए से विषयादिक विकारों को होमता हूं और सतरह प्रकार के संयम को आराधने के लिये आत्मा पर ध्यान लगाता हुआ शांति पाठ पढ़ता हूं। यही होम सब ऋषियों के लिये लाभ प्रद और यही निर्वद्य आत्म यज्ञ है।

अब विप्र पूछते हैं कि हे देवों के पूज्य ! इस निर्वद्य यज्ञ के प्रथम कौनसा स्नान करते हो ? तब मुनि कहते हैं कि हे विप्रो! शुद्ध दया रूपी अपूर्व द्रह है। जिसमें निर्मल आत्मा की शुक्ल लेश्या रूप जल भरा है । उसमें स्नान करने बाद नव वाढ़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ करके कर्म रूपी मेल त्याग अत्यन्त शीतल हो जाता हूं। ऐसा उत्तम निर्वद्य स्नान यात्रा और यज्ञ तीर्थङ्कर देवों ने किये और वे कर्म मल को दूर कर शिव पद प्राप्त हुए हैं। ऐसा ही मैं करता हूं।

यों जैन शास्त्रों में निर्वद्य द्रह में मंजन कर दया रूपी यज्ञ करने का तीर्थङ्कारों ने उपदेश दिया है। इसी प्रकार उत्तरा- ध्ययन के पचीसवें अध्याय में जय घोष नामक साधु भाव यज्ञ का करने वाला हुआ । उसने निजय घोष नामक ब्राह्मण को निर्वद्य यज्ञ करने का उपदेश दिया। इन दोनों यज्ञों के अध्ययन का पाठ यहां नहीं लिखा है, परन्तु विवेकी उपयोग सहित पढ़कर ज्ञान प्राप्त करेंगे तो मालूम होगा। जैन मार्ग में पूजा और यज्ञ ये दोनों भाव निर्वद्य हैं। परन्तु इसके विपरीत सावद्य

तथा अघोर आरम्भ करके पूजा तथा यज्ञ स्थापन करना चाहते हैं, उन अज्ञानियों का अज्ञानता वश बांधे हुए कर्मों से छुटकारा पाना कठिन है। कारण कि जो जानकार होकर अज्ञान बनने का ढोंग दिखाते हैं, उन मूर्खों से ज्यादा मूर्ख कौन होगा? इस मूर्खता के लिये तप्त स्वभावी धन्य वाद के पात्र हैं। देखो निर्वद्य यज्ञ के लिये अन्य दर्शनियों के शास्त्रों के उदाहरण वतौर साक्षी के यहां देते है।

श्री महाभारते कृष्णोवाच

ध्रुवं प्राणवधो यज्ञे, नास्ति यज्ञस्त्व हिंसकः।
ततो ऽहिंसात्मकं कर्म यज्ञे कार्यं युधिष्ठिर॥

भावार्थः-जो मनुष्य यज्ञ करना चाहते हैं वे प्राण वध विना यज्ञ नहीं कर सकते। फिर यज्ञ करने से प्रथम ही पर प्राणों का नाश होता है, तो हे युधिष्ठिर! हमेशा अहिंसा रूप आत्म यज्ञ करना श्रेयस्कर है।

इंद्रियाणिपशून्कृत्वा; वेदीं कृत्वा तपो मयीम्।
अहिंसामाहुतिं कृत्वा आत्म यज्ञं जपाम्यहम्॥

भावार्थ-हे युधिष्ठिर! पंचेन्द्रिय रूप पशु और तप रूप गुणादि की वेदी करो, तथा दया रूपी आहुती दो। इस प्रकार हमेशा आत्म यज्ञ करो।

ध्यानाग्नौ जीव कुण्डस्थे ज्ञान मारुत दीपिते।
असत्कर्म धनं क्षिप्ये दग्नि होत्रं कुरूत्तमम्॥

भावार्थ-हे युधिष्ठिर! ध्यान रूप अग्नि लगाओ और जीव रूप कुंड बनाओ। जिसमें असत्य कर्मों रूपी काष्ठों को जला दो यही सर्वोत्कृष्ट अग्नि होत्र होगा।

यों अन्य दर्शनियों के शास्त्रों में भी विभंग ज्ञानी दयारूप यज्ञ को समुचित रीति से स्थापित करते हैं । इसलिये तप्त स्वभावी मनुष्यों से कहना है कि हे हिंसा मानने वाले पूजको ! तुम्हारे ध्यान में पक्षपात रहित दया यज्ञ क्यों नही आता । यह बड़ा ही आश्चर्य है । जिस प्रकार गधे पर अमूल्य वस्तु लाददें पर गधा उसका मूल्य नहीं जानता । भैंस के आगे मल्हार राग और पाड़े को पान चबाने से सेवा भक्ति नहीं समझी जाती । कारण महिष महिषी खर खाने के उत्सुक रहते हैं । इसी प्रकार अज्ञान स्वभावी भी आत्म ज्ञान नही समझते । अज्ञानता में ही तत्पर रहते हैं । ज्ञान का उपदेश तो वैद्यक चतुर ग्रहण करते है, और उसे अमृत तुल्य समझ उसके अनुभव रस का पान करते हैं ।

देखो उत्तम धर्मियों ने दया धर्म माना है, जैन धर्मी धन पाल पंडितने इस विषय में इस प्रकार वर्णन किया है ।

एक बार श्री भोज राजा शिकार खेलने के लिये गये । उस समय कितने ही कवि, राजा के बल की प्रशंशा करने लगे । तब अवसर देखकर धनपाल पंडित ने राजा को उपदेश देने एवम् दया वृद्धिकरने के लिये कहा था ।

रसातलं यातु तदत्र पौरुषं कुनीति रेषा शरणोह्य दोषवान्
प्रहन्यते यद् बलिनाति दुर्बलो हा हा महा कष्टम् राजकंजगत्

भावार्थः-हे भोज राजेन्द्र ! तुम्हारा पुरुषार्थ पाताल में मिलजाय, क्योंकि तुम महा अनीति कर रहे हो । जिन अनाथ प्राणियों को शरण देनेवाला कोई नहीं, जिनमें दोष कुछ भी नहीं, उन दुर्बल प्राणियों को तुम्हारे जैसे बलवान् पुरुष मारने के लिये तैयार हुए हैं, तो मालुम होता है कि यह अन्यायी

संसार भयंकर कष्टों से भरपूर भरा है और इसका कोई राजा नहीं है। कारण जंगलवासी जीव तुम्हारे विकट बल के भय से त्रास पाकर मुंह में तिनके लेते हैं। तो भी तुम्हें दया नहीं आती यह बड़े आश्चर्य की बातहै।

वैरिणोऽपि हि मुच्यंते प्राणान्ते तृण भक्षणात्।
तृणाहारा सदैवंते हन्यंते पशवःकथम्॥

भावार्थः-प्राणान्त के समय घास का तिनका मुंह में ले लेने पर शत्रु को भी सत्यवादी पुरुष छोड़ देते हैं, तो वे अनाथ प्राणी हमेशा जंगल में रहकर घास का ही आहार करते हैं। इन पशुओं को न्यायी पुरुष कैसे मार सकते हैं।

धनपाल पंडित के ये अमूल्य वचन सुनकर राजा भोज करुणा रसमें भींज गये और शिकार पर जाने के लिये उसी वक्त इन्कार करादिया, तथा आप सवारी के साथ वापस नगर में आने लगे। रास्ते में आपने एक यज्ञ स्थान में बकरा बंधा हुआ देखा। उस समय बकरे का मुंह अति दीन और लाचार देखकर एवम् उसकी शोक परिपूर्ण पुकार सुनकर राजाने धनपाल पंडित से पूछा कि हे पंडित! यह बकरा क्या कहता है? तब धनपाल पंडित ने कहा कि हे स्वामिन्, मृत्यु के भय से यह बकरा दीन होकर प्रार्थना करता है कि

शार्दूल विक्रीड़ित वृत्तम्

नाहं स्वर्गफलोपभोग तृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया।
संतुष्टस्तृण भक्षणेन सततं साधो न युक्तं तव॥
स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहतो यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो।
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः॥

भावार्थः-मुझे स्वर्ग के फल का भोग करने की बिलकुल

इच्छा नहीं है, और न मैं तुमसे इस सम्बन्ध में कुछ मांगता ही हूं। मुझे तो सदा तृण भक्षण से ही संतोष है । इस लिये इस प्रकार मुझे जलाना तुम्हें योग्य नहीं है । जो यज्ञ के अन्दर होम दिये हुए प्राणी स्वर्ग में जाते हों तो तुम्हारे माता पिता, पुत्र और भाई का होम क्यों नही करते हो ?

फिर धनपाल पंडित कहते हैं कि हे महाराज ! ये यज्ञ करनेवाले अज्ञानी शास्त्र से विरुद्ध अनाथ प्राणियों के प्राण हर कर यज्ञ करते हैं। यह सुन भोज राजा ने पूछा कि हे पंडित ! इसका क्या फल होगा।

यूपंछित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते।

भावार्थः-हे महाराज ! यज्ञ स्तंभ को छेदकर और पशुओं को मार कर खून का कीच मचाने से जो स्वर्ग में जाते हों तो फिर नर्क में कौन जावेंगे ?

ऐसा धनपाल के मुंह से सुनकर राजा भोज कहते हैं कि हे पंडित ! शास्त्रानुसार कल्याण कारी यज्ञ का भेद बताओ। तब धनपाल पंडित कहते हैं।

सत्यं यूपस्तपो वन्हिःप्राणाश्च सामिधा मम।
अहिंसा माहुतिं दधात् एष यज्ञः सनातनः।

भावार्थः-हे महाराज ! सत्य बोलना ही महा यज्ञ स्तंभ है। तप करना यही अग्नि है। अपने प्राण ही काष्ट है, और दयारूपी आहुति देना ही सच्चा यज्ञ करना है । यही यज्ञ शास्त्र मानते हैं। फिर भोज राजा ने भी इसी को माना।

ऐसे ही हर्ष नाम के कविने नैषध नाम के महा काव्य के २२ वें सर्ग के ७६ वें श्लोक में यज्ञ को हिंसा के दोष से दूषित

बताया है। इसलिए मोक्षाभिलाषी सत्याग्रही पुरुषोंने हिंसा रूपी यज्ञ का त्याग करना ही श्रेयस्कार बतलाया है।

वेदान्त शास्त्रों में ऐसा कहा है कि हे मुमुक्षुओं! जो तत्वज्ञ होकर स्व स्वरूप का अवलोकन करते हैं और देह आदि संसारी समस्त पदार्थों को वृथा समझते हैं, वे ही सच्चे ज्ञानी हैं।

अहं साक्षीति यो विद्याद्विविच्यैवं पुनः पुनः।
स एव मुक्तःसो विद्वानिति वेदांतडिंडिमः॥

भावार्थः-तीन शरीर, तीन अवस्था, पंच कोष भुक्ता भोग आदि सबका बारम्बार विवेचन करके जो मनुष्य विश्वास पूर्वक समझता है कि ये सब देहादिक दृश्य पदार्थ हैं, और मै तो इनका इष्ट साक्षी आत्मा हूं। वही पुरुष मुक्त है और वही विद्वान् है। यह वेदान्त का नक्कारा है और ऐसा बिल कुल साफ २ कहा है।

अब इस अवसर पर दीर्घाश्रवियों को इतना ही कहना है कि जो अन्य दर्शनी सब प्राण, भूत, जीव, सत्व को जानते हुए भी उपरोक्त रीति से पक्षपात रहित यज्ञ बतलाते हैं, तो ऐसे यज्ञ को सत्य धर्म से परस्पर मिलता हुआ समझ कर निर्वद्य स्वभावी दया धर्मियों को मानना चाहिये। इसी प्रकार जैन शास्त्रों में भी दया सहित पूजा यज्ञ करने का विवेचन देने की कुछ त्रुटि न रखी। परन्तु तुम कल्पित ग्रन्थों के आधार से हिंसा बुद्धि की वृद्धि के कारण सावद्य पूजा तो करते हो, परन्तु सावद्य यज्ञ तो नहीं करते हो। तब तुम सावद्य यज्ञ को हिंसा में गिनते होओगे और सावद्य पूजा को दया में। पर दया धर्मियों के लिये तो पूजा

और यज्ञ दोनों ही निर्वद्य हैं। और वे निर्वद्य ही करते हैं। तुम परस्पर पूजा यज्ञ में वृथा कल्पना भिड़ाते हो। परन्तु इस व्यर्थ कल्पना के त्यागने पर तुम्हारा मोक्ष होगा हिंसा पूजन करना शास्त्रानुसार मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि प्रतिमा पूजने वाले में चौथे गुण स्थान भी नहीं पाया जाता। सारांश यह है कि चौथे गुण स्थान वाला सम्यक्त्व प्राप्ति के समय निराश्रवी होने की इच्छा रखता है। पर नया आश्रव बढ़ाना नहीं चाहता। इस लिये प्रतिमा पूजन सम्यक्त्वियों का काम नहीं है। इस विषय में संवेगी हुकम मुनि अध्यात्म प्रकरण नाम की पुस्तक में, तत्व सारोद्धार ग्रन्थ में,चारसौ इकतालीसवे पन्ने पर लिखते हैं कि स्थावर तीर्थ की यात्रा जा कर प्रतिमा पूजना यह सम्यक्त्वी का धर्म नहीं है। सारांश यह कि प्रतिमा पूजने व तीर्थ यात्रा करने से उत्तम गुण स्थान संयुक्त कोई अच्छी क्रिया नहीं होती। ऐसा गुरु ने शिष्य को उपदेश दिया,तब गुरु ने कहा कि हे स्वामिन्! तीर्थ यात्रा पूजन ये चौथे गुण स्थान की करणी के हैं ऐसा तुम सम्यक्त्व द्वार ग्रन्थ में तथा श्रीमंदिर स्वामी की ढालों आदि में कई जगह प्रतिपादन कर चुके हो फिर यहां इन्कार क्यों करते हो।

गुरु कहते हैं कि हे महानुभाव ! हमने उस स्थान पर योग्य ही कहा है। एक तो कल्प व्यवहार के कारण जिसे वर्तमान काल के बहुत से मनुष्यों ने स्वीकार किया है। दूसरे जैनी लोग निर्जरा के कारणों में प्रतिमा अमान्य अप्रमाण कर बैठे हैं। इस लिये अपने पक्ष को पुष्ट करने और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये तथा अपना शासन खूब दीप्त हो और सारे संसार में प्रख्यात हो जाय। इन तीनों कारणों से हमने उस ग्रन्थ में ऐसा लिखा है। अब हमने चौथा गुण स्थान की

क्रिया मे स्थावर तीर्थ अमान्य किया, उसका मतलब यह है कि जिन क्रिया के कारण सुरिआभ देव और द्रौपदी आदि का अधिकार बतलाकर मूर्ति पूजा सिद्ध की जाती है, उनकी क्रिया में बहुत भेद है। देखो विजय देवता और बहुत से देव उत्पन्न होते समय पूजा करते हैं, परन्तु उस समय पूजन के वक्त भगवान् ने उन्हे सम्यक्त्वी नहीं कहा। इसलिये वे मिथ्यात्वी ही है। सारांश यह कि देवता उत्पन्न हो उस समय पूजा करते है। परन्तु यह पूजा कल्याण कारी हो तो जो मनुष्य भ्रम वश वार२ कर रहे हैं, उनका कल्याण क्यों नहीं होता? इस लिये सूत्र देखते हुए वे सम्यक्त्वी नही हैं, और वहां सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी का कुछ नियम भी नहीं है। तो सिद्ध है, कि पूजा करने का हक किसी को नहीं है। फिर आज कल के विवेक विकल मनुष्य महा जुल्म आश्रव सेवते है, यह बड़ा आश्चर्य है। फिर उसी पुस्तक के पांचसो पांचवे पन्ने पर लिखा है कि सातवीं आश्रव भावना किसे कहते हैं? तब शिष्य के प्रश्नोत्तर में गुरु कहते हैं कि यह काया आश्रव रूपी सरोवर है। जिसमें इन्द्रिय और मन आदि कच्छ मच्छ रमते हैं। जिसमें विषय रूपी तरंगें उठ रही हैं। पाप रूप जल भरा हुआ है। जिसके प्राणा-तिपात आदि पांच नाले हैं। जिसमें पहिला जीव हिंसा याने त्रस स्थावर का नाश करना चाहे वह धर्मार्थ हो या संसारार्थ। उसे आश्रव कहते हैं। यहां कई वादी शंका करते हैं कि धर्मार्थ हिंसा हो उसे पाप में गिरते हो या नहीं? इसके उत्तर में प्रश्न व्याकरण सूत्र में धर्मार्थ हिंसा करने वाले को महा मंद बुद्धि और दुष्ट कहा है। दशवैं कालिक आदि सूत्रों में जयणा करना दया पालना इसे ही धर्म कहा है, और जो अज्ञानी धर्म

को अधर्मावस्था में घुमाकर धर्म २ पुकार कर हिंसा करते हैं वे सत्य शास्त्र को देखते हुए तो अधोगति के अधिकारी होंगे। सिद्धान्तों में यह प्रत्यक्ष लिखा है। कारण कि जो धन के लाभ की आशा से पूजा, प्रतिष्ठा, स्नान व्रत, प्रत्याख्यान आदि करवाते हैं, वे सब पाषाण की नांव के समान हैं। वे स्वयं डूबते और दूसरों को डुबोते है। अर्थात् वे अज्ञानी अपने पेट पालने के लिए धर्म, पाप, आश्रव, और संवर की परीक्षा नहीं करते, केवल हिंसोपदेश देते हैं। कदाचित् किसी को कुछ शास्त्र ज्ञान हो तो उसे भी अपने बंधन में लेकर अपना व्यवहार चलाने के लिये शास्त्र से दूर रहने को कहते हैं। वे स्वयं डूबें और दूसरों को डुबोवें, इस में आश्चर्य ही क्या है। इस लिये हिंसा वहां आश्रव है अर्थात् बारह अव्रत कहे हैं। जिस में छः काय के अवृत्त याने हिंसा। वहां ऐसा नही कहा है कि जो धर्मार्थ हिंसा करते हैं, वे पाप के भागी नही है। कारण कि ज्ञानवस्था अथवा अज्ञानावस्था में जो कोई भी विष खाते हैं,वे अवश्य ही दुःख पाते है। इसी प्रकार जो संसारार्थ या धर्मार्थ हिंसा करते हैं, वे सब भारी कर्मकृत्य करते है, किन्तु धर्म कृत्य नही करते। ऐसा कोई प्राणी नही कहता कि हे धर्मार्थियों! तुम अपने कल्याण के लिये हमारे प्राण लेकर तीर्थङ्कर गोत्र बांधो। तुम्हें किसने ऐसी आज्ञा दी है? जिससे तुम अन्याय करते हुए भी नही डरते हो! और व्यर्थ गाल बजाते हो। परन्तु यह निश्चय समझो कि सबको-प्राणी मात्र को जीवन और सुख प्रिय है। तथा मृत्यु और दुःख अप्रिय है। इसलिये हे चेतन! त्रस स्थावर प्राणी की रक्षा करो तो अनंत शिव सुख पाओगे। हिंसक लोग पिचपन दुःख विपाकिया वत् भ्रमण करेंगे। यह पहला आश्रव हुआ। इसी प्रकार

इस पुस्तक में आश्रव भावनाधिकार में दूसरे मृषावाद अर्थात् झूठ बोलने पर विवेचन लिखा है कि कितने ही अज्ञानी यों कहते हैं कि धर्मार्थ झूठ बोलने में पाप नहीं है। यह असत्य कल्पना है। उसी पुस्तक के चार सौ साठवें पन्ने पर शिष्य पूछता है कि हे स्वामिन्! जमाली आदि जिनने जिन वचन उथ्थापे हैं, वे भ्रम रहे हैं। परन्तु वर्तमान में तो कोई जिन वचन उत्थापक नहीं है, जिसका परिपद्द धर्म इस समय उठा रहा हो।

गुरु कहते हैं, हे भद्र! घास के चोर को शूली का दंड दिया जाय तो करोड़ों रुपयों के चोर को क्या सजा देनी चाहिये? विचार करो। मुझे तो फिर इसके लिये कोई उपयुक्त दंड दिखाई ही नहीं देता। जो तिनके की चोरी से शूली मिलती है तो फिर शूली से जबर्दस्त दण्ड ही कौनसा है? जो इन्हें दिया जाय। इसी प्रकार हे शिष्य! जमाली तो सिर्फ चोर है। भगवान् ने कहा कि 'जो करना शुरू किया उसे किया कहना चाहिये' इतने ही वचन के उत्थापने से जिसने बहुत संसार बढ़ा लिया परन्तु वर्तमान में तो सब मूल सूत्र ही उत्थाप दिये हैं। सिर्फ मुंह से यह कहना शेष रह गया है कि एक मात्रा का भी परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इसका विशेष विवेचन सिद्धान्त सारोद्धार में पढ़लेना। वर्तमान् में जो परिवर्तन है वह विशेष कर आवश्यक की टीका में है। सूत्र से मिलता हुआ तो कोई २ वाक्य मिलेगा। पाठक स्वयं विचार लें। परन्तु सब मूल सूत्र उठा कर केवल आवश्यक की टीका को मानलेना विचारणीय है। वर्तमान के बनाये हुए स्तवन सज्झाय आदि का सहारा लेकर सूत्र को उठादेने वाले किस दण्ड के पात्र हैं? क्योंकि बहुत संसार तो जमाली ने बढ़ाया है, तो यहां शास्त्र उत्थापने का तो कुछ परिणाम ही नहीं है।

तो उन उत्थापकों मे कितना ज्ञान है ? यह ज्ञान दृष्टि से विचार करने पर मालूम होगा।

उसी ग्रन्थ के पांचसो चौवनवें पन्ने पर लिखा है कि जो आत्म धर्म के द्वेषी है, उन्हे अभी सम्यक्त्व गुण स्थान का स्पर्श ही नहीं हुआ है। तब अभी तुम स्वेच्छा से चाहे सो करो। परन्तु जिस प्रकार कोई काष्ट के पुतले को वर बनाकर बरात लेकर व्याहने ज य तो उसे कन्या नहीं व्याही जाय और पुतला लेजाने वाले शरमायें। इसी प्रकार आत्म ज्ञान विना अवश्य ही अनन्त ससार परिभ्रमण करना पड़ेगा और उनका उपदेश सुनने वाले भी अनंत संसार तक रुलेंगे। तब बाह्याडम्बरी कहने लगे कि तुम्हारे ये बचन बडे ही कठोर हैं। परन्तु हमने तो बहुत बड़े पंडित के वचन सुने हैं, और उन्ही के आधार पर हम चलते है, तो हमें रुलने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर-जो तुम पंडितों के वचनानुसार चलते हो तो कहना यही है कि किसी आत्मार्थी पंडित के वचन बंधन कारक या आश्रव बढ़ाने वाले नही होते हैं। सारांश यह कि जिस खाते में बाह्य क्रिया का उपदेश है, तथा कर्म बंधन का उपदेश देनेवाला पंडित है, तो वह धर्मोपदेश पंडित नही है। और जो पंडित है वह आत्म स्वरूप पहचान कर संवर भाव की प्ररूपणा करता है। ऐसे पंडितों का मूल शास्त्रों में कई जगह वर्णन है। जिन शास्त्रों के नाम हम पहले ले चुके है।

प्रश्न-उन शास्त्रों के कर्ता सच्चे पंडित और अन्य शास्त्रों के कर्ता पंडित क्या झूठे है ? जिन पंडितों का तुमने बयान किया वे प्रत्यक्ष में झूठे हैं। कारण आचार दिन करण ग्रन्थ में ऐसा कहा है कि " गृहस्थी के लड़के का साधु विवाह कराने जाय तो ऐसा कहने वाले को पंडित कैसे कह सकते

है। परन्तु इन वाक्यों से ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने अपनी व अपने परिवार की आजीविका कायम रखने के लिये ऐसा कहा होगा। फिर तपस्या पूर्ण करने-उजमने के ग्रन्थ बनाने वाले से कहना है कि एकावलि कनकावलि आदि तप मूल सूत्रों में हैं, तो उनके लिये कहीं उद्यापन वगैरः करना नहीं लिखा, और तुमने जो शास्त्र में नहीं हैं, ऐसे नये तप उत्पन्न कर, उनके द्वारा स्वामीवत्सलादि करने के नियम बांध कर उदर पूर्ति के सिवाय और क्या किया है? और ऐसे प्रकरण ग्रन्थ बनाये हैं कि श्रावक को उपध्यान किये विना नवकार गिनना भी गुण कारी नहीं है। ऐसे वाक्य किस शास्त्राधार से रखे हैं। उपासक दशांग में आनंद प्रमुख दस श्रावकों का अधिकार है। उन्हों ने प्रमाद रहित तुरंत धर्म सुनकर मूल बारह व्रत धारण किये और ग्यारह प्रतिमा श्रावक की अङ्गीकार की, पर उस उद्देशे में उपध्यान किया ऐसा तो कहीं लिखा ही नहीं। इसी प्रकार सब श्रावकों को आनन्दजी की तरह ही चलने के लिये कहा है। उसपर विचार करने पर मालूम होगा।

फिर तुम कहते हो कि साधु योग्य हुए विना शास्त्र नहीं पढ़ सकते। इसके प्रत्युत्तर में यह कहना है कि भगवतीजी सूत्र में स्कन्धक तपस्वीने संयम लेकर तुरंत ग्यारह अंग पढ़े और अनेक गृहस्थने दीक्षित हो कर ग्यारह अंग या द्वादशांग पढ़े। तथा अनुत्तरोवाई सूत्र में धन्ना अणगार ने नो महीने का संयम पाला। जिसमें आठ मास तपस्या में और एक महीना संथारे में बिताया। और ये भी ग्यारह अंग पढे हैं। तो उन्होंने कब ज्ञानाभ्यास किया होगा। विधि पूर्वक पढ़ने में तो केवल भगवतीजी के लिये ही छः माह चाहिये। तो मांडलिया आचार और अंग पढ़ने कितने बरस लगेंगे। इसका विचार करो। परन्तु कहना पड़ता है कि उपरोक्त

ग्रन्थ के रचयिता आजीविका सिवाय धर्म मार्ग में कुछ नहीं समझते थे। फिर श्राद्ध विधि आदि कितने ही ग्रन्थों में समय २ पर आचार्यों ने शरीर सम्बन्धी व्यवहार के भी पन्ने भरे हैं। जिनमें वड़ी नीति, लघु नीति, दन्त धोने, स्नान करने खाने पीने आदि के आचार लिखे हैं तो इन्हें क्या आत्म धर्म कहें या पापोपार्जित कहें? इन ग्रन्थों पर विशेष ज्ञान चक्षु लगा कर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि इन ग्रन्थ कर्ताओं को पंडित कहते विद्वानों की सुमति में दोष लगता है।

हुकम मुनि कृत उसी पुस्तक के चार सो ७० वे पृष्ठ पर नंदी सूत्र की साक्षी देकर ऐसा लिखा है कि दस पूर्व धारी के उपदेशी वचन तथा उनके बनाये शास्त्र सूत्र की तरह प्रमाणिक हैं। पर इनसे अधूरे पढ़ने वालों के वचन सिद्धान्तानुसार हो तो सर्वमान्य हैं, और सूत्र विरुद्ध हों तो अनंत संसारी हो जाते हैं। इस लिये दस पूर्व से कम पढ़े के रचे हुए ग्रन्थों को सूत्र न कहकर ग्रन्थ ही कहना चाहिये। और उनमें भी निर्वद्य रीति लिखी हो तो मान्य है और नहीं तो वे भी अमान्य। इस जगह कितने ही कहते हैं कि पंचांगी तो प्रमाण करना चाहिये। कितने ही कहते हैं कि पांच गाथा का स्तवन, सञ्झाय हो तो मान्य करना चाहिये। ऐसा कहना मिथ्यात्व का कारण है। सारांश यह है कि सिद्धान्त के विरुद्ध वाक्य प्रकरण मानते शुद्ध संवर मार्ग लुप्त हो जाता है, और वे कृत्य करते आश्रव वढने से जिन आज्ञा उठ जाती है। कारण कि सर्वज्ञ ने भगवतीजी तथा उववाई आदि मूल सूत्रों में ऐसा कहा है कि "असाहिज्जदेवा" धर्मार्थी किसी देव की सहायता न चाहे। इसी प्रकार भविष्यकाल के भव

में सुख न चाहे ऐसा स्थानांगजी सूत्रादि पर से समझना। किन्तु वर्तमान काल में तो सेवा, पूजा, यात्रा, तप आदि करते हो और कराते हो उसमें तो तुम भवोभव की चाह करते हो इसलिये तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हें बहुत भव मिल सकेंगे ऐसा सम्भव है। फिर कितने ही द्रव्य लिङ्गी तथा उनके उपदेश श्रोता प्रतिक्रमणादि करते हुए यह मांग पेश करते हैं और कितने ही वेषधारी देवी देवताओं की सहायता चाहते हैं, तथा उन्हें हाथ जोड़ नमस्कार कर कहते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है। सारांश यह कि सिद्धान्तों में तो श्रावको को भी अव्रति के सामने झुकना मना किया है, तो साधु अव्रती को नमस्कार करें यह कैसे हो सकता है? साधु तो पंच परमेष्ठी नौकार में प्रस्तुत हैं। उनके नाम का पांचवां पद मोजूद है जिससे अव्रती देवी देव साधु को ही नमस्कार करते हैं। पर साधु अव्रतियों को नमस्कार नहीं कर सकते हैं। परन्तु वर्तमान में द्रव्य लिङ्गी साधु देव देवी को नमन करते हैं। यह बात शास्त्र देखते हुए अघटित है। इसका कारण यह है कि सूत्रकारों ने साधुओं को गुणवंत भगवंत कहे हैं तो फिर वे अव्रतियों की गुलामी क्यों करें? फिर सूत्र में तो यहां तक कहा है कि साधुओं को गृहस्थी की संगति भी नहीं करना चाहिये। पर वर्तमान में कितने ही साधु गृहस्थों के अंग रक्षक होकर अपने स्वाधिकार स्थिर रखने के लिये ग्रन्थों की या अनेक कपोल कल्पित बातें कह कर पेट का गुजारा करते हैं, तो क्या वे शास्त्र मान्य साधु गिने जाते हैं?

फिर हम पूछते हैं कि उपरोक्त व्यवहारी ग्रन्थकर्ता पुरुष कितने पूर्व के पाठी थे? और वर्तमान में कितने पूर्व का

ज्ञान है ? तो इसके उत्तर में क्लेशी मित्र कहते हैं कि वे पूर्वों के पाठी तो न थे पर तुम उनका अपमान करते हो। तब हम कहते हैं कि क्या वे तुम्हारे जितने भी न पढ़े थे ? किसी शास्त्र में उपरोक्त व्यवहार उन्हें दृष्टिगत हुआ होगा, तभी उन्होंने ऐसा लिखा है। ऐसा उत्तर देकर वे क्लेश करने पर उतारू हो जाय, परन्तु न्यायोचित उत्तर न दें और उलटे यह कहें कि तुम अल्प ज्ञानी क्या समझते हो ? ऐसे मृदुभाषियों से इतना ही कहना है कि द्रव्य वेष धारण करने वाले तथा उनके सेवक असंयति की हालत में रहते हैं। महा आरंभ और परिग्रह के लोभी हैं, तथा कुशील आदि दुर्गुणों से भरपूर शून्य उपयोगी हैं। जिनके बनाये हुए स्तवन सज्झाय आदि ग्रन्थ सिद्धान्त की तरह कैसे मान्य हो सकते हैं ? और जो मान्य करें तो आज्ञा असत्य क्यों न हो सकती है ?

प्रश्न—यहां कोई कहते है कि वे ग्रन्थ कर्ता असयंति या अव्रती हों तो उनके कर्म उनके सिरपर। परन्तु उनके शास्त्र तो पक्ष पात रहित निर्वद्य वाक्यों में रचे हुए हैं न ?

उत्तम—हे वादी ! तुम्हारे ये वचन मिथ्या हैं। क्योंकि जो वैश्या दुष्ट कर्म करती है, उसकी सोबत करने वाली सखियां शील व्रत पालने का उपदेश कैसे दे सकती हैं ? चोरी करने वाला अपने साथी को अदत्ता दान के त्याग कैसे करा सकता है ? इसी दृष्टान्तानुसार ग्रन्थ कर्ता की कल्पित बुद्धि से सत्य मार्ग और मूल सूत्रों का उपदेश पक्षपात रहित हो तो उनमें मिष्टान्न भोजन आदि लक्ष्मी कैसे प्राप्त हो सकती है ? परन्तु यह निश्चय समझो कि जहां परिग्रह होगा वहां मृषावाद तो अवश्य होगा ही। तो ऐसे उपदेश कर्ता ग्रन्थकारों को पंडित कैसे

कह सकते हैं ? सूत्र में निर्ग्रन्थ के वचन मान्य करने के लिये कहा है परन्तु धन हरने वाले के वचन मान्य करना नहीं कहा।

निर्ग्रन्थ के वचन मान्य करने के बारे में साक्षी भगवतीजी तथा ज्ञाताजी आदि सूत्रों मे जिन २ मनुष्यों ने स्वगुरु के पास से उपदेश सुना,वहां २ वे गृहस्थ ऐसा कहने लगे कि हे पूज्य ! हे भगवन् ! मुझे एक निर्ग्रन्थ के वचन पर ही श्रद्धा है, उन्हीं निर्ग्रन्थ के वचनों पर प्रतीति है, और निर्ग्रन्थ के वचन ही मुझे रुचिकर हैं। वे ही वचन काया से स्पर्श करता हूं। उन्हीं निर्ग्रन्थों के वचनों को प्रमाण करने के लिये प्रस्तुत हूं। उन्हीं निर्ग्रन्थों के वचनों का मुझे निश्चय है। वे कभी असत्य नहीं हो सकते। वे निर्ग्रन्थ वचन ही मुझे इष्ट-वल्लभ हैं। इन्हें ही इच्छा से चाहता हूं। इन निर्ग्रन्थ वचनों के सिवाय सब अनर्थ के मूल हैं, इसलिये इन्हें मै यावत् चाहता हूं। ऐसा साधु तथा श्रावक धर्म का पाठ है। उनमें तो सिवाय निर्ग्रन्थों के वचनों के सब अमान्य और अनर्थ के मूल कहे हैं। तो दुर्बुद्धि वालों से कहना है कि ऐसे निर्ग्रन्थ के वचनों के सिवाय बाकी के वचनों को तुम सत्य प्ररूपक ठहराकर एवं उन्हें प्रामाणिक समझ उनके अनुसार चलते हो, तो क्या तुम अपने अनन्त भव बढ़ाने की इच्छा करते हो या और कोई कारण है ? परन्तु सचमुच जो सुज्ञ मनुष्य हो, तो वह निश्चय समझ ले कि आत्मार्थी पुरुषों के रचे हुए निर्वद्य वाक्य ही सिद्धान्त और सूत्र हैं, और इन्हीं निर्वद्य सूत्रों के उपदेश से आत्मोपयोगी पुरुषों ने मिथ्यात्व वोसिराते हुए सम्यक्त्व सहित ज्ञान क्रिया धारण कर दया रूप निर्वद्य पूजा और दया रूप निर्वद्य यज्ञ किये हैं। इनके सिवाय सारंभी पूजा-और यज्ञ ज्ञानियों के धर्म से प्रतिकूल हैं।

प्रतिमा मति प्रतिमा को शुभाशुभ कहते हैं, इस सम्बन्ध के प्रश्नोत्तर.

मतावलम्बी मनुष्य अपने मान्य किये हुए देवों की स्थापना करते समय प्रतिमाओं को शुभ और अशुभ कहकर जो कल्पना करते है, उस विषय में प्रश्नोत्तर व विवेचन नीचे देते है।

मूल शास्त्रों के विरुद्ध एक प्रतिमा के स्थापनार्थ जीत कल्प नाम का ग्रन्थ रचागया है। जिसमें कितने ही प्रकार के शुभाशुभ दृष्टांत देकर विवेक हीन भृत्यों को अंध कूप में गिरा दिये हैं। कारण कि वे बेचारे लक्षाधिपति होने तथा पुत्र पुत्रादिसे वंश बढ़ाने के लिये व्यवहारिक सुख से निर्विघ्न पार उतरने की आशंका से आरस पहाड़ के चित्रित पुतलों को शुभाशुभ संकल्प कर मंदिरों और घरों में विठलाये हैं, और उनसे अपना कल्याण चाहते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है। उस ग्रन्थ में ऐसा कहा है कि मल्लीनाथ, नेमिनाथ, तथा महावीर स्वामी की प्रतिमाएं गृहस्थ अपने घरमें रखें तो कुल की तथा धन की हानि हो अर्थात् भिक्षार्थी होकर हमेशा दीनावस्था में गुजरान करे। इसालिये ये प्रतिमाएं सेवकों को घर में रख नहीं पूजनी चाहिये। वाकी के २१ तीर्थंकरों की प्रतिमा कुल तथा धन की वृद्धि करने वाली है, कारण, सेवक इन्हें मंडित कर पूजें ऐसा एक वेषधारी ज्योतिषी कह गये हैं।

उसी ग्रन्थ में प्रतिमा की अवगाहना का परिमाण किया है। १, ३, ५, ७, ६, १२, इतने अंगुल की आरस पाषाण की

प्रतिमा शुभकारी है। और २, ४, ६, ८, १०, अंगुल की प्रतिमा अशुभ और नाशकारी है। ऐसा उस ग्रन्थ में बहुत सा विवेचन है।

ऐसी कल्पना करने वाले चतुरों से कहना है कि जो तुम परमेश्वर के नाम को शुभाशुभ गिनते हो तो क्या तुम्हारे मत में आत्म धर्म साधन करने के लिये कोई प्रतिमा गुप्त रखने की आज्ञा है? कारण कि तुम्हारे सदासद् की कल्पना से एक तर्क उत्पन्न होता है, एक अंगुल की प्रतिमा पूजने से सब जात के द्रव्यों की वृद्धि होती है, तो द्रव्य तो बिना महा आरम्भ किये प्राप्त नहीं हो सकता। तो क्या ये प्रतिमाएं महा आरम्भ के फल की देनेवाली है? इसी तरह ये प्रतिमा कुल वृद्धि भी करने वाली है। पर कुल वृद्धि तो शील के त्याग से होती है। तब ये प्रतिमा कुशील गुण की देने वाली सिद्ध हुई? तुम्हारी धन और कुल वृद्धि की कल्पना से तो यही अर्थ सिद्ध होता है। जिससे कहना पड़ता है कि सिद्धान्त विरुद्ध कहने से तुम्हारा संसार तो बढ़ा ही था पर उपरोक्त दो फल की प्राप्ति से फिर किस बात की त्रुटि रही? फिर तुम्हारे ही ग्रन्थों में कहा कि उपरोक्त तीन प्रतिमा घर में पूजने से तथा विभाजिक योग्य अंगुल की प्रतिमा स्थापन कर पूजने से धन तथा कुल का नाश होता है। तो कहना यह है कि ऐसी प्रतिमा पूजने से जो गरीब हो जायं तो ठीक ही होगा। सहज ही में निर्ग्रन्थ होजायंगे और शुद्ध करनी कर कर्म छुड़ादेंगे। यदि इन प्रतिमाओं के पूजने से कुल क्षय होजाय तो भी लाभ दायक बात है। क्योंकि कुल क्षय हो जाने से नये कुल में उत्पन्न होना न पड़ेगा, और उसी भवमें सिद्ध पद प्राप्त हो जायगा। इसलिये

ऐसी निर्धनता पाना और कुल का क्षय होना ज्ञान दर्शन और चारित्र के आधार से ही होता है। परन्तु ऐसी रीति शास्त्र बोध उपदेश त्याग, वैराग्य, ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप आदि की आराधना तो तुम्हारे हिंसा-मृषावाद के आचरण से उदय होना कठिन है। परन्तु नाशकारी प्रतिमा पूजन से तुम निर्धन हो जाओगे और तुम्हारे कुल का क्षय हो जायगा तो तुम पराधीन हो अकाम निर्जरा कर सकोगे, और उस अकाम निर्जरा के कारण किसी जाति के व्याणव्यन्तर देव हो जाओगे इसालिये अशुभ प्रतिमा पूजन से यह फल मिलेगा और शुभ प्रतिमा पूजन से संसार की वृद्धि होगी। केवल ज्ञानियों ने तो मूल शास्त्रों में संसार घटाने वाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही कहे हैं, परन्तु अन्य वाह्य क्रिया से शुद्ध निर्जरा रूप गुण प्रगट हों और उनसे कर्म उड़ें ऐसा नहीं कहा। इसलिये हे अविवेकी मित्रो! बुरी कल्पना से भूलकर पाप पिंड न भरते हुए ज्ञानाराधन में उत्साह दिखाओ। जिस से तुम्हारे किए हुए आश्रवों के बंध का नाश होगा। परन्तु जीत कल्प, महा कल्प तथा विवेक विलास आदि ग्रन्थों की रूढ़ि रूप पूंछ पकड़कर प्रतिमा के मंडनार्थ गृहस्थों को शुभाशुभ कह कर आशा रूपी फांस में डालते हो यह कुछ पंचेन्द्रिय पने का गुण नहीं है।

फिर कितने ही स्थान पर यह भी कहते हो कि चौवीस तीर्थंकर मोक्ष दाता हैं। परन्तु मूर्ति पूजा के मंडन के वास्ते किसी अपेक्षासे घोटाला मचाकर जवाब देते हो यह अयोग्य है। क्योंकि तीन प्रतिमाएं तथा वेकी अंगुली की प्रतिमाएं पूजने से धन तथा कुल के क्षय हो जाने का डर है। तो तुम वास्तविक विचार न करते हुए उसके प्रतिकूल

उत्तम देते हो यह कुछ सत्य धर्म की नीति नहीं है। परन्तु सचमुच यह समझो कि मोक्ष के कारण सिद्धान्त में ज्ञान, दर्शन,चारित्र और तप हैं। परन्तु शुभाशुभ प्रतिमा पूजन नहीं। तो भी तुम्हारे मति भ्रम से तुम हिंसा पुष्टी के लिये तीन उपरोक्त प्रतिमा को अमंगलिक कहते हो और बाकी इकवीस को मांगलिक। तो तुम यह परस्पर भेद कर जो तीर्थंकर मोक्ष पहुंचे हैं, उनके नाम को एव लगाते हो। कारण नेमीश्वर बालब्रह्मचारी कुमारावस्था में योग साधकर मोक्ष पधारे। वे सब नर, देव तथा मुनिजनों के वंदनीक हैं, पर तुम्हारी कल्पना में वे व्यवहारिक भोग के न करने से पुत्र विहीन थे इसलिये तुम उन्हें अमंगलिक गिनते हो तो तुम्हारे विचारानुसार अब वे सपुत्र कहां से हों ? ऐसा तुम कहकर उन वंदनीय सिद्ध भगवान् की कुयुक्ति से आशातना करते हो। जिससे यह मालूम होता है कि तुम निर्लज्ज और बेशरम हो। इसी भांति तुम मल्लीनाथ और महावीर स्वामी को अमंगलिक ठहराते हो और अपने मन में भिन्न ही कल्पना करते हो। पर जब पूछने वाला तुमसे जबाब मांगता है तो तुम उलटा ही जबाब देते हो। इस लिये मिथ्या कल्पना द्वारा कृत्रिम प्रतिमा का आधार लेकर सत्य पुरुषों एवम् शिवगत गामियों की तुम हंसी करना चाहते हो। जिससे मालूम होता है कि तुम्हारा कुल व्यवहार कल्पित है और कपट माया रचकर जो तुम ऐसा कहते हो कि यह विद्वज्जनों के समझने योग्य है। यह भी सिर्फ कल्पना मात्र से ही कहते हो।

दिगम्बर, बीसपंथी, तेरापंथी तथा श्वेताम्बर के परस्पर विरुद्ध प्रश्नोत्तर

प्रतिमा ग्राही दिगम्बरों के दो पक्ष प्रत्यक्ष हैं। एक बीस पंथी और दूसरा तेरापंथी। जिनमें बीस पंथी प्रतिमा पूजते समय पान, फल, फूल, बीज, हरी काय आदि तथा केशर, चंदन, धूप, दीप, आरती आदि बहुत छः काय का आरम्भ कर पूजा करते हैं, और तेरा पंथी उपरोक्त विधि से पूजा करने वालों को मिथ्यात्व दृष्टि में गिनते हैं। इस लिये उन प्रतिमाओं को भी कुलिंग में समझ हमने उन का त्याग कर दिया है। सारांश यह कि तीर्थंकर महाराज आप स्वशरीर से संयम सहित विचरते थे, उस समय फल, फूल, दीप धूप आदि व्यवहारिक भक्ति के भोगी न थे। तथा आरम्भ से की हुई पूजा उन्हें मान्य न थी, तो भी उनके नाम की प्रतिमाओं को बीस पंथी अनेक आरंभ से पूजते हैं, यह शास्त्र विरुद्ध है।

हम तेरह पंथी सत शास्त्रों के आधार से प्रतिमा पूजते हैं। जैसे भगवंत निर्वद्य पूजा सन्मान सहित विचरते और दया मार्ग का उपदेश देते थे, वही आधार रख हम उन तीर्थंङ्करों के नाम की प्रतिमा स्थापन कर पूजते हैं और वे तीर्थंकर निर्वद्य पूजा से पूजनीय थे उसी तरह उनकी हम निर्वद्य पूजा करते है। कारण कि संयम आराधते समय उन तीर्थंकरों ने सब सावद्य कृत्य वोसिरादिये थे और वे निरारंभी

होकर विचरते थे तो प्रतिमा पूजते समय हम भी निरारम्भी पना दिखाते हैं। इस प्रमाण से पूजन करते भव भ्रमण मिटती है ऐसा तेरह पंथी प्रतिमा मति मान्य करते हैं, और पहले कही हुई रीति बीस पंथी मानते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों का मत प्रतिमा मानना है, तो भी परस्पर भेद में रमते हैं, और सावद्य तथा निर्वद्य पूजा प्ररूपते हैं। अब उपरोक्त विवादियों को सूचित करना है कि वीतराग भाषित जैन शास्त्रों में देशव्रती श्रावकों के लिये एकेन्द्रिय की प्रतिमा पूजने के लिये कुछ भी नहीं कहा है। तो भी तुम शास्त्र विरुद्ध प्रतिमा स्थापन कर सावद्य निर्वद्य पूजन की कल्पना करते हो यह बिलकुल हंसी से भरा हुआ है।

अब वीतराग की आज्ञानुसार चलने वाले दया धर्मी सत्य शास्त्र के आधार से प्रतिमा का तथा आरम्भ समारम्भ का त्याग कर निष्पक्षपात से आर्यधर्म का आराधन कर संवर निर्जरा रूप करनी करते हैं, वे पुरुष उपरोक्त विवादियों के सारंभी कृत्यों की जड़ काटते हैं। वे सब सत्य धर्म शास्त्र के आधार से ऐसा करते हैं, यह ठीक समझना चाहिये।

बीस पंथी, तेरह पंथी और मूर्ति पूजक श्वेताम्बर ये तीनों मत वाले अपने शास्त्र में ऐसा लिखते हैं कि घर या मंदिर में मूर्ति स्थापन करने के लिये मोल ली गई परन्तु जब तक उसकी प्रतिष्ठा, होम, स्नान आदि सब पूजन विधि का मुहूर्त न आ जाय या उस प्रतिमा के कान में मंत्र न सुना दिया जाय तब तक उसमें तीर्थंकर के गुण नहीं आसकते, और इसीलिए वह अवन्दनीय है। उपरोक्त विधि के पश्चात् कान में मंत्र सुनाने पर मूर्ति तीर्थङ्कर गुण संयुक्त पूजन-वंदन योग्य होती है। ऐसा कहने वाले विकल मति मनुष्यों से जैन धर्मी पूछते हैं कि तुम्हारी मान्य मूर्ति के कान में तुमने

गुरु मंत्र सुनाया तो वह तुम्हारी शिष्या हुई, और तुम उसे तीर्थंकर के गुण योग्य समझते हो तो मालूम होता है कि जो वह तुम्हारी शक्ति से तीर्थङ्कर पद पाई है तो तुम्हारी शक्ति उस से भी अधिक है। एकन्द्रिय के कान में मंत्र सुनाकर तीर्थंकर पद देने की तो तुम्हारे में शक्ति है, तो विचारे तुम पंचेन्द्रिय भी तुम्हारे पीताम्बरी गुरु तथा तुम सब परस्पर कान में मंत्र सुनाकर संभलाकर मिथ्यात्व गुणस्थान के एक इन्द्रिय पाषाण प्रतिमा की तरह तीर्थंकर होजाओ। फिर किसी के पूजा की इच्छा न रहेगी। अरे विकल मनुष्यो! मूर्ति के मानने वालों में भी बहुत सी विरुद्ध रीतियां प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती हैं। इसलिये सत्य सिद्धान्तों के सिवाय कल्पित ग्रंथकारों का मत कैसा मिल सकता है? और मंत्र पढ़ने से उस प्रतिमा में कौनसा गुण प्रकट होता है? यह भी सुनाओ।

भादवा सुदी पंचमी के बजाय चौथ मानते हैं, उस सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर

पाषाण मति पंचम काल में सावद्याचार्य के बनाये हुए ग्रन्थों के आधार से ऐसा कहते हैं कि जो भादवा सुदी चौथ को प्रतिक्रमण कर लेते हैं, वे सत्य धर्म के आधार से चलते हैं, ऐसा कहना बिलकुल असत्य है।

इसके प्रत्युत्तर में सिर्फ इतना ही कहना है कि अनादि काल से मूल सूत्रों के आधारानुसार विश्वास होता है कि भादवा सुदी पंचमी को साधु तथा श्रावक संवत्सरी प्रतिक्रमण

करते हैं। ऐसा सिद्धान्तों में प्रत्यक्ष होते हुए भी पाषाण पंथी पांचम विरुद्ध चौथ मान्य करते हैं। यह मूल शास्त्रों से तो बिलकुल विरुद्ध है ही, परन्तु अखिल जगत् से भी विरुद्ध है। कारण कि ग्यारह महिनों की सब पञ्चमी तो लोक लज्जा से मानते हैं, परन्तु यह एक ही पञ्चमी द्वेष कारक होगई है? इस कारण विश्वास होता है कि अनन्त ज्ञानी तीर्थंकरों के वाक्य से मूल सूत्र रचे गये हैं। उनसे भी विशेष कालकाचार्य आदि के रचित ग्रन्थ प्रमाणिक है। कदाचित् सूत्रों का आधार रखते हो तो पञ्चमी की चौथ कैसे हो सकतीहै। अगर पञ्चमी की चौथ हुई तो हुई पर एक ही पांचम जिसे हिन्दू लोग भी ऋषिपञ्चमी कहते हैं, वही पांचम चौथ मानी जाकर बाकी की २३ पांचम पांचम ही प्रमाणिक कैसे रह सकती है? हां जैसे एक चौथ को प्रतिक्रमण किया जाता है, वैसे सब चौथ को ही प्रतिक्रमण किया करते तो ऐसा कह सकते कि पीले वस्त्र धारी चौथिया मत वाले हैं, और एक भिन्न धर्म गिना जाता। परन्तु ऐसा न करके एक ऋषि पंचमी को ही चौथ मानकर और अन्य दर्शनियों से भी पलाकर मिहनत उठाते हैं, यह मिथ्या कुकर्म है। देखो वीतराग भाषित मूल सूत्रों में तो पांचम की प्रगट महिमा है। इसलिये जैन दया धर्मियों को अवश्य पांचम के दिन ही प्रतिक्रमण करना योग्य है।

अब मिथ्या स्वाभिमानी चौथ धर्म वालों से कहना है कि वीतराग के अमूल्य वचन का उल्लंघन कर कालकाचार्य के ग्रन्थों को मान दे सूत्र विरुद्ध चलते हो तो विश्वास होता है कि तुम्हारा मत सूत्रानुसार नहीं है। परन्तु किसी सिद्धान्त द्वेषी बाल तप करने वाले ने तपागच्छ की स्थापना कर उक्त सूत्र

चलाये हैं। क्योंकि पञ्चमी के प्रतिक्रमण वास्ते श्री समवा यांग सूत्र में भगवंतने फरमाया है कि आषाढ़ शु० १५ के संध्या के प्रतिक्रमण से ५० वें दिन संवत्सरी अर्थात् भादवा शु० ५ को प्रतिक्रमण करना। जो तिथि कम हुई हो तो ४६ वें दिन प्रतिक्रमण करना परन्तु इकावनवें दिन नहीं। कल्प सूत्र के कर्ता ने भी समवायांग सूत्र की अपेक्षा लेकर संवत्सरी प्रति-क्रमण करना मान्य किया है उसका पाठः-' यत अषाढ़ चतुर्मासिक प्रतिपद्दिनारभ्य सविशंति रात्रे मासे व्यति क्रान्ते भगवान् पर्यूषणामकार्षित् तथैव गणधरा अपि कार्षुरित्यादि।'

भावार्थ—बीस दिन सहित एक महीने बाद प्रतिक्रमण करना, मूल सूत्रों में पूनम को पक्खी कही है, इसलिये ४६ तथा ५० वें दिन पंचमी मानना सत्य है। इसी तरह किसी समय प्रतिक्रमण के समय तथा सम्पूर्ण पंचमी हो तो प्रति-क्रमण करना कहा है जिसके उत्तर में समवायांग सूत्र में में घड़ी का मेल तो भगवान् ने नहीं सुचाया परंतु ४६ ५० वें दिन प्रतिक्रमण करने वास्ते साफ फरमाया है।

इस प्रश्न से कोई तप्त स्वभावी युक्ति लगाकर कहते हैं कि " दो श्रावण आते हैं तब दूसरे श्रावण मास में पर्यूषण करना चाहिये या भादवा महीने के मेल में संवत्सरी प्रति-क्रमण करना कहाहै " ? उनको कहना है कि श्री जैन शास्त्रों के हिसाब से तो श्रावण महीना कभी नहीं हो सक्ता।

तत्र युगमध्ये पौषः युगांतेचाषाढ़ एव वर्द्धते नान्ये मासास्तविदानितत् सम्यग् ज्ञायते अतोदिन पंचाश तैव पर्यूषणा संगतेति वृद्धाः।

अर्थात् सिद्धान्त के न्याय से पौष और आषाढ़ ये दो अधिक माह (महीना) आते हैं परंतु जैन पंचांग वर्तमान में चालू नहीं है तो भी सिद्धान्त के आधार से ४९ या ५० वें दिन पांचम मानना सूत्रानुसार न्यायोचित है।
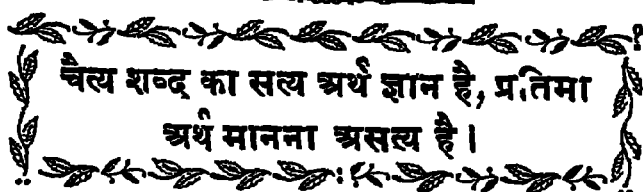
संवत्सरी के पश्चात् ७० वें दिन कार्तिक चातुर्मास की पक्खी का प्रतिक्रमण करना योग्य है, कारण कि जैन शास्त्रों में दो अधिक मास कहे हैं, और ७० दिन तो व्यवहारिक वचन के हैं. जिन में एक या कभी दो तिथि कम हो जाती हैं जिस से ७० दिन मानना व्यवहार के अनुसार सत्य है परन्तु तिथि घटने से ६९ या ६८ दिन भी होते हैं, इसलिए सूत्रानुसार चलना योग्य है। ७० दिन संवत्सरी के बाद के जो कहे हैं वे बरसाती (वर्षाती) समाचारी के लिये हैं और प्रथम के ४९ या ५० दिन चातुर्मास स्थापनार्थ अवग्रहयाची के कहे हुए हैं। संवत्सरी के पहिले ५० वें दिन यानी आषाढ़ शुक्ला १५ के दिन अवश्य अवग्रह याचना चाहिये परंतु उलंघन करना नही कलपता है। चातुर्मास में दो श्रावण मास आवें तब वे जगत् व्यवहारिक पंचांग में रहते हैं इसलिये दूसरे श्रावण में संवत्सरी करना सिद्धांत के हिसाब से भादवा में ही करना माना जाता है, और मध्य के अधिक मास के कारण से संवत्सरी के बाद १०० वें दिन कार्तिक शुक्ला १५ मानते हैं। यह लौकिक पंचांग का हिसाब है। परंतु आश्विन शुक्ला १५ को ही जैन पंचांग के अनुसार कार्तिक शुक्ला १५ गिनकर प्रतिक्रमण करना चाहिये।

यदि पहिले दो आषाढ़ आवें तो प्रथम आषाढ़ बीते बाद दूसरे आषाढ शुक्ला १५ को चातुर्मास बैठा देना चाहिये या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव देखकर सिद्धान्तानुसार चलना

चाहिये। कदाचित् ज्येष्ठ मास तथा प्रथम आषाढ़ मास में वर्षा ऋतु के कारण से राह (मार्ग) में अयत्ना हो तो शास्त्रानुसार स्थिर वास करना योग्य है, यह सिद्धान्त प्रवचन आस्तिक है, क्योंकि अयत्ना टालने वास्ते प्रत्येक महीने का नियम लागू नहीं है। उपयोग के साथ चारित्र के निर्वाह के लिये विचरने की भगवान् की आज्ञा है, तो भी पीतवस्त्रधारी कुलिंगी अपने अपने मस्ताने मद में पराधीनता वश प्राचीन काल के सावद्याचार्यों को युग प्रधान गिनकर जिनके बनाये हुए प्रकरण भ्रम जाल में पड़कर कुयुक्तियों से भरपूर बनावटी महात्म दिखाने के हेतु बड़ी पंचमी के विरुद्ध चौथ करते हैं, यह कुछ कम जुल्म नहीं है।

इन कालकाचार्यों ने पांचम के बदले चौथ को प्रतिक्रमण किया यह जैन शास्त्रों से तो विरुद्ध है, कारण किसी समय साध्वी की मदद खातिर कालकाचार्य पर राज विग्रह का परिषह आया तो इनने विचार किया कि पांचम के बदले चौथ का प्रतिक्रमण करने की भगवान् की आज्ञा तो नहीं है, परंतु कार्य कारण वश चौथ को प्रतिक्रमण करता हूं, आते साल पंचमी को करलूंगा। ऐसे अभिप्राय से ये चौथ का प्रतिक्रमण कर अन्य देश की ओर विहार कर गये, ऐसा इन तपामतियों के ग्रंथों से मालूम होताहै। ये चौथ प्रतिक्रमण के पहिले पांचम का ही प्रतिक्रमण करते थे। और भविष्य काल में भी पांचम का ही प्रतिक्रमण करने वाले थे, पर वे पहिले ही काल कवलित होगये, अतएव उनके मनका इरादा उनके मनमें ही रह गया। पश्चात् उनके शिष्यों ने अपने गुरुका महत्व बढ़ाने के हेतु चौथ का ही पूंछड़ा पकड़ रक्खा है और उनसे जब कोई इस विषय में पूछता है तो वे क्रोधातुर होकर कहते हैं कि—" हमारे पूर्वजों ने शास्त्रानुसार योग्य चौथ मानी है,

इसलिये हम भी वैसा ही करते हैं " ऐसा कह कर चौथ धर्मी पीले वस्त्रधारी कुयुक्तियां रचकर ग्रंथों की साक्षी देते हैं। जिस से अज्ञान मनुष्य उन वेषधारियों का मान बढाने के लिये अंधे हो उनके कहे अनुसार चलते हैं; परंतु वीतराग की आज्ञानुसार चलने वाले जैन दया धर्मी शास्त्रानुसार पांचम का प्रतिक्रमण करते हैं और द्रव्य लिङ्गियों की कुयुक्तियों के भ्रम को व्यर्थ समझते हैं।

चैत्य शब्द का सत्य अर्थ ज्ञान है, प्रतिमा अर्थ मानना असत्य है।

कितने ही जड़मति तम स्वभावी ऐसा कहते हैं कि-सिद्धान्तों में चैत्य शब्द है इसलिये चैत्य का अर्थ तीर्थंकरों की प्रतिमा होता है। ऐसा कहनेवालों के वचन व्यर्थ हैं, कारण कि चैत्य शब्द से ज्ञानधारी साधुओं का नाम दर्शाया है अर्थात् चैत्य आत्मज्ञान है। इस विषय में विशेष विवेचन समकित-सार प्रथम भाग में दिया है,तो भी यहां पर यह कहना है कि सिद्धांतानुसार चैत्य अर्थात् ज्ञान की पुष्टि के लिये।'सारस्वत' के सूत्रों से या 'कवि कल्पद्रुम' के धातु पाठ से या 'हेम व्याकरण' के पांचवें अध्याय के प्रथम पदकी रीति से चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान सिद्ध होता है। देखोः—

ज्ञानार्थस्य चैत्यशब्दस्यव्युत्पति र्वेभण्यते
चिती ज्ञाने अयं धातुः कविकल्पद्रुम धातु पाठे
अयं धातुस्तकारान्तश्च कारादिरस्ति तथाहि

चते याचे चिती ज्ञाने चितृङ्क चिती किं

स्मृतौ इत्यादिःईकारानुबंधःक्त्वाक्ययोः ककार इण निषेधार्थः पश्चात् चित् इति स्थिते ततो नाम्युपधातोःकःइति सारस्वतोक्त सूत्रेण कः प्रत्ययः

तथा हेमव्याकरणपंचमाऽध्यायस्य प्रथम पादोक्त नाम्युपांत्यप्राकृगदज्ञःकःअनेनापि सूत्रेण कःप्रत्ययःस्यात् ककारो गुण प्रतिषेधार्थः पश्चात् चेतति जानाति इति चितः ज्ञान वा नित्यर्थःतस्य भाव चैत्यं ज्ञानामित्यर्थःभावतद्वितोक्त यण प्रत्ययः।

यों उनके मान्य हेमाचार्य कृत व्याकरण में शास्त्रोक्त रीति से चैत्य शब्द को ज्ञान कहना चाहिये। ऐसा सिद्ध कर दिखाया है।

मूल सिद्धांतों में तो चैत्य शब्द का ज्ञानधर संजति ऐसा स्पष्ट अर्थ मालूम होता है जिस से ज्ञान सहित साधुओं को वंदनादि करना आदि "जाव पज्जूवासामि" ये निर्वद्य वचन हैं तो भी पाषाण मति-प्रतिमा को चैत्य कहते हैं। यह कितनी मूर्खता है क्योंकि एकेन्द्रिय पाषाण में पहिला मिथ्यात्व गुण स्थान प्रबल होने के कारण ज्ञान प्राप्त होना असंभव है। उस के दो अज्ञान हैं, इस अपेक्षा से उसके सब मूल गुण मिथ्यात्व स्थानक में प्रवर्तते रहते हैं। उक्त एकन्द्रिय पाषाण को चित्रित कर उस का पांच इन्द्रियों के आकार में मनुष्य के रूप जैसा रूप बनाया है और उसका जन्मदाता सिलावट है जिसने अपने बुद्धि चातुर्य से एकेन्द्रिय को पंचेन्द्रिय मनुष्य जैसा स्थूल

बना दिया तो वह सिलावट भी मोटी शक्ति का मालिक होना चाहिये। ऐसी मूर्तियों को बिक्री लेकर मोक्ष गत ज्ञानधारी तीर्थंकरों के नाम से मंडन करते हैं तो वे मूर्तियां ज्ञानी पुरुष नहीं, उनके नाम के आधार रूप शव है कारण ज्ञानी तीर्थंकर साकार अवस्था में चैत्य-ज्ञानी थे। वे अपने आत्मगुण के कारण सिद्ध पद प्राप्त हुवे। पश्चात् उन का शव ज्ञान रहित पड़ा था और ज्ञान रहित का अर्थ अज्ञान सहित होता है, परन्तु अजीव में अज्ञान नहीं है और पाषाण की मूर्तियों में तो अज्ञान है जिससे ज्ञान चैत्य नही कहलाता, अज्ञान चैत्य कहलाता है। कारण कि-जिनमें जैसा मूल गुण हो उन्हें वैसा ही श्रद्धे यह सम्यक्त्वी का लक्षण है। दृष्टांत-जैसे सिलावट एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय के रूप में बनाकर तैयार कर देता है परन्तु उस में पंचेन्द्रिय का गुण नहीं आता, स्थूलता आती है जिस से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता और पहिले मिथ्यात्व गुण स्थान के कारण अज्ञान चैत्य सिद्ध होता है जिससे वीतराग की आज्ञानुसार चलने वाले सम्यक्त्वी पुरुष "गेय" अर्थात् समझ कर 'हेय' त्याग कर 'उपादोद' आदरने योग्य पंच परमेष्ठी चैत्य अर्थात् ज्ञान चैत्य को गुणकारक समझकर निर्वद्य रीति से वंदन पूजन कर महा निर्जरा उपार्जन करते हैं। ऐसा जैन शास्त्रों में कहा है।

ऐसे २ अमूल्य वाक्यों से भरपूर मूल सूत्रों के ऊपर आधार न रखते विरुद्ध रीति से चलने वाले मंद बुद्धि वालों से कहना है कि निर्गुणी गुरु तथा देव का त्याग कर सद् गुणी गुरु और देव तथा धर्म को उपादान ग्रहण कर भव भ्रमण के फेरे से छूट जाने वास्ते सकाम निर्जरा में बल, वीर्य पुरुषार्थ

लगाओ कि जिन से सब सुकृत्यों की अभिलाषा पूर्ण हो।

विशेषार्थ -पन्नवणाजी सूत्र के तेईसवें पद में कहा है कि-तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करने की शक्ति एकेन्द्रिय में नहीं होती कारण कि तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करने के २० स्थानक आर्य मनुष्य गति सिवाय दूसरी गति में नहीं है और प्रतिमा तो आरस पाषाण की एकेन्द्रिय तिर्यंच है तो उस में आठ बोल उपार्जन करने की शक्ति कहां से आ सक्ती है? इस विषय में भगवान् ने फरमाया हैः—

नेरइआउय देवाउय नेरइगइनामे देवगइनाम
वेउव्वियसरीरनाम आहारगसरीरनाम।
नेरइआणुपुव्विनाम देवाणुपुव्विनाम तिथ्थयरनाम एयाणि पयाणि न बंधइ॥

भावार्थः-एकेन्द्रिय जीव नारकी का आयुष्य नहीं बांधते देवता का आयुष्य भी नहीं बांधते और नर्क गति नाम तथा देवगति नाम भी नहीं बांधते हैं। इसी प्रकार वैक्रिय शरीर नाम आहारिक शरीर नाम, नर्क में जाने के लिये नर्क पूर्वी नाम तथा तीर्थंकर नाम कर्म ये भी नहीं बांधते हैं।

इस पाठ में तथा इस की वृत्ति में भी एकेन्द्रिय तिर्यंच में तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करने की नास्ति दिखाई है, पर वे एकेन्द्रिय अपने कर्म की बाहुल्यता को काट कर तीर्थंकर पद उपार्जन करने के शक्तिवान न हुए तो भी तुम उनके कान में गुरु मंत्र पढ़कर तुम्हारी शक्ति से उन में तीर्थंकर गुण प्रकट करना चाहते हो यह कितनी मूर्खता है। फिर किसी दूसरे के कृत्यों से कोई जगत् वंदनीक हो जायं ऐसा कुछ शास्त्र में नहीं है।

चैत्य शब्द देखकर के हे भोले मित्रो! भारी भ्रम में पड़ कर एकेन्द्रिय को तीर्थंकर पद देकर मत बैठो, चैत्य तो ज्ञानाश्रित निर्ग्रंथ के लिये पाठ है देखो-"चेइयट्ठे निज्जरट्ठेवियावच्चं अणिस्सियं दसविहं बहुविहं करेइ"

भावार्थ-चैत्य अर्थात् ज्ञानधर साधु की वियावच्च कुल, गण और संघ को निर्जरा हेतु करने की आज्ञा फरमाई है। कुल अर्थात् एक गुरु के दीक्षित साधु, गण अर्थात् एक मंडल के भिन्न २ गुरु के शिष्य एक सम्प्रदाय में रहकर विचरते हैं और संघ अर्थात् सब साधु जो वीतराग की आज्ञा में चलने वाले समान समाचारी के मालिक हैं, इन सब को चैत्य कहते हैं। राय प्रसेणी सूत्र की वृत्ति करने वालों ने भी चैत्य शब्द का भेद इसीतरह खोला है। "चैत्यं तु प्रशस्तमनो हेतुत्वात्" भावार्थ-ज्यों भगवान् महावीर को देखने से मन प्रशस्त होता है उसी तरह कुल, गण और संघ को देखने से मन प्रशस्त होता है।

प्रश्न व्याकरण की वृत्ति में चैत्य शब्द को प्रतिमा लिखा है, उन वृत्ति करने वालों ने अपनी स्वेच्छा से प्रतिमा ठहराई ऐसा सिद्ध होता है, कारण कि, प्रश्न व्याकरण में तीसरे संवर द्वार के मूल पाठ में कहा है कि निर्जरा का अर्थी कर्म क्षय करने की इच्छा से ज्ञान धारी साधु की दस प्रकार से वियावच्च करे, इस तरह इस स्थान पर चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा नहीं लिया, इस लिये प्रतिमा ठहराने का वृथा श्रम न करते ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप करने वाले चैत्य का आराधन करो, ऐसी ज्ञानियों की शिक्षा है। कारण कि, ज्ञानी साधुओं के सहवास से महा निर्जरा होती है और कर्म क्षय

होते हैं ऐसा भगवतीजी के शतक दूसरे उद्देशे पांचवें में कहा है इस पर विचार करके उपयोग के साथ समझो तो मालूम होगा।

तहारूवेणं भंते ? समणं वा पज्जूवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफल से णं भंत्ते ? सवणे किं फले ? गोयमा ! णाणफले । सेणं भंते ? णाणे किं फले ? गोयमा ? विएणाणफले से णं भंते ? विएणाणे किं फले ? गोयमा ? पच्चक्खाणफले, से णं भंते ? पच्चक्खाणे किं फले ? संजमफले, से णं भंते ? संजमे किं फले ? अ-णएहय फले एवं अएणहाए तव फले तवे वोदाण फले वोदाणे अकिरिया फले से णं भंते ? अकिरिया किं फले ? सिद्धिपज्जवसाण फला पएणत्ता गोयमा ? ।

भावार्थः—यथा रूप हे भगवन् ! श्रमण साधु अर्थात् सम भाववाले ब्रह्मचारी साधु की सेवा भक्ति विनय वियावच करते क्या फल होताहै? हे गौतम!ज्ञान उपदेश सुनना मिलता है और ज्ञान वृद्धि होने से विज्ञान हेय, गेय, उपादेय गुण प्रकट होते हैं। विज्ञान से तप, तप से पूर्वोपार्जित कर्म क्षय होते हैं और कर्म क्षय होने से जीवन मुक्त अकिरिया वाले चौदहवें गुण स्थानपर जीव विराजमान होजाता है और चौदहवें गुण स्थान के प्राप्त होने पर सिद्ध विदेह मुक्त पांच शरीर क्षय होकर अक्षय स्थित पद प्राप्त होजाता है,यों अनेक गुण प्रकटने के कारण रूप चैत्य अर्थात् ज्ञानी, सद्गुणी और संयमी साधु हैं जिनकी सेवा से महा निर्जरा होती है और महा कर्मों का क्षय होना संभव है, इसलिये चैत्य शब्द का

अर्थ ज्ञान सिद्ध होता है, यह उपरोक्त दस फल प्राप्ति की गाथा दया धर्म के उपदेश में कही है और वेषधारी का सहवास त्यागने वास्ते कही है। वही दस गुणवाला पाठ यहां चैत्य अर्थात् ज्ञानधर साधु की उपासना करने वास्ते और पाषाण प्रतिमा के सहवास से दूर रहने वास्ते कहा है। जो तुम चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा करते हो तो प्रतिमाजी कुछ ज्ञान तो नहीं सुना सक्ती फिर ज्ञान गुण प्रकट हुए विना बाकी के गुणों का फल कैसे प्रकट हो सक्ता है? और ऐसा नहीं हो सक्ता तो वे महा निर्जरा की हेतु कैसे समझी जा सक्ती हैं? इसलिये विवेकी मनुष्य होंगे तो इसका विचार कर सारांश समझेंगे। चैत्य ज्ञानी साधुओं के सहवास से सब आरंभ घटने का अनुमान होताहै परंतु चैत्य शब्द को प्रतिमा मानते हो तो तुम्हें उसके सहवास से तो अज्ञान वृद्धि के कारण महा आरंभ महा परिग्रह और दीर्घाश्रवी का फल मिला यही सिद्ध होता है।

उपरोक्त सद्गुणी चैत्य ज्ञानधारी साधु सर्वदा वंदनीय पूजनीय हैं। कारण कि, जिन २ आत्मिक वस्तुओं में जो २ मूल गुण हैं वे सब निर्जरा फल की वृद्धि करने वाले हैं। जैसे तप का गुण निर्जरा है तो जैसे २ तप बढ़ता जायगा वैसे २ निर्जरा विशेष होती जायगी, कारण तप का मूल गुण कर्म जलाना ही है। जैसे भगवतीजी के सोलहवें शतक के चौथे उद्देशे में कहा है कि एक उपवास से दूसरे उपवास में सौगुणी निर्जरा होती है। इसी तरह ३, ४, ५ बढ़ाते २ निर्जरा की भी वृद्धि होती जाती है और आश्रव हिंसा घटती जाती है। इसी न्यायानुसार चैत्य ज्ञान से ज्ञानादि गुण की वृद्धि होती जाती है। परंतु किसी स्थान पर सिद्धान्तों में इसके प्रतिकूल ऐसा नहीं लिखा कि प्रतिमा को वंदना करने से अनन्त भव की फांसी कटती है और महानिर्जरा होती है, तो भी पाषाण

मति प्रतिमा वंदन से निर्जरा कल्पते हैं और इस कल्पना को दृढ करने वास्ते ग्रंथ रचकर महान् लाभ दिखा वज्र जैसे कठोर बन गये हैं एवम् इन के आधारसे तन, मन और धन अर्पण कर व्यर्थ श्रम उठा रहे हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि निरारंभ में मन, वचन और काया के अशुभ जोग को न लगा स्थिरता भाव प्राप्त किया होता तो तुम्हारी इच्छित मनो कामना सफल होने में देर नहीं लगती। परंतु अज्ञानी मूर्ख मनुष्य सिद्धांतों के आधार से विरुद्ध कुतर्कों का आधार लेकर चैत्य चैत्य अर्थात् प्रतिमा के वास्ते जो २ सारंभ से कृत्य करते हैं, वे सब निर्जरा के हेतु हैं ऐसा कहते हैं। उन से पूछना यह है कि, क्या तुम्हें सावद्य क्रिया नहीं लगती? या इस का प्रति फल प्रतिमा भोगेगी? परन्तु सिद्धान्त में तो यों कहा है कि जो करते हैं वे ही भोगते हैं। ऐसा समझ कर सुज्ञ मनुष्यों को चैत्य अर्थात् ज्ञान का आधार लेकर निर्वद्य कामों में उपयोग लगाना चाहिये।

सावद्याचार्यों के रचित ग्रंथों को सिद्धांत की तरह मानकर प्रतिमा पूजन करने के विषय में प्रश्नोत्तर

सावद्याश्रवी कुबोधी ऐसा कहते हैं कि प्राचीन काल के महान् आचार्यों ने कलि काल के स्वभाव के कारण बुद्धि विसर्जन हो जाने के भय से सब शास्त्र कागज या ताड़ पत्र

पर लिखे उस समय प्रतिमा पूजन की विधि के शास्त्र भी वीतराग उपदेशित मूल सूत्रों के अनुसार ही लिखे हैं। उन शास्त्रों के आधार से हम प्रतिमा पूजन विधि करते हैं। ऐसा कहना सरासर मिथ्या है।

इस के उत्तर में कहना है कि जो २ वीतराग भाषित मूल सूत्र हैं उन में तो देवताओं की व्यवहारिक पूजन विधि लिखी है और साधु तथा श्रावकों के वैराग्य दशा से की हुई ज्ञान समकित सहित निरारंभी क्रिया विधि लिखी है पर मनुष्य श्रावकों को प्रतिमा पूजने वास्ते कुछ नहीं लिखा है। परन्तु पंचम काल के सावद्याचार्यों ने अपने पेट के निभाने वास्ते प्रतिमा पूजन की विधि के ग्रंथ रचे हैं उनमें कितना आडम्बर भरा है कि जिस समय तीर्थंकर महाराज निरागी हो समवसरण में विराजते थे उन के समक्ष योग्य रीति से भव जीव विनय मार्ग ग्रहण करते थे। इसी तरह वर्तमान के पाषाण मति प्रतिमा के आगे कल्पित विधि करते हैं यह वृथा है। कारण कि प्रतिमा एकेन्द्रिय में तीर्थंकर के गुण नही है तो भी ये पूजने वाले गुण सहित समझते हैं, तो यह गुण वाली कैसे हो सक्ती है? जो नीर्थंकर के समवसरण में कार्य होते थे उस मुआफिक ये करते हों तो जिन दिनों तीर्थंकर महाराज आप स्वयं विराजते थे इस कारण से तीर्थंकर महारज सब गुणागार होने से भव्य प्राणी भी शुद्ध श्रद्धा रखते और भाव विशुद्ध रख स्तवना करते थे जिससे स्तुति करने वाले और तीर्थंकर के गुण प्रत्यक्ष मिल जाते थे परन्तु वही आधार रख जो मनुष्य प्रतिमा के आगे विधि करना चाहते हैं वे निर्गुणी से सद्गुणी होने की आशा रखते हैं यह सब वृथा है।

अब इस स्थान पर ग्रंथ कर्ता ने प्रतिमा पूजन की विधि

के फल की विवेचना की है। पाठक उसे पढ़कर मूल शास्त्र के साथ मिलान करें तो परस्पर भेद मालूम हो जायगा।

प्रवचन सारोधार आदि ग्रन्थों में सावद्याचार्य कह गये हैं कि जो मनुष्य प्रथम मंदिर जाने की इच्छा करता है तो एक उपवास का फल प्राप्त होता है। दर्शन करने जाने की इच्छा से उठता है तो बेले का फल, चलने के लिये पांव उठावे तो तेले का फल, और पांव बढ़ाये कि चार उपवास का फल मिलता है और राह पर चलने लगे कि पांच उपवास का, आधे रास्ते पहुंचने पर पंद्रह उपवास का और मंदिर के दर्शन होते ही मासखमण का फल तथा मंदिर के समीप पहुंचते ही छः मास के उपवास का फल, मंदिर के पहिले द्वार में घुसने से वर्षी तपका फल और प्रदाक्षिणा देने से सौ वर्ष के उपवास का फल, प्रतिमा देखने से हजार वर्ष के उपवास का फल और प्रतिमा पर भाव रख कर वंदना करने से अपार फल प्राप्त होता है और प्रतिमा की पूजा करते २ तो चौगुना फल मिल जाता है। इससे भी विशेष फल प्रतिमा को फूल की माला पहिनाने से होता है। अंत में बाजे, वाद्य यंत्र, नाटक, गीत, गायन और दीपावली आदि करने से तो अनंत फल प्राप्त होता है। एक यसोविजय नामक कुकवि कहता है कि मैं मेरी एक जिह्वा से तो फल के लाभ का वर्णन नहीं कर सक्ता। यों प्रतिमा के आरण कारण में अनंत तप के लाभ का फल बताया है। अब ऐसी श्रद्धा वाले मूर्ख मित्रों से पूछना है कि अरे कल्पित ग्रंथ के फल लेने वालो ! तुम्हारी कपोल कल्पित कल्पना के विचारानुसार ऐसा मालूम होता है कि पीले वस्त्र वाले वेषधारी को तो एक उपवास से लगा-

कर पाषाण को दंडवत् करे उतना ही फल मिलता है पर पीले तिलक वाले गृहस्थों को तो अनंत लाभ मिलता है। कारण वे सेवक पूजा करने पश्चात् वेश्या की तरह नाच आदि कर सब आश्रव कमाते हैं। इसलिये वे पीले वस्त्र वाले वेष-धारी से भी अधिक भोगी हैं और संवेगी पूजा नहीं करते तो उन्हें थोड़ा ही लाभ मिलताहै, तो वे वेषधारी से भी अधिक बढ़ गये ? इस स्थान पर इतना ही कहना है कि पीले वस्त्र वाले उन मूर्ख सेवकों को आरम्भ का अनंत लाभ न दिखावें तो अपनी आजीविका मे हर एक समय त्रुटि हो, इसलिये सेवकों के मन प्रसन्न रखने के हेतु उन्हें महाआरंभ का फल इस तरह दिखाया है परंतु जन्म अंधों की आंखें कैसे खुल सक्ती हैं?

मंदिर मे घुसते ही तीन वार निस्सही कहते हैं जिस मे पहिली निस्सही तो मंदिर के प्रथम द्वार पर गृह सम्बन्धी कुल कार्य त्याग निमित्त कहते हैं।

दूसरी निस्सही मंदिर के मध्य द्वार पर रंग मंडप में प्रवेश करते प्रतिमा के दर्शन हेतु कहते हैं।

तीसरी निस्सही प्रतिमा पूजन के लिये सब अन्य कार्य त्याग करने निमित्त कहते हैं।

इन में पहिली निस्सही कह कर मंदिर में घुस मूल प्रतिमा के दर्शनार्थ जाने की विधि में तीन प्रदक्षिणा दे जीव रक्षा के लिये नीची दृष्टि रख प्रणाम करते हैं। उन प्रणामों के भी भेद हैं। दो हाथ मिला कर नमस्कार करना उसे-अंजुली बद्ध प्रणाम, अर्द्ध शरीर झुका कर नमन करना उसे अर्धावृतन प्रणाम, दो हाथ दो घुटने और मस्तक ये पंचांग भूमि से लगाकर वंदना करना पंचांग प्रणाम कहलाता है। ये तीनों

प्रदक्षिणा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सूचना करने वाली हैं और प्रतिमा की प्रदक्षिणा करने से रत्न त्रय का लाभ बढ़ता है और प्रदक्षिणा रुप भ्रमण करने से संसार के भ्रमण का नाश होता है तथा इसके अनुसार प्रदक्षिणा देने से चारों ओर की स्थापित्त प्रतिमाओं के दर्शन का लाभ मिलता है।

मूल प्रतिमा के सन्मुख द्वार से निस्सही कह कर प्रतिमा के सन्मुख दृष्टि रख एक कपड़े का उत्तरासन कर दोनों हाथ सिर के लगा अंजुली बध प्रणाम कर हृदय मे प्रतिमा के गुणों का स्मरण करते हुए, रंग मण्डप में प्रवेश करे और पुरुष प्रतिमा के दाहिनी ओर और स्त्री प्रतिमा के बांई ओर खड़ी हो दर्शन करे। यह विधि प्रवचन सारोधार तथा श्राद्ध विधि आदि ग्रंथों में सावद्याचार्य कथन कर गये हैं।

वहां दर्शन करने की क्षेत्र मर्यादा बांधी है, जिस में जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन अवग्रह ठहराये हैं। जघन्य अवग्रह नौ हाथ, उत्कृष्ट साठ हाथ और दस से उनसठ (५६) हाथ तक मध्यम अवग्रह ठहराया है। इस तीन अवग्रहों के ठहराने का मतलब यह है कि प्रतिमा वंदन करने को आने वाले स्त्री-पुरुष प्रतिमा से कम से कम नौ हाथ दूर से और अधिक साठ हाथ दूर से वंदना करें।

मंदिर के आद्य द्वार में प्रवेश करते ही पांच अभिगमन करने वास्ते कहते हैं जिस में पहिले और दूसरेमें सचित द्रव्य बाहर रखना जिसमें अपने काम में आनेवाले पान, फल, फूल और असनादिक चार आहार अंदर नहीं लेजाना परंतु प्रतिमा पूजन के निमित्त पान, फल फूल तथा नैवद्यादि सब सचित द्रव्य लेजाने में कुछ भी हरकत नहीं और अचित द्रव्य बाहर रखने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

सचित अचित इन दो अभिगमनों के सिवाय तीन अभिगमनों में एक दुपट्टे का उत्तरासन, दूसरा एकाग्र चित्त, तीसरा अंजूली वध प्रणाम ये तीनों रंग मण्डप में प्रवेश करने पश्चात् करने होते हैं, ये पांचों अभिगमन सामान्य गृहस्थ पुरुषों के करने के लिये ठहराये हैं, कभी कोई राजा प्रतिमा के दर्शनार्थं आवे तो वह अपने खड्ग, छत्र, मुकुट, चंवर ये राजचिन्ह बाहर रख मंदिर में दर्शनार्थ प्रवेश करे। मुख्य दर्शन करते समय प्रतिमा के सामने दृष्टि रख एकाग्र चित्त से दर्शन करे। फिर तनिक पीछे हट कर चैत्य वंदन करने के स्थान पर बैठ अक्षत का स्वस्तिक नंदावृत करके ऊपर फल या नैवेद्य रख अग्र पूजा करे। फिर अपने पांव रखने की धरती को तीन वार पूजकर तीन खमासना दे तीन बार निस्सही कहकर आलंवन त्रिक आराधते चैत्य वंदन करे।

तीन आलंबन आराधने की विधि.

वर्ण का आलंबन, अर्थ का आलंबन, प्रतिमा का आलंबन ये तीन आलंबन कहे हैं। वर्ण आलंबन में नमोत्थुणं आदि शुद्ध वोले, अर्थालंवन में कथित सूत्रों के अर्थ को हृदय में वार २ चितारे, प्रतिमा आलंबन में प्रतिमा के सामने देखकर स्तुति करे, इस प्रकार प्रतिमा पूजन विधि से करते मोक्ष का लाभ प्राप्त होता है, ऐसा उन ग्रंथो में प्रतिमा की सेवा भक्ति

वास्ते गलंदर चलाये हैं। इस भक्ति में स्नान, मंजन, पान, फल, फूल, धूप, द्वीप, नैवेद्य आदि करने में तथा सवा लखी, नव लखी पुष्पों की विधि सहित आंगी रचाने में सचितादि का आरंभ होता है उसे प्रतिमा की पूजा में महा निर्जरा हेतु गिना है, ये उपरोक्त सब क्रिया विधि प्रवचन सारोधार ग्रंथ में लिखी हैं। उन ग्रंथो में प्रतिमा पूजन आदि आरंभ करने की कितनी ही कुयुक्तियां लिखी हैं। उन सब को यहां न लिखते केवल सूचना मात्र लिखते है। उन पाषाणोपासक पीले वस्त्र वाले वेषधारियों ने संसार में अधिक भ्रमण करने वास्ते मंदिर में बिराजमान एकेन्द्रिय चार प्राण रखने वाले को अधिक मान व विधिसे नमस्कार करने, वंदना करने और पूजा करने वास्ते बड़े २ ग्रंथ रचे हैं। और उस कार्य में होने वाले आरंभ के अधिकारी आप स्वत· न होते बड़े लाभ की भ्रमना में भमाकर हमारे पुराने अज्ञान मित्रों को फंसा लिया है, और कहते हैं कि देखने में इस कार्य में हिंसा दृष्टिगत होती है पर भावों में दया ही है। यों उलटे चक्र में चढ़ाते हैं परंतु उन अविवेकियों को प्राणघात के फल तो बिल्कुल बताते ही नही। अफ़सोस! अफ़सोस!! उन बिचारे मूर्खों की क्या गति होगी।

अब उपरोक्त ग्रंथ कर्त्ताओं के प्रतिमा पूजन की विधि को मूल शास्त्र के साथ मिलान करके दिखाते हैं।

सत्य विनय का खुलासा

कोई भी गृहस्थ वर्त्तमान तीर्थंकर महाराज के समवसरण में वंदना करने के लिये गया तो कभी किसी ने उस समय एक उपवास से लगाकर हजार उपवास तक की तपस्या का फल नहीं दिखाया इसलिये यह समझ में आता है कि ग्रंथ कर्त्ता भोले प्राणियों को प्रतिमा नमस्कार करने के लाभ दिखाकर उसमें प्रेरित करते हैं।

तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और गुरुके चरणमें विनीत शिष्य किसी कार्य के वश बाहर जाते हैं तब कहते हैं—हे गुरु! 'आवसही' अर्थात् आवश्यक कार्य के लिये जाता हूं। जब कार्य से लौट कर वापिस आते हैं तब गुरु को सुचाने वास्ते "निस्सही" अर्थात् अपना कार्य कर आप के चरणारविंद में हाजिर हूं। ऐसा शास्त्रों में लिखा है, परंतु पाषाण प्रतिमा के आगे निस्सही कहते हैं जिस से ऐसा मालूम होता है कि गृह सम्बन्धी कार्य त्यागकर आया हूं इसकी सूचना भगवान् को देते हैं। तब हम पूछते हैं कि जब मंदिर से घर को जाते हो तब भी प्रतिमा की आज्ञा ले संसार व्यवहार करते हो? क्या इस जगह भी निस्सही कह कर प्रतिमा को सुचाते हो?

फिर दूसरी निस्सही प्रतिमा दर्शन के लिये कहते हैं जिस से ऐसा बोध होता है कि हे देव! तुम्हारे लिये सब दूसरे व्यापार त्यागता हूं। तो हम पूछते हैं कि दूसरी निस्सही कौन सीकारता है! तीसरी निस्सही मे पूजा निमित्त घर के सब कार्य त्यागता हूं ऐसा कहते हैं तो क्या प्रतिमा यह समझती

है कि यह बेचारा सेवक मुझ एकेन्द्रिय पाषाण के लिये सब घर त्याग बैठा है ? परंतु वह तो असंज्ञी है वह स्वीकार नहीं कर सक्ती। जब तीनों निस्सही कहकर तुम स्वतः ही स्वीकार कर लेते हो तो हम कहते हैं कि स्वतः एकांत स्थान में बैठ कर अपने लिये ही निस्सही क्यों नहीं देते हो ? और स्वतः बोलने वाले होकर बिना आज्ञा मांगते हो तो यह कल्पना कितनी अघटित है !

तीर्थंकर महाराज के समवसरण में भव्य जीव तीर्थंकर के सन्मुख विनय पूर्वक प्रदक्षिणा दे वंदन करते समय जीव रक्षा के वास्ते नीचे जमीन पर दृष्टि रखते और उस समवसरण में दया धर्म का ही उपदेश होता था ऐसा मूल सूत्रों में है और वह सत्य है। परंतु प्रतिमा वंदन के वास्ते पहली निस्सही कहकर तीन प्रदक्षिणा दे जीव रक्षा निमित्त नीचे जमीन पर दृष्टि रखना स्वीकार करते हैं यदि कोई पूछता है तो कहते हैं-"पूजा तथा दर्शन वास्ते प्राणी मरते हैं तो वे हिंसा में नहीं गिने जाते हैं"। दया के वास्ते नीची दृष्टि रखना और वह भी मंदिर के अंदर ही तो यह तुम्हारे मान्य निराश्रव में आश्रव कैसे हो गया ? इस लिये मालूम होता है कि यह कल्पना भी असत्य है।

फिर तीन प्रकार के प्रणाम कहे हैं उन की विधि तो तीर्थंकरादि सब संयतियों के लिये हैं कारण कि उन में वैसे ही गुण हैं और वे वंदना करने के लिये आने वाले भव्य जीव नम्रता पूर्वक उन के सम्मुख ऐसी ही विधि कर दिखाते हैं। उस समय ज्ञानी पुरुष समभाव रखते हैं और विनय करने वाले को भव्यात्मा, विनीत और श्रद्धावान् समझते हैं परंतु हे मूर्ख मनुष्यों ! प्रतिमा में उतने गुण न होने पर भी तुम

तीर्थंकरादि ज्यों तीन बार वंदना करना चाहते हो और स्वीकार कर्ता भी तुम्हीं हो तथा वह प्रतिमा तुम्हें भव्यात्मा, विनीत और श्रद्धावन् भी नहीं समझती इस लिये तुम्हारी उपरोक्त कल्पना भी वृथा है।

तीर्थंकरों के समवसरण में भव्य जीव तीर्थंकरादि सर्व संयतियों को तीन वार प्रदक्षिणा दे वंदना करते हैं तो उन्हें रत्न त्रय की प्राप्ति होती है ऐसा भगवती जी में कहा है कारण कि उन के सहवास से ज्ञानादि दस बोल की सिद्धि होती है परंतु प्रतिमा की प्रदक्षिणा करते समय रत्न त्रय कैसे प्रकट होते हैं? फिर रंग मंडप में पुरुष प्रतिमा के दाहिनी ओर, और स्त्रियां प्रतिमा के बायीं ओर खड़ी हो दर्शन करें तथा नौं हाथ से साठ हाथ तक दूर खड़ी रहें ऐसा कहते हो तो हम कहते हैं कि भगवान् ने समवसरण में वंदना करने जानेवाले " अदुर सामंते " न तो अति समीप न अति दूर खड़े रह कर वंदना करने के लिये कहा हैं। इस लिये तुम्हारी नौ हाथ से साठ हाथ तक की गिनती कल्पित है क्योंकि साक्षात् तीर्थंकरादि श्रमणों को तो वंदना नमस्कार करने की विधि उपरोक्त रीति की है। तथा साध्वी से साड़े तीन हाथ दूर रह कर पुरुष वंदना करें और स्त्रियां साध्वी से स्पर्श रहित योग्य स्थान पर खड़ी हो दर्शन करें, ऐसा भी लिखा है। सारांश यह कि तीर्थंकरादि साधु, साध्वियों से ग्रहस्थ संघट्टा न करें ऐसा मूल सूत्रों में पाठ है। परंतु तुम प्रतिमा से नौ तथा साठ हाथ दूर खड़े रहकर स्त्री पुरुषों से वंदना कराते हो तो इस का मतलब यही होगा कि प्रतिमा से स्पर्श न हो। हम पूछते हैं कि प्रतिमा को स्नान कराते समय, पूजा विधि करते समय, उंगली से सिर में तिलक करते समय तुम्हारे कहे

अनुसार तो बहुत लाभ मिलता है और बहुत बड़ी अशातना भी होती है। इसी तरह स्त्रियां वर्तमान तीर्थंकरों से स्पर्श भी न करती थी, इसी लिये तुमने नौ हाथ की कल्पना पकड़ ली है पर हम पूछते हैं कि द्रौपदी की पूजा में सर्वांग का स्पर्श कराकर पूजा करना सिद्ध करते हो तो तुम्हारी क्षेत्र कल्पना के अनुसार ऐसा न होना चाहिये। फिर तुम प्रतिमा को तीर्थंकर की तरह समझते हो तो उस प्रतिमा से स्त्री और पुरुष दोनों को दूर रहकर वंदना करना चाहिये पर पूजादि नहीं करना चाहिये। अगर तुम संघट्टा करना चाहते हो तो निश्चय पूर्वक शास्त्रानुसार ऐसा समझा जाता है कि वे प्रतिमाएं किन्ही व्यवहारी देव की हैं इसलिये तुम्हें स्पर्श करने की मनाई नहीं है।

मंदिर में प्रतिमा के सम्मुख जाते समय पांच अभिगमन करते हो वे सब व्यर्थ हैं कारण कि वर्तमान के तीर्थंकरादि सब संयती सचित द्रव्य के त्यागी थे। इससे गृहस्थ वंदना करने जाते तो कोई भी सचित द्रव्य समवसरण में नही ले जाते थे और समवसरण में त्यागी पुरुष गृहस्थों से अचित द्रव्य की याचना भी नहीं करते थे और देनेपर लेते भी न थे।

तीर्थंकरादि सब संयतियों के भोगोपभोग के पदार्थ कोई भी गृहस्थ उनके मुकाम पर नही ले जाते थे। समवसरणादि में जो गृहस्थ वंदना करने जाते वे सचितादि भोगोपभोग के पदार्थ साथ में ले जाते तो समवसरण के बाहर यथा योग्य रीति से रखकर फिर समवसरण में जाते थे। पर तीर्थंकरादि की भक्ति के लिये कोई पुजापा नैवेद्य नहीं ले जाते कारण कि वे महान् पुरुष गृहस्थों की लाई हुई वस्तु के त्यागी थे। अचित वस्तु भी सम्मुख लाई हुई नही कल्पती है तो फिर सचित वस्तु कैसे कल्प सकती है? इसलिये वहां पांच अभि

गमन योग्य रीति से करके गृहस्थ चंदना करते और उपदेश लेते थे। इतना प्रत्यक्ष होते हुए भी पाषाण मति मंदिर मे जानेके पहिले अपने उपभोग के सचित पदार्थ पान, फल, आदि सब मंदिर के बाहर रखते हैं तो उन्हें सचित समझकर रखते हैं ? या क्या ? इसी तरह प्रतिमा के आदर वास्ते अनेक जाति के पान, फल नैवेद्य आदि सचित और अचित पदार्थ प्रतिमा पर चढ़ाने के लिये था मुंह के सम्मुख रखने के वास्ते ले जाते हैं तो उन्हें अचित समझकर ले जाते हैं क्या ? कहने का तात्पर्य्य यह है कि सचित पदार्थ का कारण दृष्टिगत नहीं होता पर मंदिर में बैठी हुई भोगी देव की प्रतिमा को किसी प्रकार के त्याग नही रहते, यह तो वही मिसाल हुई कि—" बाबो बैठो जपे और जो आवे सो खपे " कारण कि उपरोक्त कथन पर से तीर्थंकरों के समवसरण में किये हुए कृत्यों और मंदिर में किये हुए कृत्यों का मिलान करने से त्यागी भोगी का भेद शीघ्रही मालूम हो जाता है।

मंदिर पंथी प्रथम दर्शन करते हुए प्रतिमा के सामने खड़े हो एकाग्र भाव से दर्शन करते हैं और फिर चैत्य वंदन के स्थान पर जा स्वस्तिक कर उसपर फल या नैवेद्य चढ़ाते हैं यह सब कल्पना कपोल कल्पित है। समवसरण में तीर्थंकरादि श्रमणों को वंदना करते हुए सबने एकाग्र भाव तो अवश्य रक्खे पर स्वस्तिक था फल नैवेद्य किसी ने कुछ नहीं रक्खा कारण वे भगवान् नैवेद्यादि के भोगी न थे, पर तुम्हारे कल्पित देवों के सम्मुख तुम नैवेद्य रखते तो वे भोग के अर्थी तो अन्य धर्मी कुल देव हैं जिन के विषय में शास्त्रों में स्पष्ट है। इन भोगी देवों के भोगोपभोग लगाना आरंभ समारंभ करना सांसारी व्यवहार था। पर तुम प्रतिमा को वीत रागी ठहरा कर वीतराग की तरह भक्ति न करते उलट भोग

लगाते हो यह तुम्हारे भोगी देवों को और भक्तों को ही शोभता है और इसीलिए तुम सब पीले वस्त्र धारी वैरागियों ने मिलकर यह व्यवहार चलाया है पर वीतराग के नाम से प्रतिमा बनाकर भोगोपभोग लगाना सर्वथा विरुद्ध है। फिर तुम प्रतिमा के आगे नैवेद्य रखकर आरंभ कर पूजन करते हो यह भी विरुद्ध है। फिर तुम जीव बचाने वास्ते पांव रखने की भूमि तीन बार पूंजते हो यह तो बहुत ही अच्छा करते हो कारण कि इस प्रकार दया रखोगे तो कभी सम्यक्त्व का भी लाभ मिल जायगा, पर तुम प्रतिमा के लिये किसी प्राणी की हत्या करने में निर्जरा बताते हो और यहां पूंजने तैयार होते हो तो इस से मालूम होता है कि तुम्हारे पेट में तो दया ही भरी है पर मुंह से कुछ अंट संट बक देते हो यह आश्चर्य्य है। अब तुम तीन खमासमण देकर तीसरी निस्सही कहते हो यह भी नहीं मिलता कारण कि मूर्ति में वे गुण नहीं होते और खमासमणा का अर्थ यह होता है कि हे क्षमावंत! श्रमण अर्थात् समभाव वाले, सुंदर मन वाले मुनि! मैं तुम्हें वंदना करता हूं। साधु का पाठ कह कर अपराध की क्षमा (माफी) चाहते हो यह कितनी भूल है? हां, साधु से क्षमा मांगना तो पाप निवारण करने का एक मार्ग है और विनय मार्ग की शिक्षा देता है पर प्रतिमा से क्षमा (माफी) चाहते हो तो क्या वह माफ शब्द बोल सक्ती है?

फिर खमासमणा के अंत में तीन आलंबन करने के लिये चैत्य वंदन करते हो यह भी व्यर्थ है। कारण कि प्रतिमा को चैत्य ठहराकर अछुते गुण समझ नमुथ्थुणं कहते हो और निर्वद्य करणीवाले को याद करते हो; पर आदर करते हो एकेन्द्रिय का यह क्या न्याय है? उस प्रतिमा में तो कोई भी नमोथ्थुणं की स्तुति में का गुण नहीं है। इसलिये यहां

अवश्य द्रौपदी, सुरियाभ, गौशालामति, जमालिमति अथवा और द्रव्य वेषधारी पाषाण मतियों का सब लौकिक नमोत्थुणं कहने वालों का बराबर मत मिलगया। अगर तुम कहो कि प्रतिमा में तो वे गुण नहीं है पर हमारे भाव से हम सद्गुणियों ही के गुण की स्तुति करते है तो हे अविवेकियों! इन निर्गुण के सामने व्यर्थ नमोत्थुणं आदि द्रव्य कल्पना करते हो और फिर तुम तीसरा प्रतिमा का आलंबन लेना कहते हो यह भी व्यर्थ ह। कारण इसके आलंबन से आत्म की सिद्धी नहीं हो सक्ती, पर आत्मा के आलंबन से सिद्ध स्वरूप प्रकट हो सकता है। यह प्रतिमा तिराने वाली और तैरने वाली नहीं है। फिर तुम पाषाण मति कहते हो कि प्रतिमा को सविधि से पूजन करने से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है यह भी कहना व्यर्थ है। कारण वीतराग साक्षात् को तो पान, फल, फूल, और नैवेद्य आदि पूजापा नहीं चाहिये, वे तो ऐसे कृत्य करनेवालों को मंद बुद्धिवाले ठहरा गये हैं, इसलिये ऐसी पूजा से तो उन्होंने मोक्ष फल का प्राप्त होना निषेध बतलाया है और तुम विचारे जुल्मियों ने कलिकाल में उत्पन्न हो सावद्याचार्यों के उदर पूर्णाके लिये अविवेकियों को बंधन में फंसाने के निमित्त विवेक विलास, योग शास्त्र, प्रवचन सारोधार, जीतकल्प, महाकल्प वास्तुक शास्त्र और शत्रुंजय कल्प इत्यादि अनेक ग्रंथ रच उनमें गुरु-भक्ति और देव भक्ति के अनंत लाभ दिखा छः काय के प्राण का नाश कराया है। इसलिये तुम्हें दक्षिण दिशाके पाताल सिवाय अन्य दूसरा स्थान मिलना कठिन है। जो तुम प्रतिमा मंडन के लिये मूल शास्त्रों से विरुद्ध अनेक नवीन ग्रंथ के निबंध रचकर सावद्य धर्म चलाते हो और उन ग्रंथों को सूत्र मानते हो, सावद्याचार्यों को गणधर तुल्य समझते हो। यह मिथ्यात्व रूढ़ि सम्यक्त्वी जीवों

के लिये हेय है और वीतराग के निर्वद्य वचनानुसार गणधर महाराज के रचे मूल सूत्र आदरणीय है कारण, उन मूल सूत्रों में भगवंत ने छः काय की रक्षा के निमित्त सुबोध धर्म, निर्वद्य पूजन, निर्वद्य यज्ञ, निर्वद्य यात्रा, निर्वद्य तीर्थ तथा निर्वद्य चैत्य इसी तरह निर्वद्य और सद्गुणी सर्वज्ञ तीर्थंकरादि श्रमण अर्थात् समभाव वाले वीतराग की आज्ञा से दया धर्म की उन्नति करने वाले साधु, उनकी क्रिया तथा उनके उत्कृष्ट व्रत का अधिकार निराश्रव तथा आश्रव रहित फरमाया है। इसी से भव्य जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र धर्म की आराधन कर सिद्ध पद पाये और वर्तमान में महा विदेह में पा रहे हैं और भविष्य में पायेंगे। ऐसा शास्त्रों पर से स्पष्ट मालूम होता है। इसके सिवाय पूर्वाचार्यों के रचित ग्रंथो में जितने निर्वद्य वाक्य हैं उन का ग्रहण कर सावद्य वाक्यों का त्याग करना ही सम्यक्त्वी जीवों के विवेक का लक्षण है। दृष्टान्त-ज्यों साल कूटकर चॉवल निकाल लेते और फोतरे त्याग देते है इसी तरह सद्गुण ग्रहण कर दुर्गुणी कृत्यों का त्याग कर देना चाहिये। कारण कि,चाँवल के खाने वाले मनुष्य हैं और फोतरे खाने वाले प्राणी मनुष्य की उच्च कोटि से भिन्न तिर्यंच हैं। इसी तरह चांवल रूप निर्वद्य सिद्धांत तथा प्रत्येक ग्रंथ के निर्वद्य वाक्य सब उत्तम भवजीवों के आदरणीय हैं और सावद्य वाक्य से भरपूर प्रकरण ग्रंथ फोतरे रूप हैं उन्हें मान्य करने वाले अविवेकी तिर्यंच गति के प्राणियों के सहधर्मी गिने जाते हैं। कितने ही सावद्याचार्य भोले मृग स्वभावी सेवकों को भ्रम में फंसाकर ऐसा उपदेश देते हैं कि अरे श्रोताजनो ! संवेगी साधुओं ने तो वैराग्य दशा से संयम ले तीन करण तीन जोग से छःकाय के आरम्भ

का त्याग किया है, इस कारण छः काय के आरंभ सहित पूजन करने से संयम मार्ग का लोप होता है इसलिये हम संवेगी नाम धराकर आरंभ से पूजा नहीं करते कारण कि सिद्धांतों में मना है; पर आत्म हित वास्ते साधुओं के लिये भाव पूजा का वर्णन है और वह हम करते हैं।

श्रावकों को द्रव्य पूजा करना चाहिये और द्रव्य पूजा करने में अनेक रीति से छः काय का आरंभ होता है वह दिखने में हिंसा दिखती है पर बंध महादया का होताहै, इस में तनिक भी संशय नहीं है। इस सारंभी पूजा से तुम गृहस्थों को महा निर्जरा और महा लाभ मिलेगा और उत्कृष्ट भाव आये तो तीर्थंकर गोत्र बंधेगा ऐसा शास्त्रोक्त कथन है, यों छः काय के आरंभ करने में गृहस्थों को उत्साहित किया है। ऐसे सावद्य वाक्यों से कुयुक्ति लड़ा सिद्धांतों को कलंकित किया है। यह बड़े विचार की बात है। पर हम ऐसे असत्य वादियों से पूछते हैं कि सावद्य पूजा करते संवेगी तो संसार में डूब जाते हैं और वही हिंसा रूप पूजा से उन के सेवक संसार से तिर जाते हैं ये वाक्य कितने हास्यास्पद हैं उनपर विचार करते फौरन मालूम हो जाता है।

फिर पीले वस्त्रधारियों ने तीन करण तीन योग से पांच आश्रव सेवने के प्रत्याख्यान लिये हों तो उनको उनके भक्तों को हिंसा पूजन का उपदेश देना भी नहीं कल्पता। कारण,नव भांगे में तो यह भी नियम है कि पांच आश्रव सेवे नहीं, दूसरों से सेवावे नही, यदि कोई अनजान से सेवता हो तो उसे भला न समझे। ऐसे नव भांगे से त्याग लेकर ये पांच आश्रव सेवते, दूसरों से सेवाते हैं और सेवने वालों

को अच्छा समझते हैं यह प्रत्यक्ष मालूम होता है। इसलिये उन पाषाण पंथी, ग्रंथ धारी, अर्थ लोभी के बोध को त्याग वीतराग के निर्वद्य बोध से आत्म कल्याण करना विवेकियों का कर्त्तव्य है।

कवित्त

नीति को पढ़के अनीति का उपदेश करे,
नीति छांड़ अनीति गही है।
अति अक्कल आपकी ठानत,
अक्कल छांड बे अक्कल बहुत लही है।
सत संगती छांड कुसंगति ठानत,
संगत सांच की बात नहीं है।
कविचंद् कहे उनको मुख देखत,
दोष लगे तजिए जु अही है॥
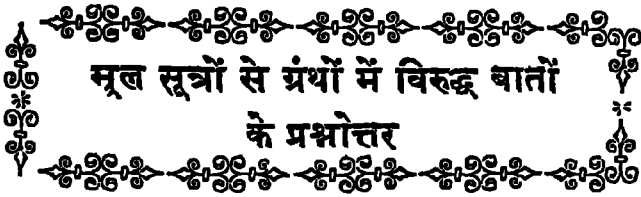
कितने ही भ्रमित मित्र ऐसा कहते हैं कि तुमने थोड़े ही सूत्र माने हैं तो उनकी टीका, चूर्णी, भाष्य, निर्युक्ति और वृत्ति के भेद के विना मोक्ष मार्ग की समझ और सत्याचार की खबर कैसे मालूम हो सक्ती है। विना पंचांगी जाने वीतराग के वचनों की शैली तुम नहीं जान सक्ते और हम तो पंचांगी आदि सर्व ग्रंथ मानते हैं, इसलिये हम दया-धर्म का सच्चा स्वरूप समझते हैं। इसी लिये हमारी संसार में प्रसिद्धि है।

ऐसे मिथ्याभिमानी मनुष्यों से हम इतना ही कहते हैं कि मूल सूत्र और पंचांगी तथा ग्रंथ कोष आदि सब मान्य करने का स्पष्ट (खुलासा) हम प्रथम दयाधर्म के विवेचन में ही कर आये हैं जिस से यहां लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं है, पर हमें वे सब ग्रंथ मान्य हैं जिनमें न्याय रीतिसे शास्त्र सम्मत निबंध है और जिन से मूल सूत्रों को बाधा नहीं पहुंचती है और जो आत्म कल्याण के मार्ग में रुकावट नहीं डालते हैं। परंतु पंचम काल के आचार्यों ने अपने मत की पुष्टि वास्ते मूल सूत्रों से विरुद्ध टीका, चूर्णी, भाष्य, निर्युक्ति आदि की सावद्य वाक्यों से रचना की है, हिंसा स्थापित की है। उन मिश्र ग्रंथों को हम सावद्य करनी रूप समझते हैं और उन ग्रंथों की कई जानने योग्य बातों को हम जान लेते हैं, आदरने योग्य निर्वद्य वचनों को आदरते हैं। सारांश यह कि

उन ग्रंथों की सत्य बातों का हम अपमान नहीं करते; परंतु असत्य का अपमान करते हैं यह निश्चय समझना चाहिये ।

फिर हमने बत्तीस सूत्रों पर दृढ आधार रख आज्ञानुसार दयाधर्म धारा है कारण कि उन में अन्य आचार्यों का मत भेद नहीं है, वे सत्य, निरापक्षी और निर्मल हैं। परंतु उन मूल सूत्रों के पाठ में कहीं २ पर मतपाक्षियों ने अपने मतकी पुष्टि वास्ते साश्वती प्रतिमा या यक्षों की प्रतिमा के अधिकार में सावद्य लेख लिखकर पाठ बढाये हैं या अर्थ में लिख गये हैं उन का निश्चय करने वास्ते हम जब मूल सूत्रों की पुरातन प्रतियों के पाठ से ये पाठ मिलाते हैं तो उस समय लिखने वाले की कुयुक्ति स्पष्ट (साफ) मालूम हो जाती है और उसका योग्य रीति से निराकरण होना ही चाहिये । कारण कि वीत-राग भाषित मूल सूत्रों में जो २ निर्वद्य वाक्य हैं वे बनाये हुए ग्रंथों में भी उसी रूपमें हों तो वे भी सत्य शास्त्र की तरह मान्य हैं ।

फिर मत भेद से सावद्य कल्पित वचन जहां २ बढ़ाये हैं उनके आद्य मध्य और अंत के भिन्न २ अर्थ दृष्टिगत होते हैं उन का बत्तीस सूत्र के साथ मिलान करने से कितने ही ग्रंथों में भैंसा रोल सी मालूम होती है । उस का दृष्टान्त नीचे दिया जाता है ।

किसी तालाब में जल थोड़ा और कीचड़ विशेष था उस समय एक बड़े जंगल से बकरों का एक समूह ग्रीष्म की ताप से व्यथित जल-प्यास की विडम्बना सहता उस अल्प जल वाले सरोवर के समीप जा पहुंचा और उस सरोवर के किनारे घूटने टेक बड़ी चतुराई से जल पीने लगा । उसी समय

एक तृष्णा पराभव से विडम्बना पाया हुआ एक भैंसा उस सरोवर के किनारे आकर जल पीने वाले बकरों के मध्य में जा लघुशंका करता २ सरोवर के थोड़े पानीमें घुसगया और कीचड़ के सहारे स्थित पानी को गंदा करदिया, आपने भी न पिया और बकरों के समुदाय को भी उस जल पान से निराश करदिया और आप स्वयं उस कीचड़ में लौटने लगा। इसी दृष्टांत की तरह इस जुल्मी कलिकाल में शुद्ध जैन धर्म रूप सरोवर में मूल सूत्र रूप अल्प जल भरा है उस का अनुभव लेने वाले भवि जन सदा उत्साह के साथ जल का पान करते थे, उस समय भस्म ग्रह रूप जंगल में बारह और सात वर्षीय दुकाल रूप तापसे विडम्बना पाने वाले सावद्याचार्य रूप भैंसे पटेल जैन दया धर्म रूप सरोवर के किनारे आ पहुंचे उस समय शुद्ध आहार पानी का योग न मिलने से परिग्रह के भय से मूल सूत्र रूप जल को गुप्त रख कादव रूप ग्रंथ रचते २ उनमें मूल सूत्र रूप वाक्यों के साथ २ सावद्य वाक्य रखकर ग्रंथों के प्रबंध बांधने लगे। फिर पेट निर्वाह के लिये प्रतिमा स्थापित की और हिंसा मृषा रूप कादवमें लौटने लगे। अपना जैन धर्मी नाम रख कर विचारे भोले भाले प्राणियों के मंडल के सरदार बन अर्हंपद में सदा मग्न होगये। अब बाल बुद्धिमान् मनुष्यों से हमें इतना ही कहना है कि ऐसे वेषधारियों ने भैंसा रौल मचाकर सावद्य वाक्य रख अनेक ग्रंथ रचे हैं वे मूल शास्त्रों की तरह किसी प्रकार माननीय नहीं हो सक्ते।

शुद्ध सिद्धांत के उपदेश

निर्वद्य और सावद्य उपदेश की सूचना निम्नांकित हैं और वह मूल सूत्र तथा ग्रंथों की साक्षी के आधार पर लिखे जाते हैं। आवश्यक सूत्र में ऐसा कहा है कि साधु आहारादि निमित्त गृहस्थ के घर जायं वहां असनादि चार जातिका आहार जांचते समय निर्दोष भोजन हो तो लेवे और सदोष भोजन न लेवें यह न्याय धर्म की रीति है।

संकिए सहसागारिए अणेसणाए पाणेसणाए,
पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरियभोयणाए
पच्छाकम्मियाए पुरेकम्मियाए अदिट्ठहडाए
दगसंसट्ठहडाए रयसंसट्ठहडाए पारिसाउ-
णियाए पारिठावणियाए ओहासणभिक्खाए
जंउग्गमेणं उपायणेसणाए अपडिसुद्धं पडिग्गहियं
परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं

भावार्थः-सं-संसारी गृहस्थ या संयति को अकल्पनीक आहारादि की शंका होने पर भी लालच वश बलात्कार से आहार ले लिया हो, अ-एषणा न की हो, पा-विशेष एषणा न की हो, पा-जीव हिंसा सहित भोजन लिया हो, प-आहार ले लेने पश्चात् कोई दोष लगाया हो, पु-आहार लेने पूर्व कुछ दोष लगाया हो, अ-दृष्टि न आते स्थान से आहार दिया गया हो और ले लिया हो, द कच्चे पानी के स्पर्श का आहार लिया हो, सचित रज के स्पर्श का आहार लिया हो, पा-मोल

लिया हुआ आहार लिया हो, पा-विशेप आहार लाकर पठा दिया हो, उ-खाना थोड़ा और डालना ज्यादा ऐसा आहार लिया हो, ज-जो उद्गमन के दोप हैं और जो २ गृहस्थों द्वारा लगते हैं, उ-उत्पादन के दोप सहित भोजन लिया हो तथा वार २ गृहस्थ से वस्तु मांग मांग कर ली हो, अ-ऐसे २ जो स्वतः से दोप लगे हो तथा ऐसा अकल्पित आहार पानी लिया हो, भोगा हो और पठाने योग्य समझ कर न पठाया हो तो वह सव पाप मेरा निष्फल होना।

ऐसे सिद्धांतों में भगवंत ने आराधिक साधुओ के संयम जीतव्य रखने वास्ते अकल्पनीक आहारादि की सख्त मनाई की है और सचित आहार पानी, पान फल और फूल आदि और अकल्पनीय वस्तु सव त्यागने को आज्ञा दी है। यहां तक कि किसी सचित वस्तु का स्पर्श कर कोई गृहस्थ आहार पानी या वस्तु दें तो उसे नहीं लेना, तो सचितादि वस्तु भोगना तो कैसे वन सक्ता है ? ऐसा आवश्यक सूत्र का पाठ है।

जव साधु धर्म के रक्षा निमित्त सदोप भोजन मुनि जनों को त्यागना फरमाया वैसे ही वारह व्रत धारी श्रावकों को भी आहारादि देने की विधि विवेक सहित धारण करलेना फरमाया है। जव श्रावक वारहवां व्रत लेते हैं तव सचितादि अकल्पनीय आहार पानी अप्रासुक, गुणवंत मुनियों को वहि-राने के त्याग ले लेते हैं।

वारहवें व्रत की विधि धारे वाद उसके पांच अतिचार समझ ले, पर वैसा न करें। वे नीचे अनुसार (मूजिव) हैं।

सचित निक्खेवणिया, सचित पेहणिया, कालाइक्कम्मे परोवएसे मच्छरियाए, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

भावार्थ-सचित वस्तु ऊपर साधु की कल्पनीय वस्तु

रक्खी हो अथवा सचित वस्तु से अचित वस्तु ढांकी हो साधु को वहिराने की वस्तु का समय निकल गया हो अथवा कोई वस्तु सड़ गई हो जिस के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श विगड़ गये हों और वह वस्तु वहराई हो, आप खुद आहारादि वहिराने योग्य सूझता हो कर प्रमाद वश दूसरों को आज्ञा दी हो कि तुम वहिरा दो, साधुजी को दान दे अहंकार किया हो तो यह सब पाप मेरे निष्फल होना ।

इस तरह आयश्यक सूत्र में १२ व्रत धारी श्रावकों के लिये निर्वद्य आहारादि उत्साह पूर्वक वहिराने के एवम् सुंदर व्रत पालने वाले मुनि महात्माओं को सावद्य आहारादि न देने के नियम बनाये हैं ।

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर में वीर भगवान् ने फरमाया है कि हे गौतम ! संयम मार्ग की आराधना करने वाले उत्तम साधु को जो विवेकी गृहस्थ प्रासुक, एषणीय, सूझते आहारादि पदार्थ प्रतिलाभते हैं वे उन के संयम जीतव्य के दातार हैं ।

दसवै कालिक सूत्र के ५ वें अध्ययन के दूसरे उद्देसे की १४ वीं गाथासे २४ वीं गाथा तक भगवंत ने ऐसा फरमाया है कि जो साधु आत्मार्थी होते हैं वे छः कारण से भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर जाते हैं । उस समय कोई अविवेकी मुनि को आते देख कर भिक्षा देने के लिये उठता हो पर उसके हाथ में नीले,लाल कमल या कुमुद जाति के कमल, मगंदती कमल आदि अनेक जाति के फूल तोड़े हुए हों या तोड़ता हुआ साधु को आहारादि देने वास्ते आया हो तो उस समय वे साधु ऐसा फरमावें—हे गृहस्थ ! आप के अकल्प-नीय हाथ से मुझे आहार लेना नहीं कल्पता है ।

इस प्रकार कोई अविवेकी गृहस्थ उपरोक्त फूलों को पांव से कुचल कर गुणवान् साधु को आहारादि वहिराना चाहे तो भी साधु यों फरमावें कि अहो गृहस्थी जी ! आप के अकल्पनीय हाथ से हम आहार नहीं ले सक्ते।

उत्पन्न कमलगदिक की नली या कंद, टेसू का कंद, चंद्र विकाशी कमल की नली अर्थात् डंडी अनेक प्रकार के फूलों के कंद या डंडियां, सांठे के कच्चे टुकड़े, वनस्पति के पत्ते, कोंपल और कली, हर एक जाति के वृक्षों के पत्ते, घास, कच्ची हरिकाय सेम आदि की कच्ची फली विना सेकी, अनेक जाति के सचित कच्चे फल, कच्ची तल पापड़ी, चांवल की राव या निर्मल अन्य स्पर्श रहित कच्चा पानी, ताजा सेका अर्थात् कुछ गरम और कुछ ठंडा वरावर अचित न हुआ मिश्र पानी, रसचलित सड़ी हुई वस्तु इतने कच्चे पदार्थों का साधु त्याग करते हैं तथा सौंफ, विजौरादि के फल, पत्ते सह मूली उनकी कच्ची दंडी, जिन की शस्त्र द्वारा अन्य गति न हुई हो ऐसी वे भुनी वस्तु मन वचन काया करके भी लेना नहीं कल्पती है। उसी प्रकार फल का चूर्ण वहेड़े का फल खिरनी के फल आदि अनेक प्रकार की सचित वस्तुएं, अप्रासुक, अनेषणीय गृहस्थ देवे तो भी जिन में मुनि के गुण हों उन्हें लेना नहीं कल्पती हैं। स्वयं साधु भी महा क्षुधा वेदना के दुःख से दु खी हो जाय पर अकल्पनीय वस्तु आयुष्य पर्य्यन्त तीन योग से न चाहे। ऐसा सिद्धांतों में भगवत ने फर्माया है और साधु धर्म के यत्न पूर्वक निभाने वास्ते वीतराग भाषित मूल सूत्रों में इस पर अनेक भेद, युक्ति, न्याय हेतु दृष्टांत दिये हैं। पर किसी भी स्थान पर मूल सूत्रों में ऊपर कहे हुए अकल्पनीय पदार्थ का भोक्ता आत्मार्थी भावी अप्पा नहीं कहा है।

अब हम पाषाण मतियों से कहते हैं कि तुम्हारे कलि-काल के सावद्याचार्यों ने परिषह से हाय मान प्रणाम लाकर जो ग्रंथ बनाये हैं उनमें तो देह रख कर धर्म करना बताया है ऐसा सिद्ध होता है। कारण कि उन ग्रथों में कार्याकारणों का घोटाला डाल कर अनेक प्रकार के सावद्य वाक्य रखकर साधुओं के व्रत में आहारादि लाने के लिये छूट रख दी मालूम होती है। जिस के लिये नीचे प्रमाण देते हैं।

निसीथ सूत्र की चूर्णिका में लिखा है कि साधुओं को राह चलते अत्यंत क्षुधा लगी हो या गृहस्थ के घर से आहारादि का योग न लगा हो और क्षुधा का महद् परिषह पड़ रहा हो तो साधु केले के झाड़ से केले उतार कर अवसर देख यत्ना सहित उन्हें भोग ले। कारण कि साधु पना रखने के लिये काया कारण कल्पनीय है। तो यह कैसे संभव हो सक्ता है ?

साधु को किसी समय गृहस्थ के घर से प्रासुक पानी याचते न मिले तो उस समय ही तथा दूसरे ग्राम विहार करते समय तृषा का परिषह उत्पन्न हुआ हो तो संयम में पहुँचती हुई बाधा या संयम में होती हुई हरकत को मिटाने के लिये राह में कोई सचित पानी का स्थान हो वहां से अपना पात्र भर कर राख आदि से मिश्रित कर यत्नापूर्वक वह पानी पीले तो संयम नहीं जाता।

इसी तरह क्षुधा से पीड़ित होने पर सचित फल, फूल, पत्ते आदि हरिकाय के भोजन करने की छूट रक्खी है यों ही तृषा के उपसर्ग से अपने तथा दूसरे के हाथ से प्रासुक जल करके पीने की छूट रख दी है। ऐसे सावद्याचार्यों के रचे हुए ग्रंथों में अनेक व्रतों की विधि में छूट रख दी है। अगर वीत-

राग भाषित मूल सूत्रों के साथ उन ग्रंथों के वाक्यों का मिलान करें तो कोई बात या सम्बन्ध नहीं मिलता। इस का विस्तृत वर्णन प्रथम भाग में किया ही है। उस में देख लेवें, पर जिन ग्रंथों में साधु के आचार सम्बन्धी छूट रख काया कारण की ओट ली है वह बिल्कुल शास्त्र के विरुद्ध है कारण कि सूयगडांग सूत्र के ७ वें अध्ययन की २ री गाथा में कहा है:-

एयाइं कायाइं पवेदिताइं, एएसु जाणे पडिले हसायं
एएण काएणय आयदंडे, एएसुया विप्परियासुविंति ॥२॥

भावार्थः-उपरोक्त पृथ्वी आदि छः जीव की काया श्री तीर्थंकर देव ने फर्माई है। ये जीव की छः काया है। ये सब शाता एवम् सुख चाहती हैं अर्थात् सब जीव सुखाभिलाषी हैं। इन छः काय के प्राणियों को जो अज्ञानी हानि पहुँचाते हैं, उन्हें मारते हैं या दीर्घ काल तक कष्ट देते है उन्हें जो फल मिलता है उसे सुनिये।

वह हिंसक जीव इन्हीं छः काय में उत्पन्न हो नष्ट होता है और परिभ्रमण करता रहता है।

इसी अध्याय की ६ वीं गाथा में कहा है:-

जाइंच वुड्ढिंच विणासयंते, बीयाई अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसइ आयसाए।

भावार्थः-जो जा-उत्पत्ति अर्थात् मूलादि कोमल तथा वु-वृद्धि अर्थात् शाखा प्रति शाखादि वनस्पति का, वि-विनाश करता हो उन्हें, अ-असयंत अर्थात् ग्रहस्थ या परिव्राजक अन्य लिंगी या द्रव्य लिंगी आत्मा की घात करने वाले कहना चाहिये कारण स्वयम् के शरीर वास्ते जो पर प्राणी को मारते हैं वे स्वयं अपनी आत्मा का भी उपघात करते

हैं और अ-जो आत्म-सुख के लिये हरिकाय को छेदते हैं उन्हें श्री तीर्थंकर गणधर लौकिक में अनार्य और अधर्मी गिनते हैं, बी-जो प्राणी अपने आत्मधर्म वास्ते दूसरों को आदेश देकर वनस्पति काय का छेदन करते हैं, छेदन कराते हैं या उनके कार्य के समर्थक होते हैं वे अनर्थी और और पाखंडी हैं।

जो प्राणी जिस तरह से वनस्पति का नाश करता है वह प्राणी स्वयं उसी प्रकार मरता है, यह १० वीं गाथा में फर्माया है।

गब्भाइ मिज्झंति बुयाबुयाणा नरा परे पंचसिहा कुमार
जुवाणगा मज्झिम थेरगाय, चयंति ते आउक्खए पलीणा

चौथे पद के पाठांतर में " पोरुसाय " भी कहते हैं।

भावार्थः-ग-वनस्पति काय के विनाश करने वाले प्राणी कई जन्म तक तो गर्भावस्था में ही मर जायँगे अर्थात् कितने ही गर्भ में उत्पन्न हुए बाद थोड़े ही दिन में मर मिटेंगे और कितने ही जन्में बाद मरेंगे। कितने ही बोलने वाले होकर मरेंगे और कितने ही बिना बोले मर जायँगे । कितने यौवन बय प्राप्त होने के पहिले और कितने युवावस्था में, कितने मध्यम वय में और कितने ही वृद्धावस्था पाकर मरेंगे । स्वकर्म भोगते हुए वे दीन दुःखी हिंसा करनेवाले जीव भूख तृषादि सहन कर शरीर त्याग देंगे और आयुष्य क्षय करेंगे । जैसा उन्होंने पाप किया है वैसा ही भोगेंगे।

अब हम क्षुधा, तृषादि परिषह से डरकर चलने वाले पाषाण मतियों से कहना चाहते हैं किजो तुम्हारे ग्रंथों में कार्य कारण वश क्षुधा, तृषादि परिषह टालने अकल्पनीय वस्तु ले लेना लिखा है पर मूल सूत्र में विरुद्ध कार्य करने वाले को अनार्य ठहराया है और उन्हें कई जन्म मरण का लाभ बत-

लाया है जिससे हम तुम्हारे हित के लिये कहते हैं कि, वीतराग के मूल शास्त्रानुसार चलकर आत्मा का कार्य सिद्ध करने वास्ते अकल्पनीय कार्यों से दूर रहो यही श्रेष्ठ है। फिर भगवंत फर्माते हैं-पांच आश्रव त्यागते हैं तब मूल चारित्र के ५ संवर प्रकट होते हैं। उन पांच संवर द्वारा नये कर्मों का निरोधन होता है और पुरातन कर्मों का तप करणी द्वारा क्षय करने से निर्जरा गुण प्रकट होता है क्योंकि नौ भांगे से पांच महाव्रत आदरते समय " सव्वाउ पाणाइवाइयाओ वेरमणं जाव परिग्गहाओ वेरमणं " अर्थात् सर्वथा प्राणातिपातादि रात्रि भोजन त्यागने तक के व्रत लेते हैं तब चारित्र का मूल गुण प्रकट होता है और वीतराग धर्म की आज्ञा पालने वाले जैन मुनि तो इसी मुआफिक प्राणांत तक पालन करते रहते हैं।

तुम पीले वस्त्र वाले वेष धारी छः मूल व्रत में काया कारण कल्प कर प्राण वध आदि रात्रि भोजन तक छूट रखते हो तो क्या देश व्रत आदरा है कि क्या ? साधुओं के सब मूल व्रत में कुछ भी कार्य कारण वश छूट रखोगे तो "सव्वाउ पाणाइ वाइया‍उ वेरमणं" आदि पाठ में " थुलाउ पा । " ऐसा चाहिये और साधु श्रावक के व्रतों में कुछ भी अंतर न रहना चाहिये, जैसा कि तुम्हारे लिये स्वयं सिद्ध है। ऐसे २ कारण दिखाने से तुम्हें साधु कौन कहेंगे और कौन कहते हैं ? इसका तनिक विचार तो करो। फिर हम कहते हैं कि कवि जनों के किये हुये ग्रंथाधार से स्पष्ट विश्वास होता है कि पीले वस्त्र वालों ने जो २ मूल व्रत लिये हैं उन में प्रत्येक में कार्य कारण छूट बताई है, ऐसा उनके मत से साफ मालूम होता है। देखो देश व्रती श्रावकों के व्रतों में छः छंडी का आगार रक्खा है क्योंकि वे गृहस्थाश्रम मे रह कर उचित लाभ लेना

चाहते हैं परंतु साधु नाम धरा कर व्रत ले जो बिना छूट के ही आगार बताते हैं, वे साधु की क्रिया के अनुसार साधु कहाने के योग्य नहीं हैं और श्रावक व्रत में तो वे हैं ही नहीं, इस लिये उन्हें प्रथम गुण स्थान के मालिक कहने में कुछ हरकत नहीं।

कवि कल्पना के आधार से कितने ही भोले मनुष्य कहते हैं कि वृद्ध तपस्वी और रोगी या नव दीक्षित के लिये आचार्य उपाध्याय या गच्छ के लिये कोई कारण वश अकल्पनीय अर्थात् साधुओं में न खपे ऐसी वस्तु अवसर देखकर साधु ले आवे तो वीतराग की आज्ञा का विराधक नहीं है । ऐसा तुम्हारे ग्रंथों से मालूम होता है; पर यह बिल्कुल मूल सूत्रों के विरुद्ध है कारण कि उस अकल्पनीय वस्तु से संयम सहित अपने आत्म धर्म का नाश हो जाता है। इसलिए मूल व्रत आदरते समय किसी कारण से भी भगवंत ने छूट नहीं रक्खी है परंतु शरीर धर्म के रागियों को छूट बिना छूट भी नहीं मिल सक्ती है।

वीतराग देवने आत्मिक धर्म पालने वाले मुनिवरों को १८ बोल अखंड पालने की आज्ञा दी है। " दशवैं कालिक सूत्र " के छठे अध्याय की पहिली गाथा से सातवीं गाथा तक ऐसा फर्माया है कि कोई राजा, ईश्वर, सेनाधिपति आदि प्रधान ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यादि कितने ही पुरुष ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि के रहने वाले अपने ग्राम के अहो भाग्य से पधारे हुए वीतराग की आज्ञा पालने महाव्रत धारी आचार्य से प्रश्न करे कि, हे साधुजी महाराज ! आपके साधु पने के आचार क्या हैं सब साधुओं के लिये आपके धर्म में व्रत पालने की एक ही रीति है या परस्पर कुछ भेद है ?

इस प्रश्नोत्तर में निश्चल चित्त के स्वामी इंद्रियादि के दमन कर्त्ता सब प्राणियों को सुख देनेवाले साधु यह सुनकर न्याय धर्म से यथोचित उत्तर दें कि–

हे राजादि गृहस्थो! हमारे सब साधुओं के आचार विचार तो पूर्व के उपार्जित कर्म वैरी का नाश करने वाले हैं, सब प्राणियों की रक्षा करने वाले हैं ऐसा आचार अन्यधर्मियों मे नहीं है यह आचार कायर और डरपोक नही आचर सक्ते। हमारा यह आचार हमारे धर्म के शुद्ध समाचारियो के सर्व साधुओं के लिये समान है, चाहे वह नव दीक्षित हो या करोड़ पूर्व की दीक्षा का धणी हो, चाहे वह वृद्ध हो या तरुण, बीमार हो या तपसी हो, सब को देश से या सर्वथा अतिचार रहित पालना चाहिये। ऐसा छट्ठे अध्ययन की ७ वीं गाथा तक सूचना दी है। इस आचार के पालने की विधि के १८ बोल की आठवीं गाथा नीचे लिखी जाती है।

वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक निसिज्झाय सिणाणं सोभवज्जणं ॥ ८ ॥

भावार्थः—जीवहिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, रात्रि भोजन इन छः बोलों का त्रिविधि २ त्याग करे। पृथ्वी पानी, तेउ, वायु, वनस्पति, त्रस इन छः काय के जीवों को अपने प्राण समान समझ कर जाव जीव तक इन्हों की हिंसा न करे और न औरों से हिंसा करावे। और अन्य हिंसा करते हुए को भला भी न समझे। ये १२ गुण हुए। तेरहवें बोल में सर्वथा अकल्पनीय अर्थात् साधुओं के न खपे ऐसे आहारादि कोई भी पदार्थ मरणांत तक न ले, १४ गृहस्थ के वर्त्तन में भोजन न करे, १५ गृहस्थ के घर पर यथा शक्ति होते हुए

नहीं वैठे, १६ गृहस्थ के सोने वैठने के पलंग ढोलिया आदि को न वापरे, १७ शरीर की सुश्रूषा वास्ते स्नान मंजन न करे १८ शरीर पर ममत्व लाकर शोभा श्रृंगार न करे।

ऐसे १८अवगुण त्यागते है तब अठारह गुण प्रकट होते है। ये सव साधुओं को समान ही पालन करना कहा है परंतु लघु वृद्ध या कार्य कारण बताया नहीं, इसलिये ऐसे निष्पक्ष शास्त्र के आत्म कल्याण हित कारक वाक्य एक ओर रखकर ग्रंथाधार से सब वातों की छूट रखना वताते हो तो उन्हें शास्त्रोक्त कैसे मानलें! जैन धर्म में प्रारंभ से विरुद्धता नहीं चली वैसे ही अव भी नहीं चलेगी, इसलिये तुम्हारे कृत्यों से साफ प्रकट होता है कि तुम सचमुच जैन मुनियों के प्रतिपक्षी हो। वीतराग भाषित मूल शास्त्रों के विरुद्ध चलने वाले ग्रंथाधारी ग्रंथी प्राणी उत्पन्न हुए हो क्योंकि जहां त्याग वैराग्य उच्च क्रिया का उपदेश आता है वहां मौन धारते हो और भवाई संग्रह ग्रंथ के आधार से दांडिया रस आदि नाटक करने में उपदेश दे साहसपना दिखाते हो यह कम हास्यास्पद नही है। सारांश धर्म से उलट अधर्म के साथियों के लिये सूयगडांग सूत्र में प्रथम अध्याय के दूसरे उद्देशे की ग्यारहवीं गाथा में फर्माया है:—

धम्मपरणवणा जासा तंतुसं किंति मुढगा
आरंभाइं न संकिंति अविअत्ता अकोविआ॥ ११॥

भावार्थः—जो क्षांतादि दस विधि की धर्म प्ररूपणा है उस से अज्ञानी शंकित हो जाते है और कहते हैं कि ये अधर्म की प्ररूपणा है; पर जो आरंभादि पाप के कारणों से नहीं डरते

है और उन्हें ही धर्म मानते हैं वे कैसे है ? अव्यक्त, मुग्ध, विवेक, विकल तथा अपंडित है।

अब सत्य धर्म पर न चलने वालों को अधर्मी कृत्यों के पंडित गिने पर सत्य कृत्यों के पंडित न गिने, इसलिये मूल सूत्रों के आधार से निष्पत्त हो न्याय मार्ग का जो आचरण करते हैं और सावद्य वाक्यो का निराकरण करते हैं वे न्याय धर्म की वृद्धि करने वाले है।

मुग्ध मनुष्य कहते हैं कि तुम स्थापना निक्षेप नहीं मानते हो उसके प्रश्नोत्तर

हमारे पूर्व भवांतर के कितने ही वाल मित्र ऐसा कहते हैं कि तुम स्थापना निक्षेप नहीं मानते हो, इसलिये शास्त्र के विरुद्ध चलते हो ऐसे प्रश्नकर्त्ता नीचे लिखा उत्तर पढ़े।

अहो हमारे अविवेकी प्यारे मित्रो ! धिक्कार है तुम्हारी अज्ञान वुद्धि को, कि हम चार निक्षेपा माननेवालों के सिर कलंक लगाना चाहते हो, तुम्हारे पाषाण रूपी हृदय में जितनी मूर्खता भरीहै सव वाहर न निकालते नीचे की हकीकत ध्यान पूर्वक सुनो।

श्री जिनराज देव ने मोक्ष साधनार्थ नव पदार्थ के जानने वास्ते जो सम्यक्त्वी जीवों के लिये विवेचन दिया है उसमें हेय, गेय, उपादेय इन तीन भेदो का पूर्ण विवरण विस्तार पूर्वक किया है, जिसकी विस्तृत हकीकत उत्तराध्ययन सूत्र

के २८ वें अध्याय में है और भगवती तथा अनुयोग द्वार सूत्र आदि कई सूत्रों में भी है, यहां विशेष विवेचन करने से ग्रंथ का बढ़ जाना संभव समझ नाम मात्र सूचना लिखते हैं ।

श्री वीतराग देवने सम्यक्त्वी विवेकी उत्तम जनों को मोक्ष मार्ग आराधने वास्ते जीवादिक ९ पदार्थ का उपदेश दिया उसमें जानने योग्य, आदरने योग्य और छोड़ने योग्य बातो के भेद बताये। उन नौ पदार्थों में जानने, आदरने, छोड़ने योग्य सब बातों को २५ बोल के साथ चितारने से विस्तार रुचि की युक्ति अनुसार सद्दहणा गिनते हैं इसी तरह निश्चय नय और व्यवहार नय ये दो परिणाम आते हैं और इसीसे सम्यक्त्वी समझे जाते हैं । उस समकित का विवेचन नीचे देते हैं ।

दोहा

देव धर्म अरु आसता, तजे कुदेव कुधर्म ।
ए व्यवहार सम्यक्त कही, वाह्य धर्म नो मर्म ॥ १ ॥
निहचै समकित नो सही, कारण षट् व्यवहार ।
ए समकित आराधतां, निहचैपण अवधार ॥ २ ॥
निहचै समकित जीव ने, पर परिणत रस त्याग ।
निज स्वभाव में रमणता, शिव सुखनो ए भाग ॥ ३ ॥
ए बेहु सम्यक्त्व लहे, समझे नव तत्व ज्ञान ।
नय निक्षेप परमाण सुं, स्यादवाद परमान ॥ ४ ॥
द्रव्य क्षेत्र इणाहि तणा, काल भाव विज्ञान ।
सामान्य विशेष समझते, होय न आतम ज्ञान ॥ ५ ॥

इस तरह आत्मज्ञान की विशुद्धता करने केलिये सम्यक्त्वी मनुष्य जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर निर्जरा, बंध, मोक्ष इन नव पदार्थों के ज्ञाता बने। श्री ठाणायंगजी सूत्र के दूसरे ठाणे में नव तत्व की एक जीव राशि और दूसरी अजीव राशि कही अर्थात् मूल जीव अजीव के दो भेद कहे। अब उन नौ पदार्थों का विशेष विवेचन न करते उन पर जो पच्चीस बोल लगाते हैं वे लिखते हैं।

१ निश्चय से, २ व्यवहार से, ३ द्रव्य से, ४ भाव से, ५ सामान्यतः, ६ विशेषतः, ७ नाम निक्षेप से, ८ स्थापना निक्षेप से, ९ द्रव्य निक्षेप से, १० भाव निक्षेप से, ११ द्रव्य से, १२ क्षेत्र से, १३ काल से, १४ भाव से, १५ चार प्रत्यक्ष प्रमाण से, १६ अनुमान प्रमाण से, १७ आगम प्रमाण से, १८ उपमा प्रमाण से, १९ सातनय से, नयगमनय से, २० संग्रह नय से, २१ व्यवहार नय से, २२ रुजु सूत्र नय से, २३ शब्द नय से, २४ समभिरुढ नय से, २५ एवं भूत नय से, ऐसे पच्चीस बोल एक तत्व पर लगाकर षट् द्रव्य के गुण पर्याय आदि सब समझ ले, स्वस्वरुप का और पर परणीति का भेद जान कर स्वस्वरुप का निश्चय करले। ऐसा सिद्धांतों में निर्वद्य वाक्य द्वारा साफ मालूम होता है। संसार के सभी प्राणियों पर चाहे जीव हो या अजीव चार निक्षेप लगे हैं। ये वीतराग के वचन बहुत सत्य हैं।

अब सुमति रहित मित्रों से कहना है कि हम मूल सूत्रों में फरमाये मूजिब चार निक्षेप बराबर मानते हैं, पर आप अपनी सब अज्ञानता दिखाकर जो स्थापना निक्षेप नहीं मानना कहते हो यह आपका बोलना व्यर्थ है। कारण, प्रत्येक स्वरुप अरुप वस्तु में उपरोक्त २५ बोल अवश्य विद्यमान

हैं । इन में से एक भी बोल कम ज्यादा विपरीत श्रद्धे तो उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं । ऐसा सूत्र का न्याय है । इस लिये सब जैन दया धर्मी को २५ बोल की उक्ति के अनुसार चारों निक्षेपे मान्य है । ये चार निक्षेपे सिर्फ तुम्हारी कल्पित मत से बनाई हुई पाषाण मूर्ति के लिये ही है, ऐसा न समझना । कारण कि यह लोक जीव द्रव्य, अजीव द्रव्य से परिपूर्ण है उन सब के लिये चार निक्षेपे है जिसमें से जिन २ वस्तुएं के नाम, स्थापना और द्रव्य से तीन भेद हो जायं पश्चात् चौथा भाव निक्षेपा उस वस्तु का मूल गुण समझना । जिस की विस्तृत हकीकत नीचे मूजिब जानो ।

जैसे सोमल के चार निक्षेपा—उसका नाम, नाम सोमल, द्रव्य सोमल, भाव सोमल । अब सोमल का जो भाव निक्षेप है वही मूल गुण हैं । वह यहां विषैला अर्थात् जिसके खाने से सब प्राण का अंत हो जाता है, यही इसका भाव गुण है । जो मनुष्य उसे दृष्टि से देखता है वह समझता है कि इस सोमल से प्राण नष्ट हो जाते हैं ।

शक्कर के चार निक्षेपे—जिस में मूल भाव गुण, मधुरता अर्थात् मिठास, यह जिस को अनुकूल पड़ती है उसके शरीर को पुष्ट करती है यही इस का मूल गुण है । यों सब पदार्थ ऊंच, नीच, मध्यम सब में चार निक्षेपे हैं और इनके जो २ मूल गुण हैं वे येही भाव निक्षेपे हैं । इसी तरह एकेंद्रिय आदि पंचेंद्रिय तक सब में चार निक्षेपे हैं। जिन में असत्य सत्य की वस्तु में असत्य कृत्य रुप भाव निक्षेप अवगुण करने वाला सोमल ज्यों समझना, और सत्य कृत्य की वस्तु में सत्य कृत्य रूप निक्षेप गुण कर्ता समझना, जैसे अरिहंत और

साधु में चार निक्षेप विद्यमान है उन में जो मूल ज्ञान दर्शन का गुण स्वभाव है या मूल आत्मिक दशा भाव है यही भाव निक्षेप हैं। वे मूल से ही अपने जन्मांतर के बंधे कर्मों के बंधन से मुक्त हैं; इसीलिये उनके भाव निक्षेपा रूप भाव गुण को बहुत २ मान दे त्रिविध २ वंदन करते हैं। उनके भाव निक्षेप के कृत्य को अपने कर्मों की निर्जरा वास्ते यथोचित रीति से ग्रहण करते हैं और उन का पद प्राप्त करने वास्ते अर्थात् सिद्ध पद पाने के लिये प्रस्तुत होना ही भाव निक्षेपे का गुण है। शेष रहे ३ निक्षेप तो जानने योग्य है पर वंदना के योग्य नहीं है कारण, प्रथम के ३ निक्षेप तो पौद्गलिक हैं वे मूल ज्ञान दर्शन के स्वभाव से विरुद्ध हैं और क्षण २ में क्षीण होते वृद्धि प्राप्त करते रहते हैं, इसलिये अवंदनीक के लिये एक भाव निक्षेप ही ध्रुपद स्वभाव वाला है और वही वंदनीक है। सारांश यह भेद ज्ञान तो सुपात्र लक्षवालों के ही आदरने योग्य है।

प्रतिमा में चार निक्षेपे पाते हैं, यह मूल धर्म से सत्य है; क्योंकि उसके प्रथम के ३ निक्षेप तो वैसे ही हैं, परंतु चौथा निक्षेप उसको मूल गुण रूपी भाव निक्षेप अज्ञान और मिथ्यात्व है। कारण, एकेंद्रिय पाषाण में मिथ्यात्व गुण भरा है जिससे उस का मूल गुण वही है और वही अपने उपयोग में आता है क्योंकि जो पाषाण का प्रत्यक्ष ऐसा गुण है कि जिसपर उसका प्रहार होता है उसके शरीर को हानि पहुं-चाता है या प्राण जाता है। इस का दृष्टांत नीचे मूजिब है-

खम्भात शहर में एक जिलार पाड़ा नामक मोहल्ले में तप्त स्वभावियों का एक देवल है। उस में पूजारे आदि मनुष्य थे। वह देवल संभालने की खटपट में लगेथे। उस समय दो चार लड़के खेलते २ उस मंदिर में आ पहुंचे और उस मंदिर में बैठी हुई प्रतिमा को पुष्पादि हार गजरे से सुशोभित देख उस हार को चुरा लेने वास्ते पुजारी को गफ़लत में

समझ एक लड़के ने एक दम मूर्तिपर हाथ रख हार को खींचा। फूल-हार खींचते ही वह आरस पहाणेश्वर महा कोप करके एक दम लोहे के खीले परसे अपराधी लड़के के ऊपर कूद पड़े और उस लड़के की छाती पर महा क्रोध से ऐसा धक्का मारा कि लड़के की छाती की हड्डी चूर २ होगई और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी तरह दूसरे उपस्थित लड़कों को भी क्रोध के आवेश में घायल कर दिया। इस प्रकार उन लड़कों और पहाणेश्वर में परस्पर युद्ध मचगया था। वे पहाणेश्वर इतने निर्दय थे कि उन लड़कों के मरने तक की नोवत आ पहुंचने पर भी वे तनिक भी नहीं हटे। फिर उन लड़कों की पुकार से पुजारी आदिने आकर अत्यन्त श्रम से उन पहाणेश्वर को स्थान पर बिठाये। इस स्थानपर कहने का मतलब यह कि बराबर लोह की खीलों से मजबूत न बांधने पर उन ने एक पंचेन्द्रिय जीव का प्राण लिया तो उन पहाणेश्वर की भक्ति में एकेन्द्रिय बेन्द्रिय आदि षट् काय के प्राणियों का नाश हो तो इस में आश्चर्य ही क्या है ? ऐसे एकेंन्द्रिय पाषाणादि का मूल गुण तो सब आश्रव से पूर्ण भरा है उन में वंदन गुण वस्तु तो स्पष्ट कुछ दृष्टि गत नहीं होती फिर उनके चार निक्षेपे पर विचार करते गुण ऊपर ही उतरना पड़ता है। यों सद्गुण के नाम से चार निक्षेप निर्गुण एकेंद्रिय में लगाकर महा आरंभ करते हो उस का सद्गुणी शिरोमणि तीर्थंकरों पर कलंक नहीं लगता पर तुम अपने अविवेकी विचारों के वश हो तुम्हारे कषाय आत्मा को पुष्टि करके हिंसा रूप जल सींचते हो जिसका जवाब अधो-गति के स्वामियों के सामने देना कठिन हो जायगा, देखो—

निक्षेपा सब द्रव्य का, कहा चार ना चार।
निज आत्म चीन्हा बिना, समझे किसू गमार॥
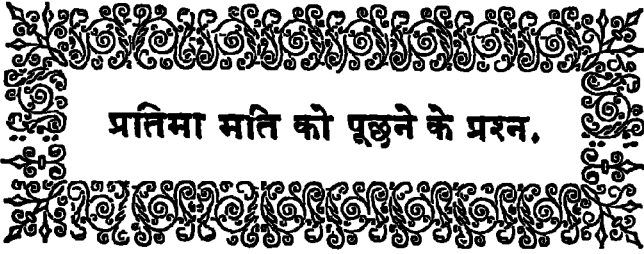
प्रतिमा माति को पूछने के प्रश्न.

(१) अहो बाल मित्रो ! मूल सूत्र में दया धर्म रूपी भाव द्रव्य जिसमें सत्य रूपी स्नान करना कहा है और व्यवहारी लोकों को संसार के कारण वास्ते सचित पानी से द्रव्य स्नान करने वाले कहे है तो इन दो प्रकार के स्नानों में कौनसा स्नान करने से साधु और गृहस्थ निर्मल होकर तिरते हैं ?

(२) सिद्धांतों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम, यतना, शील एवम् इन्द्रिय निग्रह रूप भाव को तीर्थ यात्रा करना कहा है और संसार व्यवहारी गंगा, गोदावरी, हरद्वार आदि अनेक स्थानों को और मुसलमान मक्के, मदीने आदि स्थानों को तथा तपा जन आबू, तारंगा, शत्रुंजय आदि द्रव्य तीर्थों में से कौनसी तीर्थ यात्रा करने से साधु तथा गृहस्थ संसार मुक्त होते हैं ?

(३) सिद्धांतों में यज्ञ, हवन करने का विवेचन है जिसमें तप रूप अग्नि और जीव रूप कुंड तथा भले मन, वचन और काया के जोग रूप घृत डालने के चाटुए, शरीर रूप फूंकनी, कर्म रूप ईंधन ऐसे कृत्य को भाव यज्ञ कहा है, परंतु कितने ही अज्ञान पुरुष अश्वमेघ, गजमेघ, अजामेघ आदि अनेक प्रकार के द्रव्य यज्ञ करते हैं तो साधु और गृहस्थों की कौन से यज्ञ से मुक्ति होगी ?

(४) सिद्धांतों में ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप को भाव

निधान कहे हैं और संसारी सोना, रूपा, धन, धान्य, रत्न, हीरा, माणक, जवाहिरात, पन्ना, पुखराज आदि अनेक प्रकार के धन को निधान समझते हैं जो कि द्रव्य निधान हैं, तो इन दोनों में से साधु तथा गृहस्थी को कौन से निधान की रक्षा करनी चाहिये जिस से वे संसार मुक्त हो जायं ?

(५) सिद्धांतों में कहा है कि क्रोधादिक, राग, द्वेष रूपी अग्नि का दावानल लग रहा हो उसे बुझादे तो भाव अग्नि शांत हुई समझना चाहिये परंतु कंडे ईंधनादि जलाने वाली अग्नि तो दावानल है इन दोनों में से साधु या गृहस्थ कौन सी आग बुझावे जिस से वे कर्मों से मुक्त हो जायं ?

(६) सिद्धांतों में वीतराग के दयाधर्म का आराधन करने वास्ते जो आज्ञा सहित दया का पालन करते है वे भाव देव की पूजा करते हैं। ऐसा कहा है, परंतु संसारी पाषाणादि की मूर्ति को स्नान, मंजन, पान, फल, फूल, और-नैवेद्यादि आरंभ करके तथा धूप, दीप, केशर चढ़ाकर एवम् बाजा, गाड़ी आदि अनेक प्रकार की सावद्य क्रिया करके पूजते है जिसे द्रव्य पूजा कहते हैं, तो इन दोनों पूजन में से साधु या गृहस्थी कौन सी पूजा करे कि जिस से उस का मोक्ष हो जाय ?

(७) सिद्धांतों में सांसारिक अनेक नास्तिक वस्तुओं पर ममता बढ़ाने का नाम तृष्णा रूपी भाव लता रक्खा है और वर्षाऋतु में उत्पन्न हुई वनस्पति द्रव्य लता कहलाती है तो इन दोनों जाति की लताओं से साफ रहने वाले साधु या गृहस्थ कर्मों से मुक्त होते हैं ?

(८) सिद्धांतों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप के कृत्यों को

भाव व्यौपार कहा है और संसारी जीविका के वास्ते अनेक सावद्य कृत्य करते हैं जिन्हें द्रव्य व्यौपार कहा है, तो इन दोनों व्यौपारों में से साधु या गृहस्थ कौन से व्यौपार से मुक्त हो जायंगे ?

(६) सिद्धांतों में शुद्ध श्रद्धा रूपी नगर, क्षमा रूपी गढ़ तप संयम रूपी द्वार के कपाट हों उसे भाव गढ़ कहा है और कोई संसारी राजा अपने शहर के रक्षार्थ पाषाणादि का गढ़ बनाता है उसे द्रव्यगढ़ कहते हैं, तो साधु या गृहस्थ कौनसा गढ़ बनावें जिस से वे कर्मों द्वारा निर्भय हो जायं ?

(१०) सिद्धांतों में मोक्षाभिलाषी को युद्ध करना चाहिये ऐसा लिखा है। जिसमें पराक्रम रूप धनुष लेकर, इर्या सुमति रूप कमान खींचकर, तप रूपी बाण से कर्म बैरी का शिरच्छेद करना भाव युद्ध कहलाता है और राजा आदि परस्पर क्लेश करके युद्ध करते हैं उसे द्रव्य युद्ध कहते हैं, तो साधु या गृहस्थ कौनसा युद्ध करें कि जिस से वे कर्मों द्वारा मुक्त हो जायं ?

(११) सिद्धांतों में निर्वद्य अर्थात् मन रूपी भाव घोड़े पर चढ़ना लिखा है और संसारी मनुष्य तिर्यंच जाति के द्रव्य घोड़े पर चढ़नेवाले कहे हैं, तो साधु या गृहस्थ कौन से घोड़े पर सवार हो कि वे मोक्ष तक पहुंच जायं !

(१२) सिद्धांतों में कहा है कि जो वर्तमान समय में संसार के सब बंधन त्यागकर सर्व व्रती हो ३४ अतिशय और ३५ वाणी सहित उपदेश देते हुए विचरते हैं वे भाव तीर्थंकर हैं और तीर्थंकर के आयुष्यपूर्ण किये पश्चात् रहे हुए शरीर को द्रव्य तीर्थंकर कहा है या कोई भविष्य काल में तीर्थंकर होनेवाले हैं परंतु तीर्थंकर सम्बन्धी भाव गुण

प्रकट न हुए उन्हें या ऊपर गुण बताये उन्हें वंदन करनेसे गृहस्थ या साधु कर्म की निर्जरा कर सक्ते हैं क्या?

(१३) सिद्धांतों में कहा है कि जो कोई पुरुष संसार त्याग पंच महा व्रत, सत्ताईस गुण सहित निर्वद्य करनी करते हैं वे (भावी अप्पा) भावित आतमा साधु कहलाते हैं, और द्रव्य साधु वे कहलाते हैं जो भविष्य काल में संयम लेने वाले हैं अर्थात् अगले भव में या इसी भवमें संयम लेंगे, अभी लिया नहीं और सब आश्रव सेवते हैं उन्हें द्रव्य साधु कहते हैं तथा किसी साधु के मरने के पश्चात् बाकी रहा हुआ शरीर जो कि निर्गुण है वह भी द्रव्य साधु कहलाता है। इन दोनों में से साधु या गृहस्थ कौन से तीर्थंकर या साधु को सेवा भक्ति, विनय, वैयावच, आहारादि से संतुष्ट करें कि वे महा निर्जरा करके कर्मों से मुक्त हो जायं?

(१४) सिद्धांतों में दया, सत्य तथा ज्ञानादि चारों की आराधना करने वालों को सर्वोत्कृष्ट भाव मंगलीक कहे हैं या भाव कल्याणीक कहे हैं और संसारी मनुष्य पुत्र जन्म, विवाह, दिवाली, संक्रांत, शिवरात्रि, अक्षय तृतीया, गणेश चतुर्थी, डोल एकादशी; दशहरा आदि पर्वों पर आमोद प्रमोद महोत्सव करते हैं ये सब सावद्य द्रव्य मंगलिक गिने जाते हैं, तो साधु या गृहस्थ कौनसे मंगलीक कार्य करते हुए कर्म क्षपा सक्ते हैं?

(१५) सिद्धांतों में कहा है कि सब कर्म क्षय कर सिद्ध स्थान पर पहुंचते हैं वे भाव घर हैं और द्रव्य घर वे है जिनमें संसारी लोग रहते हैं, तो इन दोनों में से साधु या गृहस्थ कौन से घर की इच्छा रक्खें कि वे कर्म बंधन से मुक्त हो जायं?

(१६) अपार संसार समुद्र को तिरजाते हैं वे भाव समुद्र तिर जाते हैं और लवण समुद्र तिरते हैं वे द्रव्य समुद्र तिरते हैं ऐसा कहते हैं, तो साधु या गृहस्थ कौन से समुद्र तिरने का उद्योग करे और कौन सी रीति ग्रहण करें जिस से उनकी मोक्ष हो जाय ?

(१७) तीर्थंकर तथा साधुओं पर चार निक्षेपा का विवेचन। १,नाम भगवंत २,स्थापना भगवंत ३ द्रव्य भगवंत ४ भाव भगवंत इसी तरह १, नाम साधु २, स्थापना साधु ३, द्रव्य साधु ४। भाव साधु इन दोनों की जोड़ ८ हुई, जिसमें साधु कितने और गृहस्थ कितने ? शुद्ध कितने और अशुद्ध कितने ? त्यागी कितने और भोगी कितने ? शुद्ध योग वाले कितने और अशुद्ध योग वाले कितने ? जीव कब कहलाते हैं और अजीव कब कहे जाते हैं ? नमोत्थुणं सम्बन्धी गुण वाले कितने और निर्गुणी कितने ? तथा इन आठों के शरीर, वर्ण, गंध, रस, और आकार वंदनीक हैं या उनके गुण वंद-नीक हैं ? तथा उनमें का कौनसा आकार वंदनीक है और कौन से गुण वंदनीय हैं ? नवकार गिनते समय किसको नमस्कार हुआ और किसे न हुआ ? साधु या श्रावक के वंदनीय कितने और अवंदनीय कितने ? स्नान, आभरण, धूप, दीप, लड्डू, लापसी आदि नैवेद्य तथा चांवल के साथिये फल, फूल, पत्र आदि चढ़ाना, वाद्य यंत्र बजाना, नाचना आदि द्रव्य पूजा सावद्य क्रिया द्वारा करना, उनके वास्ते महा आरंभ कर मंदिर बनाना, सोना चांदी आदि अर्पण करना. उपरोक्त बातों के त्यागी कितने और भोगी कितने ? संयति कितने और असंयति कितने ? संसारी भोगवाले कब कहे

जाते हैं ? ब्रह्मचारी कब कहे जाते हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर में तुम तुम्हारी मूर्त्तिपर दृष्टि न रखते जो वीतराग ने सत्य मार्ग बतायाहै उसी मुआफिक योग्य समझ रखते हो तो जवाबदो।

(१८) तुम चार निक्षेपा वंदनीक कहते हो तो पूछना पड़ता है कि तीर्थंकर, साधु या गणधर द्रव्य गुण और भाव गुण सहित हों तो वंदनीय पूजनीय हैं, परंतु वे ही तीर्थंकर आदि संसार व्यवहार में द्रव्य निक्षेपी होकर आरम्भ करते हों तो उस समय साधु या व्रतधारी श्रावक उन्हें वंदना नमस्कार कैसे कर सक्ते हैं ? कारण कि उनमें अभीतक त्यागावस्था के गुण प्रकट नहीं हुए हैं, इसलिये वे अवंदनीय हैं, तो द्रव्य एकेंद्रिय में ज्ञान, दर्शन आदि के गुण नहीं होते हुए उसे चार निक्षेपा से वंदना कैसे कर सक्ते हैं ?

(१९) वर्तमान काल के तीर्थंकर, गणधर, साधु, आरंभ, समारंभ से सर्वथा निवृत्त हैं, उसी तरह शरणागत श्रोताओं को आरंभ से दूर रहने का उपदेश देते हैं तथा आरंभ के भयानक कर्मों को बंधन रूप समझकर स्वयं आरंभ द्वारा की गई भक्ति को अमान्य करते हैं तो फिर एकेंद्रिय में उनके नाम की संकल्पना कर सब आश्रव का सेवन करना किस मूल शास्त्र में फर्माया है यह सुचाना चाहिये।

(२०) गुण वंदनीय हैं या आकार ? जो गुण वंदनीय हैं तो एकेन्द्रिय में तीर्थंकरों के कौन से गुण हैं ? और आकार वंदनीक है तो क्या वे जगत् शिरोमणि सद्गुणी पुरुष वंदनीक नहीं हैं ?

(२१) पाषाणादि के कल्पित देव बड़े हैं या गुण बड़े हैं ? जो देव की स्थूलता या वीतराग का त्याग समझकर फूल

चढ़ाते हो तो तुम्हारे सावद्याचार्य को भी त्यागी वैरागी कहते हो और उन्हें पुष्प क्यों नहीं चढ़ाते ? जो तुम अपने गुरु को पंच महाव्रतधारी समझ कर सचित का स्पर्श नहीं कराते हो तो क्या तुम्हारे देव को अव्रती गिनते हो ?

(२२) तुम प्रतिमा में कौन सी अवस्था निरूपण करते हो ? जो गृहस्थ अवस्था समझते हो तो पीले वस्त्र वालों को उन्हें वंदना नमस्कार नहीं करना चाहिये। कारण कि पीले वस्त्र वाले संवेगी होने का आडम्बर दिखाते हैं और प्रतिमा में संयमावस्था समझते हो तो उस में चारित्रादि का कुछ भी ढंग नही है ? और चारित्रावस्था में सब सचित, अचित, भोगादि अर्पण करते हो तो क्या वर्तमान के तीर्थंकर भी अपनी समाचारी के समय सावद्य कृत्य के भोगी थे ?

२३ साधु के दर्शनार्थ श्रावक आते हैं तो पास की सचित्तादि वस्तु बाहर रखकर फिर पद वंदन करते हैं, कारण, साधु सचित वस्तु के त्यागी हैं, तो क्या तीर्थंकर आदि ने सचित वस्तु का त्याग नहीं किया था जो तुम उन की भक्ति के वास्ते सचित वस्तुओं का आरंभ करते हो ?

२४ तुम तुम्हारे भक्तों से प्रतिमा का महा आरंभ कर पूजन कराते हो और पूजने वाले भी महा निर्जरा, मोक्ष खाता, तथा तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के लालच से पूजन करते हैं। तुम उन्हें महत् फल दिखाकर अंध कूप में धक्का देते हो तो हमें पीले वस्त्र वालों से पूछना है कि तुम्हें प्रतिमा पूजने से निर्जरा, मोक्ष और तीर्थंकर गोत्र की आशा है या नहीं ? पूजन करने से तीर्थंकर गोत्र बंधता है तथा भक्तों के सब कर्म क्षय हो जाते हैं, तो क्या तुम उन से भी भारी कर्मी हो ? तुम व्रती, नियमवाले न होकर भी व्रतधारी का नाम रखकर पुष्पादिक

अनेक जाति को सचित समझते या इन्हें अजीव कहते हो कि जिससे वे आरंभ करते बाज नहीं आते ?

२५ तुम प्रतिमा वंदन के अवसर पर किसे नमस्कार करते हो ? जो प्रतिमा को नमस्कार करते हो तो उस समय वीतराग वंदन नहीं होता और वीतराग को वंदना करते हो तो प्रतिमा वंदन नहीं होता। यदि यों कहो कि प्रतिमा यही वीतराग और वीतराग यही प्रतिमा है तो पचेन्द्रिय के सिवाय एकेंद्रिय अज्ञान में वीतराग दशा कैसे आसक्ती है ? और एक समय में दो कार्य कैसे हो सक्ते हैं ?

२६ तुम्हारे प्रतिमा मति धर्म के कितने ही दिगम्वर लोग प्रतिमा तथा गुरु की भक्ति के लिये सावद्य पूजा आदि नहीं करते तो क्या वे जान बूझ कर ऐसा करते हैं ? और तुम देव गुरु की भक्ति के लिये क्या समझकर महा आरंभ करते हो ? तुमने और उनने किस ग्रंथ के आधार से प्रतिमा मानी है ? क्या वे उनकी प्रतिमाओं में आंखें रखना भूल गये और तुम प्रतिमा में आंखें रखते हो, तो हम पूछते हैं कि वे चार इन्द्रिय मानते हैं और तुम पंचेंद्रिय मानते हो और प्रतिमा के लिये आरस पाषाण एक सा लेते हो तो इस में इतना हेर फेर क्यों करते हो ?

२७ सम्यक्त्वी का अर्थ क्या ?

२८ मोक्ष कार्य है या कारण या स्वतः सिद्ध है ? यह कारण सहित दिखाओ।

२९ मोक्ष मार्ग किसे कहते हैं ?

३० मोक्ष मार्ग की आराधना में हेय और उपादेय क्या है ?

३१ जैन धर्म का मूल सिद्धांत क्या है ?

३२ चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा करते हो तो उस शब्द

का अर्थ सब जगह ऐसा ही करते हो या और दूसरा भी ?

३३ चैत्य शब्द के मूल धातु क्या २ है और उन धातु के अर्थ क्या २ होते हैं

३४ जैन धर्म के उपदेशको ने जैसा उपदेश दिया है तुम वैसेही निर्वद्य उपदेश देते हो या नहीं ?

३५ मोक्ष मार्ग की करनी करते समय सावद्य त्यागने की आज्ञाहै, तो सावद्य किसे कहते हो ?

३६ जैन धर्म दयामय है तो कौन २ से जीवों की दया पालना और किन किन की नहीं पालना चाहिये ? स्थावर और जंगम प्राणियों को अभय दान देना हो तो किस तरह देना चाहिये और कितने गुण वाले अभय दान दे सके है ?

३७ तीर्थंकर के नाम से मूर्ति स्थापित कर पूजते हो तो लक्षण, अतिशय, सत्य वचन, वाणी इन्द्रादिक की सेवा तथा छः गुण तीर्थंकरो के सरीखे उस मूर्ति में हैं या नहीं ?

३८ सिद्ध निरंजन निराकार हैं उन की आकार सहित मूर्ति बनाते हो जिसमें निरंजन के आठ गुणो में से कौन से गुण पाये जाते हैं ? तीर्थंकर के नाम की प्रतिमा तथा सिद्ध के नाम की प्रतिमा इन दोनों के नाम का विभाग कैसे करते हो ? इन दोनों की पूजा विधि एक सी है या भिन्न २। पूजा करने से छः काया के जीव मरते हैं या नहीं ? यदि मरते है तो कितने ? नहीं मरते हैं तो रक्षा करने का कौन सा उपाय है ?

३९ तुम अपनी मान्य प्रतिमा को छः काया में से कौन सी काया में गिनते हो ?

४० इन प्रतिमाओं में कितने गुणः स्थान पाये जाते हैं ? कितने व्रत और दृष्टि कितनी हैं ? जोग, उपयोग, लेश्या, संज्ञा, कषाय, हेतु, विषय, ज्ञान, अज्ञान, शरीर, संघयण, सं-

ठाण, इंद्रिय समुद्घात, प्रजा, प्राण, योनि, कुलकोड़ी, वेद, आहार इत्यादि कितने बोल मिलते हैं ?

४१ चार जातिके देव के भुवन तथा विमान इत्यादि मध्यलोक में साश्वती जिन प्रतिमा हैं उन सब के चार ही नाम हैं, तो उन्हें सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनों पूजते हैं या सम्यक्त्वी ही ? यहां से कोई मिथ्यात्वी मर कर देवलोक में पैदा हो और वहां भी वह मिथ्यात्व धर्मी हुआ तो उस के विमान में हरि, हर, ब्रह्मा आदि देवों की प्रतिमा होगी या नहीं ? असुर देव के विमान में कब्र आदि भिन्न २ धर्म के देवस्थानों की देव पूजा करते हैं या शाश्वत चार नाम की पूजा करते है ? मिथ्यात्वियो के विमान में उन की श्रद्धा के देवस्थान हो तो बताओ ? तुम्हारे कथनानुसार मिथ्यात्वी देव साश्वती चार प्रतिमाओं को नहीं पूजते हैं कारण कि वे मृत्युलोक के अन्य दर्शनी तुम्हारी प्रतिमा को सारे जन्म में एक वक्त भी नहीं भेंटते तो इसी तरह मिथ्यात्वी देव भी स्वमिथ्यात्व धर्म में पक्के होने से चार प्रतिमाओं का पूजन कैसे करते होंगे ? यदि यों कहो कि सम्यक्त्वी देव पूजते है, मिथ्यात्वी नही पूजते, तो मिथ्यात्वी किस की पूजा करते हैं ? अगर ऐसा कहते हो कि दोनों पूजते है तो उन का व्यवहारिक कार्य ठहरा या नहीं ?

४२ तुम कहते हो कि असंख्याते समय की प्रतिमाएं आज तक हैं और भगवान् मूल सूत्रों में फरमाते हैं कि कृत्रिम पदार्थ संख्यातेकाल तक ही रहते हैं तो तुम असंख्याता समय कहां से लाये? अगर कहते हो कि देवता सहाय करते हैं तो हम पूछतेहैं कि पालीताने के पर्वत पर जिसे तुम मूल नायक ठहराते हो, वहा प्रतिमा पर बिजली गिरी और उस प्रतिमा का समूल

नाक ही उड़ा दिया। तो उस समय पालीताने के रक्षार्थ कोई देव नही थे? अजयपाल और अलाउद्दीन बादशाह ने सब मंदिर खुदवा डाले तथा प्रतिमाए खंडित करा डालीं तो प्रतिमाओं की सेवा में कोई देव नहीं होंगे? इस पर से विश्वास होता है कि तुम गप्पें मारते नहीं ऊबते!

४३ तुम मंदिर में प्रतिमा बिठाते समय कितने ही जन्म महोत्सव के और कितने ही व्याह संस्कार के कारण विधि पूर्वक करते हो तो उस समय कितने ही गृहस्थ प्रतिमा के माता पिता बनते हैं, तो हम पूछते हैं कि क्या उनके पेट से पंचेन्द्रिय जीव पुत्र या पुत्री नहीं हुए जिस से वे प्रतिमा पाषाण से अपनी इच्छा पूर्ण करते हैं? तुम उन प्रतिमाओं को कौन से समय की समझ कर स्थापित करते हो? उन के चार नाम न रखते २४ नाम देते हो सो किस आधार से ऐसा करते हो?

४४ तुम प्रतिमा को साक्षात् देव कहते हो तो हम पूछते हैं कि, उन प्रतिमाओं के कर्मोदय से कभी कोई उन्हें पृथ्वी में गाड़ दे और जब उस के निकलने का समय हो तो तुम कहते हो कि हमें स्वप्न में आकर प्रतिमाएं कहती हैं-मुझे निकालो रे निकालो" तो उन प्रतिमाओं में स्वप्न में आकर कहने की सामर्थ्य तो आगई, पर बाहर निकल कर स्वतः सामने आने की सामर्थ्य नहीं आई जो तुम खड्डा खोद कर बाहर निकालते हो। बताओ इस समय इन प्रतिमाओं की रक्षा करने वाले देव कहां चले गये? या उन देवों में उन्हें बाहर निकालने की शक्ति नहीं है? या उन प्रतिमाओं की भक्ति का लाभ वे देव नहीं लेना चाहते हैं और तुम्हे सेवा करने की आज्ञा दे देते हैं।

४५ हे पीले वस्त्र वालो ! तुम प्रतिमा पूजने के आरंभ से डरते हो और तुम्हारे उपदेश से पीले तिलक वाले तुम्हारे यजमान पूजन आरंभ में उत्साह दिखाते हैं तो क्या तुम्हें पूजा करने से महा पाप लगता है और तुम्हारे भक्तों को मोक्ष मिलता है? वे पूजन करते हैं उस में तुम्हें कितना पाप लगता है और तुम्हारा कितना समय भवाब्धि परिभ्रमण में बढ़ता है।

४६ कितने ही पीले तिलक वाले मृत्यु पाकर अवगति गामी होते हैं और उन के पीछे रहे हुए मनुष्य किसी घर के मनुष्य का घुणाकर कहलाते हैं कि मेरी प्रतिमा प्रतिष्ठित कर मंदिर में बैठाओ। तब उस के सम्बन्धी उनके कथनानुसार मंदिर में बिक्री जगह लेकर उन की प्रतिमा स्थापन कर देते हैं, तो तुम इस प्रतिमा की भी पूजा तुम्हारे देव की पूजा विधि के सदृश ही करते हो या दूसरी तरह ? उस प्रतिमा का नाम अवगतिया रखते हो या तीर्थंकर ? प्रतिमा बैठाने वाले के नाम से प्रतिमा का नाम रखते हो तो तुम उन्हें तीर्थ-कर क्यों समझते हो ? क्यों की त्रिखंडा, नव खंडा, नाकोडा अमीजरा, गोड़ीजी, हठीजी, गुलाब वागड़ियाजी, जावड़जी, भावड़जी, इत्यादि अनेक नाम की प्रतिमाएं बिठाई हैं, तो इस स्थान पर यह संदेह होता है कि जैसे अवगति वाले सुर धन हो कर घर में बैठने की जगह मांग लेते हैं वैसे ही तुम्हारे सुर धनों ने मंदिर में बैठने का स्थान मांग लिया होगा, तभी तुम प्रतिष्ठा कर मंदिर में बैठाते हो। ऐसा प्रत्येक समय सुनने और देखने में आता है, तो यहां हम पूछते हैं कि तुम लाखों रुपये खर्च कर मंदिर में मूर्ति बैठाते हो, तो यह तुम्हारी नाम-वरी के लिये करते हो या आत्म कल्याण के लिये करते हो

जैसे गृहस्थों के नाम की प्रतिमा बैठाते हो वैसे ही पीले पूज्यों के नाम की प्रतिमा स्थापित करते हो या नहीं ?

४७ वीतराग भाषित मूल सिद्धांतों में कहा है कि पहिले या अंतिम तीर्थंकरों के शासन में साधु, साध्वी सफेद वस्त्र पहिनते है और बाकी के २२ तीर्थंकरों के शासन के साधु साध्वी पंच रंग के वस्त्र पहिनते हैं, परंतु वर्तमान में संवेगी आंवले के फूल सरीखे पीले वस्त्र पहिनते है तो उन से पूछते हैं कि आप किन के शासन में चल रहे हैं। "आचरंगजी,' और "निशोथ सूत्र" में भगवंत ने फरमाया है कि "नो रंगेज्जा, नो धोएज्जा, नो पासेज्जा,, अर्थात् रंगने, धोने या किसी भी द्रव्य से साफ करने की सख्त मनाई की है। अचित और प्रासुक जल में एक समय या दो समय भी नहीं डुबाना, ऐसा कहा है तो रंगने की आज्ञा रही ही कहां! ऐसा होते हुए भी पीताम्बर धारी कोई आचार्य के रचे हुए ग्रंथाधार से अपने वस्त्र लोदर कत्था और दाड़िम के छिलके पानी में डाल कर रंगते हैं, पर हम पूछते हैं कि ग्रंथ का आधार न रखते सूत्र मे क्या कहा है ! वह पूर्व पश्चिम और मध्यम इन तीनों पाठ की संधि मिलाकर शास्त्रानुसार तो दिखाओ।

४८ वीतराग भाषित मूल सिद्धांतो में सब साधु, साध्वियों को सिर का लोच करने की आज्ञा दी है। यदि सिर का लोच नहीं किया जायतो साधु की समाचारी से अलग करने की रीति सिद्धांतों में स्पष्ट लिखी है। तौभी पीले वस्त्र रखनेवालों में कितने ही लोच करते हैं और कितने ही नाई से मुंडन कराते हैं या कतराते हैं, ऐसा व्यवहार साधुओं को किस मूल सूत्र से करने की आज्ञा है सो

बताओ। तुम कहते हो कि जहां साधुओं को लोच करने का अधिकार है वहां " लोएवा, मुंडेवा, कत्तेवा," अर्थात् स्थिर संघयण वाले ने लोच करना और बाकी के साधुओं ने मुंडवा लेना या कतरवा लेना, परंतु शास्त्रोक्त रीति से तुम्हारा बोलना मिथ्या है, कारण कि, उपरोक्त पाठ तो श्रावक के लिये है। जब श्रावक उत्कृष्ट प्रड़िमा लेते हैं तब उपरोक्त पाट की रीति करते हैं, परंतु साधुओं को तो लोच करने की ही आज्ञा है। अगर तुम श्रावक का पाठ भी लेते हो तो हम पूछते है कि तुम्हारे में १२ व्रतों में से कितने व्रत हैं और तुमने श्रावक की कितनी प्रड़िमाएं अंगीकार की है? फिर तुम कहते हो कि वृद्ध, रोगी और बाल साधु के लिये यह आगार है, तो हम पूछते है कि बड़े २ हाथी निकल जायं ऐसे आगार तो तुम्हारे सब व्रतों में हैं कारण कि, तुम्हारे पूर्वाचार्य कृत ग्रंथों में कहा है-स्वधर्म की स्थिति बढ़ाने के लिये १ जीव हिंसा, २ झूंठ बोलना, ३ अदत्त दान देना, ४ अब्रह्मचर्य, ५ परिग्रह रखना, ६ रात्रि भोजन करना, इन कितनी ही बातों के आगार हैं। हम पूछते हैं कि साधुओं के लिये ऐसी सागारी क्रिया कौन से शास्त्र में है? साधुपने के मूल व्रतों में अगर किसी कारण वश कोई आगार होतो फिर तुम्हारे में और तुम्हारे सेवकों में अंतर ही क्या रहा? दोनों का आगार धर्म हो गया। तो फिर हम पूछते है कि तुम्हारे धर्म के अणगार साधु कहा चले गये?

४९ सिद्धांतो में साधुओं को भगवान् ने पानी बरसता होतो उस समय आहारादि भोगोपभोग की वस्तु लाने की मनाई की है। अगर पानी गिरने के पहिले गौचरी गये और फिर बरसात हुई, तो साधु गृहस्थ के घर न ठहरते स्वस्थान

पर आजायं। लघुनीत, वड़ीनीत के कारण से वरसात में भी संयति जाते हैं और लगे हुए प्रायश्चित का दंड लेने की इच्छा रखते हैं। यह तो न्याय मार्ग है परंतु तुम क्षुधा, तृषा आदि के परिषहों से चलायमान हो परिणाम विगाड़ वरसते पानी में आहारादिक लेने जाते होतो उस समय गृहस्थ सिर पर छाता रखते हैं। जब सम्वत् १६४१ के भाद्रपद माह में तीन दिन की झड़ी लगी उस समय भावनगर में वृद्धिचन्द के शिष्य जाते हुए दृष्टि गत हुए थे। वैसा ही सव जगह होना ही होगा, पर उस समय सिद्धांतधारी जैन मुनियो के तीन तीन उपवास हुए। कारण कि, सिद्धांत में कहा है-"मास क्षमण के पारणे तनिक भी दृष्टि से वरसात के छींटे मालूम हो तो साधु आहारादि लेने को न जायं"? इस सत्य रीति को त्याग तुम इस से विरुद्ध जाते हो सो किस सूत्र के आधार से!

५० सिद्धांतों मे कहा है कि प्रति दिन एक ही घर से आहार नहीं लेना। इसी तरह साधुकी नेश्राय कल्पनाकर कोई गृहस्थ आहार पानी निपजावे तो वे सब वस्तुएं साधु को लेना नहीं कलपती हैं। पर वर्तमान में पीले वस्त्र पहिननेवालों के लिये कितने ही चतुर भक्त उनके गुरुके सम्मानार्थ आहारादि निपजाते हैं और प्रति दिन माल बनाकर वेहराते हैं और कभी भूल से कच्चा सीरा वहरा दिया होतो वापस लेने भी जाना पड़ता है। दुध वेहराते समय विशेष गिरजाय तो कोई भाविक भृत्य पी जाता है। इसी तरह भावनगर में महाधर्मिक सेवकों के घर यही रीति प्रचलित है कि वे दो हंडे पानी गर्म कर वेहराते हैं और अंत में अकल्पनीय मुखवास भी वहेराते हैं और वे लेते हैं तो हम पूछते हैं कि उपरोक्त लेने वाले सिद्धांतानुसार कितना लाभ लेते हैं?

५१ उत्तराध्ययन के सोलहवें अध्याय में नव वाड़ सहित ब्रह्मचर्य पालना लिखा है, जिस में नव वाड़ में शरीर की शुश्रूषा, शोभा, शृंगार, इत्र, तेल, फुलेल आदि सुगंधी द्रव्य से वस्त्र तथा शरीर को ब्रह्मचारी पुरुष नहीं सजावे, ऐसा कहा है। पर इसके विरुद्ध ग्रंथ मानने वाले आत्मारामजी आदि ४१ के साल में लींवड़ी गये तव उनके सेवकों ने वड़ी धूमधाम से सजावट की और शहर में ले जाते समय मध्य वाजार में इत्र की शीशियां उनके सिर पर डालीं, तो क्या उस सुगंध से उन की आत्मा वहुत संतुष्ट हुई होगी! और यह कार्य जैन मुनियों की रीति से अनुकुल है या प्रतिकूल!

५२ सिद्धांतों में वीतराग ने फ़रमाया है कि साधुओं को पांच प्रकार की स्वाध्याय करना चाहिये जिस में पांचवीं स्वध्याय का नाम धर्म कथा है, उस के ४ भेद है, वे श्रोताजनों को सुनाते सुलभ वोधी जीव वैराग्य पा गुरु के पास संयम लेने की इच्छा वतलावें; परंतु उनके हकदारों की आज्ञा विना वे चारित्र न दें यह न्याय मार्ग है। परंतु इस के प्रतिकूल वर्त्तमान समय में ग्रंथ प्ररू- पक आत्मारामजी इत्यादि कई वेष धारी गृहस्थों के बेटा- बेटियों को उनके वारिसों की रज़ा सिवाय देशावर में भेज देते हैं, और वेष पहिना देते हैं। फिर उन वेष पहिनने वालों के हकदार वहां जाकर टंटा फिसाद करते हैं और न्याय कोर्ट से वेष उतरवा कर घर ले जाते हैं तो यह जैन शास्त्र देखते विरुद्ध रीति है या नहीं?

५३ सिद्धांतों में जैन मुनियों के लिये भगवान् ने फर्माया है कि हे मुनीश्वर! प्रदेश से विहार करते या प्रदेश से आते गृहस्थ स्वेच्छा से वाजे आदि आरंभ करके धूमधाम से तुम्हें

सामने लेने को आवें या पहुचाने आवे तो उस मंडल के आत्मार्थी साधु उसके साथ न चले और चलें तो धर्म से विरुद्ध समझना चाहिये, पर वर्तमान समय में आत्मारामजी आदि गुरु भक्ति के लिये सामने लेने आने के महान लाभ दिखाकर अनेक आरंभ से गृहस्थों के सिर साल या चँदोवा रखकर चलते हैं तथा उस रास्ते पर जल के छींटे डालते हैं, ध्वजा आदि की शोभा करते हैं और स्त्री के संघट्ट से भी नहीं डरते, शंका रहित चलते हैं। इसी तरह मुँह के आगे आरस डंडी की रम्मत देखने में संतोष मानते हैं, तो हम पूछते हैं कि असल जैन धर्म मे वर्तमान की तरह अँधेरा भी चलता है या नहीं?

५४ सिद्धांतों में भगवान् ने जैन मुनियों को फर्माया है कि हे मुनीश्वर! तुम्हारे धर्मोपकरण आहार आदि गृहस्थ को मत उठाने देना तथा किसी वाहन पर भी मत रखना। पर इस के विरुद्ध प्रदेश आते जाते आदमी करके उस पर भार लाद देते हैं और नहीं तो गाड़ी, घोड़ा आदि पर सब सामान लद वाते हैं, मौका आजाय तो उस पर चढ़ बैठते हैं तो यह जैन धर्म के मुनियों की रीति है या नहीं? भिक्षा लेने जाते समय गृहस्थ को पानी का घड़ा उठवा देते हो तो क्या यह साधु धर्म की रीति है?

५५ सिद्धांतों में भगवान् ने जैन मुनियों को फर्माया है कि हे मुनीश्वर! गृहस्थ के घर गौचरी जाओ तो मौन व्रत लेकर जाना क्योंकि तुम सूझते आहारादि लेने के कामी हो, कदाचित् बोलते हुए जाओगे तो तुम्हारी आमद (आना) समझ कोई अविवेकी गृहस्थ सचितादि वस्तुओं का स्पर्शकर अयतना करेंगे तो दोष लगेगा, पर वर्तमान में आतमारामजी आदिके

शिष्य बुलाने आये हुए भृत्यों के साथ बाजार में खींच तान करते प्रथम सुमति को तिलांजली दे मन चाहते सेवक के घर जाते हैं उस समय दो चार सेवक आगे पहुंच कर बहेराने वाले को कह कर दाने, लीलोती, कच्चा पानी आदि आगा पीछा कराते हैं। ये और ऐसीही कितनी बातें देखने में आती हैं, तो ये कार्य साधु धर्म के प्रतिकूल हैं या नहीं ?

५६ स्थानांग सूत्र में शस्त्र को एक धारी खड्ग कहा है और दिये को दस धारी खड्ग कहा है, इसी लिये जैन मुनि आरंभ में अपना मन, वचन, काया नहीं लगाते पर वर्त्त मान में वृद्धिचंदजी आदि अपने मकान में रात को फानूस में दिये जलाते है और कहते है कि प्रतिक्रमण के समय नहीं चाहिये पर पीछे कुछ हरकत नहीं। उस फानूस में दिया लगवाये पीछे खानगी सभा करके देशावर के प्रपंची पत्र पढ़ते लिखते या पालीताने के पर्वत पर के मंदिर की रक्षा के लिये सलाह करते हैं और गुरु पन के नाम के साथ खानगी वकालत करते हैं। ये कृत्य साधु धर्म से विरुद्ध हैं या नहीं ?

५७ भगवतीजी में तुंगिया नगरी के श्रावकों को 'महिड्ढीए अपरिभुया' कहा है और उन्हें उन के गृहस्थ धर्मानुसार दान देने वाले भी कहे हैं तथा अभंग द्वार अर्थात् उन के घर से अन्न वस्त्रादि के अर्थी निराश हो पीछे नहीं फिरते, ऐसे दातार कहे हैं। उन गृहस्थों के ऐसे व्यवहार को भी अनुकम्पा दान कहा है और निर्जरा तथा मोक्ष के लिये तो निर्ग्रंथ मुनियों को दान देना ही फर्माया है। यही धर्म व्यवहार है और यही गुरु उपदेश है। गृहस्थ व्यवहार तो उन की स्वेच्छा मे है। वह निर्बाधक है, पर वर्त्तमान समय में पीले तिलक वाले सेवकों को पीले वस्त्र धारी महात्मा प्रत्याख्यान अर्थात् सौगं-

ध कराते हैं कि पीले वस्त्र वालों के सिवाय दूसरे किसी को भात, पानी, वस्त्र, पात्र कुछ भी मत दो अगर दोगे तो संसार में रुलोगे। इत्यादि बहुत अविवेक पूर्ण उपदेश सुन कर कितने ही भोले प्राणी सौगंध ले लेते हैं। पर हम पूछते हैं कि ऐसा नियम कराने की रीति कौन से शास्त्र में है? कहना पड़ता है कि श्रावक के १२ व्रत और संथारे के पाठ सहित ६६ अति चार हैं व सब समझने योग्य हैं जिस मे पहिले व्रत के ५ अतिचार समझे उन्हें "वंधे, वहे, छविच्छये, अइभोर, भतपाणवोच्छेए, कहते हैं।

अर्थः-किसी त्रस जीव को वंधन में वांधा हो, किसी त्रस जीव का वध किया हो, किसी त्रस जीव के अवयव छेदे हों, किसी त्रस जीव पर भार धरे हों तथा किसी जीव को अन्न पानी भोगते अंतराय दी हो। ये पांच अतिचार किसी कारण वश मुझ से जान-अजान में हो गये हों, तो निष्फल होता होओ। यों गृहस्थ सब जीवों पर दया भाव रखते हैं और किसी प्राणी की आजीविका का भंग नहीं करते और सुपात्र तथा कुपात्र का भेद बराबर पालते हैं, पर तुम महात्मा धर्माधिकारी का नाम रखकर तुम्हारा ही पिंड पोषण और पर प्राण शोषण का धंधा ले बैठे हो ऐसा मालूम होता है। पर हम पूछते हैं कि आठवें कर्म वंधन के ५ कारण हैं वे दानांतराय, लाभांतराय भोगांतराय, उपभोगांतराय, और वीर्यान्तराय हैं, इन पांच शब्दों के अर्थ तुम जानते हो तो शास्त्रोक्त रीति से बताओ।

५८ सिद्धांतों मे कहा है कि पांचवीं सुमति में उच्चार पासवण खेल, जल, संघाण आदि पुद्गल वोसिराते वक्त साधु उक्त सुमति में उपयोग लगावे और यतना से पठावे। परंतु वर्तमान में कितने ही पीले वस्त्र वाले महात्मा शेनखाना बना

कर लघुनीत और वड़ीनीत की अवाधा टालने उस में जाते है,तो हम पूछते हैं कि तुम शास्त्रोक्त रीति से समूर्छिम प्राणी की उत्पत्ति के स्थान जानते हो तो दिखाओ। देखो, कितने ही श्रावक पाखाने की गंदगी से घवड़ा कर वाहर खुले मैदान में शौच (टट्टी) वगैर. जाते हैं, और साधु भी पाखाने में समूर्छिम की उत्पत्ति समझ कर दूर जंगल मे जाते है.तो जैन धर्म के साधुओं के लिये पाखाना बनाना उचित है या अनुचित?

५६ सिद्धांतों में यह पाठ है कि जहां तीर्थंकर विराजते हों वहां इंद्रादि देवता अपनी इच्छा से समवसरण रचते हैं इस में भगवंत के उपदेश या आदेश की कुछ आवश्यक्ता नहीं है परंतु वर्तमान समय में पीले वस्त्र वाले महात्मा एकेन्द्रिय प्रतिमाओं के समवसरण रचकर महा आरंभका उपदेश दे वर-घोड़ा निकालते हैं और मध्य में आप चलते हैं या अपना मकान छोड़कर वर घोड़ा देखने के लिये व्यापारी की दूकान पर कीनखाव की गादी विछाकर वृद्धिचंदजी की तरह सव मनुष्य वैठते होंगे! तो क्या ऐसा वर्ताव करने वाले जैन धर्म के आराधक साधु कहलाते है!

६० सिद्धांतोपदेश में साधु धर्म की आदि में पांच महाव्रत वतलाये हैं उन की रक्षार्थ भगवंत ने वहुत उपदेश फरमाया है वह सत्य है, परंतु हम पूछते हैं कि उन महाव्रतों के भांगे कितने हैं? और वे महा व्रत कितने उच्च दर्जे तक ग्रहण कर सक्ते हैं? तुम सावद्य धर्म का उपदेश करते हो तो पांच महा व्रत में के कौन से भांगे के अधार से ऐसा करते हो? जो सर्वथा प्रकार से महाव्रत लेकर उन्हें किसी अंश में भी विराध दें तो उन्हें साधु कहोगे या गृहस्थ? इन सव प्रश्नों के उत्तर सत्य सूत्र के आधार से दिखाओ?

६१ सम्यक्त्वी गृहस्थ गुरु मुख से धर्मोपदेश सुनकर यथा शक्ति वैराग या अपने घर में बारह पर्व के दिन हरी आदि छः काया के आरंभ तथा कुशील सेवने के त्याग लेते हैं तो यह लाभ का ही कारण है और कितने ही हर महीने के १२ दिन भी आश्रव त्यागने में नहीं चूकते, और जब पर्यूषण पर्व आता है तब नाना प्रकार के आरंभ समारंभ करने की मर्यादा कर धर्म, ध्यान, संवर, सामायिक, पौषध प्रतिक्रमण आदि संवर करनी करते नहीं चूकते। धर्माचार्यों को भी उनके अनाश्रव की करनी की पुष्टि करने के लिये निर्वद्य भाषा में वैराग्य दशा प्राप्त हो ऐसा उपदेश करना चाहिये. परंतु वे गृहस्थी को निराश्रवी धर्म ध्यान के समय में वैराग्य वृद्धि का उपदेश न देते मंदिर में बैठी हुई प्रतिमा के लिये धूप, दीप, फूल, वनस्पति, नैवेद्य आदि छः काया के आरंभ सहित पूजा करने का उपदेश देते हैं। हम पूछते हैं कि गृहस्थ, घरू कार्य त्यागकर धर्म स्थान पर आये तो उन्हें प्रतिमा पूजन का लाभ बताने लगे तो घरके आरंभ का निवारण धर्म स्थान में धर्म ध्यान करते हुए होता है; पर धर्म स्थान में किये हुए आरंभ का निवारण किस स्थान पर हो सक्ता है ?

६२ सिद्धांतों में तीर्थंकरादि सब साधु साध्वियों ने भव्य प्राणी के लिये निर्वद्य भाषा में सागार अणगार धर्म के व्रत का उपदेश किया और यथा शक्ति भव्य जीवों ने सागार अणगार के व्रत लिये। उन्हीं व्रतों को निरतिचार पन से पालने का उपदेश देना तो न्याय मार्ग है परंतु ग्रंथकारों ने निर्युक्ति में गृहस्थों को पूजा के आरंभ का आदेश दे कितना अन्याय किया है ? इस लिये सिद्धात के अनुसार उचित रीतिसे यह बतना चाहिये।

६३ समवायांग सूत्र के ३३ वें समवायांग में धर्माचार्यों की ३३ अशातना टालने की आज्ञा फरमाई है और ग्रंथकर्त्ता प्रतिमा की ८४ अशातना कहते हैं तो ये सिद्धांत के मूल पाठ के सहित लिखनी चाहिये।

६४ दशाश्रुत स्कंध सूत्र में श्रावक की ११ प्रतिमा का अधिकार है जिस में पहिली दर्शन प्रतिमा आदरते समय श्रावक यह इच्छा करता है कि मैं उत्कृष्ट श्रावक के सब धर्म को अत्यंत रुचि के साथ श्रद्धा सहित आराधता हूं प्रतित रखता हूं और १२ व्रत आ· दरते समय छः प्रकार के आगार रक्खे थे, उन आगारों से भी निवृत होता हूं। ऐसी कई मर्यादा ले पहिली प्रतिमा अंगीकार करते हैं। ग्यारहवी प्रतिमा तक कई प्रकार की मर्यादा लेते चले जाते हैं। ग्यारहवी प्रतिमा लेने वाले को साधु तो नहीं कहते; पर साधु की तरह ही तपस्या के पारणे असनादि लेने वाले कहे हैं। यह तो श्रावक धर्म की रीति है। पर वर्त्तमान समय में शरीर धर्म के मोहित प्राणी निराश्रवी श्रावक की करनी से कम्पित हो उत्तम करनी न करते पौषध व्रत के नाम ले तीनों समय पाषाण प्रतिमा की वंदन पूजन करते हैं, तो हम पूछते हैं कि यह कार्य सम्यक्त्वी श्रावकों की करनी से भिन्न है या नहीं!

६५ प्रतिमा, मंदिर, दंड, ध्वजा प्रतिष्ठित करने की विधि कौन से शास्त्र में लिखी है? वह प्रतिष्ठा गृहस्थों से कराते हो या तुम महात्मा स्वयं करते हो! आंचल गच्छ वाले तुम्हारे धर्मी कहते हैं कि गृहस्थ प्रतिष्ठा करते हैं और तुम कहते हो कि साधु प्रतिष्ठा करते हैं, तो तुम दोनों के आपस की लड़ाई का समाधान वीतराग के मूल शास्त्रों के आधार से कर दिखाओ।

६६ दिगम्बर मत वाले कहते हैं कि नग्न प्रतिमा पूजना चाहिये और तुम कहते हो कि नग्न नहीं पूजना चाहिये. तो तुम दोनो का प्रतिमा मत होते हुए भी व्यर्थ विवाद कर भेद बढ़ाते हो इस का क्या कारण है?

६७ सिद्धांतों में कहा है कि तीर्थंकर आदि चरम शरीरी साधु अंत क्रिया के समय कितने ही पद्मासन से मुक्त हुए और कितने ही खड़े सिद्ध हुए परंतु तुम प्रतिमा की स्थापना बैठे, सोये और खड़े की करते हो या सिर्फ बैठी की ही ? सिद्धांत मे हो सो स्पष्ट बताओ।

६८ प्रतिमा पर यक्ष की प्रतिमा करते हो। उस यक्ष प्रतिमा को स्नान कराते समय उस का मैला पानी नीचे की प्रतिमा पर पड़ता है । हम पूछते हैं कि तुम को और यक्ष को अशातना लगी या नहीं और लगी हो तो ८४ में से कौन सी अशातना लगी? तुम्हारी मान्यता मूजिब उन्हें क्या फल मिलेगा?

६९ प्रतिष्ठा विधि करते समय पीले वस्त्र वाले महात्मा को तथा तुम्हारे सेवक, सेवकिन और प्रतिमा को कौन सा चंद्रमा या कौनसा लग्न हो तो प्रतिष्ठा करते हो? प्रतिष्ठा करते समय १०८ कुओं का पानी या बहुत जगह का पानी, सफेद चंदन प्रतिमा के मस्तिष्क पर कुसुम का रंगीन वस्त्र, गले में अरीठे का कंठला, हाथ में मिंडोल और मुर्दासींगी, ग्रीवा मे सूत का डोरा बांधते हो और प्रतिमा की आंख में अंजन आंजते हो तो हम पूछते है कि यह सब बाल लीला करते हो, जिसका हमें आश्चर्य है। इससे तुम्हारी वृद्धावस्था की क्या रक्षा होगी जो तुम इतनी बाल क्रीडा रचते हो। उसमें बिठाने का अर्थ तो बैठना

होता है परंतु भराने का अर्थ क्या है? यह सब वृतान्त वीत राग के वचनानुसार बताओ। फिर हम पूछते है कि १०८ कुओं के पानी में दूसरे अनेक द्रव्य मिलाते हो तो वे साधु के २७ गुण में से कौन से गुण में हैं?

७० चौवीस प्रतिमा में एक मूल नायक स्थापित कर उन्हें आभरण अलंकार सहित सुघड़ केशर, चंदन आदि अत्यंत भोगोपभोग की वस्तुएं चढाकर उचित स्थान पर विठाते हो और वाकी की २३ प्रतिमाओं को छोटी समझ थोड़े से भोगोपभोग में समझा सेवक की तरह नीचे आसन पर विठाते हो, तो हम पूछते हैं कि तीर्थंकरों के नाम से जो तुम ऐसा करते हो तो उनके मोक्ष प्राप्त होने, तीर्थंकर पद पाने और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, गुण में तो कुछ न्यूनाधिकता (कमी वेशी) नहीं थी, इसलिये तुम्हारा ऐसा करना व्यर्थ है। चाकर और ठाकुर की रस्म तो चार जाति के देवताओं में प्रचलित है तो यह प्रपंच किस कर्म के आधार से तुम करते हो?

७१ तुम प्रतिमा के नीचे नवग्रह की प्रतिमा रखते हो। हम पूछते है कि क्या देव सदृश बैठो हुई प्रतिमा के व्याह में कुछ विघ्न होने का डर है? तुम लोकोत्तर मिथ्यात्व से संतोष न पाकर लौकिक मिथ्यात्व से प्रसन्न होते हो तो वीत राग भाषित शास्त्र में क्या लिखा है? देखो।

७२ तुम प्रतिमा के आगे पान, फल, फूल, वल, बाकला पकवान, धान्य, नैवेद्य तथा सोना, चांदी, वस्त्र आदि अनेक वस्तु रखते हो और कहते हो कि देव को चढ़ाई हुई वस्तु संवेगी आदि गृहस्थ खायं तो वे नर्क आदि संसार में

परिभ्रमण करते हैं। उपरोक्त प्रतिमा पर चढ़ाया हुआ चांवल का एक दाना भी कोई प्राणी खाले तो वह सीधा नर्क चला जाता है। इस डर से तुम तो कुछ लेते भी नहीं हो पर इन में से कितनी ही खाने पीने की चीज सेवक या माली को देते हो, तो हम पूछते हैं कि क्या वेचारे माली और पंडो को तुम ने अपनी तरफ से कुटुम्ब सहित नर्क में भेजने का विचार कर लिया है? देव के अर्पित किया हुआ रोक (नकद) रुपया भंडार में डालते हो तथा वस्त्र, धान्य आदि वेच कर रुपये भंडार मे रखते हो तो वे मोल लेने वाले भी संसार में रुलेंगे क्या? देव के रुपये से प्रतिमा वनवाते हो और सिलावट, मजदूर, चूने वाले, सुनार आदि की मजदूरी भी उसी रुपये से चुकाते हो, तो क्या उन वेचारों का भी तुम भला नहीं चाहते हो? हजारों मनुष्यों के रुपयों से भंडार भर गये हैं और वे रुपये खा खाकर अहमदावाद, वम्बई, भावनगर, पाली ताना आदि के कई गृहस्थ वड़े वड़े व्यापारी हो गये हैं उन्हें तो न मालूम तुम्हारे हिसाव से कितने समय तक नर्क आदि मे रुलना पड़ेगा। तुमने तुम्हारे स्वधर्मियों का भी भला नहीं चाहा? सारांश, तुमने तो रुपये इकट्ठे किये और उनने खाने का विचार कर लिया और वे तुम्हारे कथनानुसार सव धर्म हारकर नर्कादि में जाने को उद्यत हो गये। इसलिये कहना यही है कि मंदिर मे वैठी हुई प्रतिमा सव को नर्क पहुंचाती है अथवा संसार परिभ्रमण कराती है। यहां हम पूर्व सम्बन्धी हमारे अज्ञान मित्रों को सुहित शिक्षा देना चाहते हैं कि सिद्धांत पर आधार रख उपयोग लगा प्रतिमा मंडन न की गई होती तो रुपये भी नहीं खा सके थे और दुर्गति में जाने का कुछ कारण भी नहीं रहता था, हम उनसे पूछते हैं कि

ये संसार वढ़ाने के कारण तुमने कौन से मूल सूत्र के आधार से स्थापित किये हैं ?

७३ तुमने ७८ सनातन विधि तथा आरती मंगल व पहरावनी की विधि तथा पानी की विधि व सचित नमक अग्नि में होमकर मंदिर में हवन करने की विधि (जैसा कि अभी महोव में संवेगी ने किया था) वताई हैं। ये सव महा आरंभ के कार्य जैनियों में ऐव रूप हैं, तो तुम ये कार्य किस के उपदेश से या किस सत्य सिद्धांत के आधार से करते हो?

७४ सिझम भव सूरी ने देव उपासना से यज्ञ कुंड में से स्तंभन पार्श्वनाथ की मूर्ति निकाली। उज्जैन नगरी में शंकर के मंदिर से शिवलिंग में से सिद्धसेन दिवाकर ने महाकाल के प्रसाद से प्वंती पारसनाथ की मूर्ति निकाली और उनके महात्म्य वढ़ाने के लिये तुमने वड़े २ ग्रंथ रचकर आरंभोपदेश दिया और कलिकाल के वर्ताव को सिद्ध किया, परंतु इन में से सिद्धांत में प्रतिमा की महिमा की कुछ वानगी भी नहीं मिलती, इस का क्या कारण है ? जव तुम्हें कोई पूछनेवाला मिलता है तो तुम वहुत झगड़ा करने को उद्यत होते हो। इसी तरह फांफे मारते कुछ भी नहीं सूझता है तो तुम शास्वती और द्रौपदी के प्रतिमा पूजने के अधिकार पर टूट पड़ते हो पर कृतिम प्रतिमा की महिमा सिद्धांतानुसार दिखानी चाहिये।

७५ साड़े पांच वर्ष तक शुक्ला पंचमी के उपवास कराकर ज्ञान पंचमी स्थापित करते हो और उसकी समाप्ति पर महोत्सव कराते हो जिस में ५ सोने के, ५ चांदी के टके, धन, धान्य, पकवान सहित द्रव्य पुस्तकों के आगे रखते हो, तो
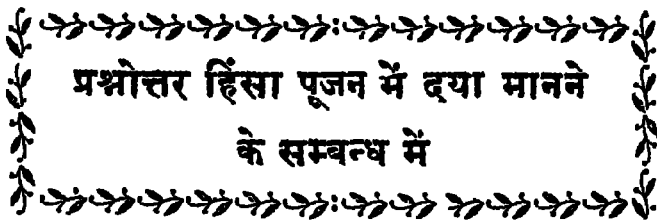
हम पूछते हैं कि उपरोक्त पांचम की विधि कौन से सिद्धांत में है और यह भी सुनने में आया है कि उपरोक्त पांचम की विधि तुम्हारे स्वधर्मी आंचल गच्छ वाले नहीं मानते इस का क्या कारण है ?

पुतली देखकर राग और प्रतिमा देखकर वैराग्य उत्पन्न होने के सम्बन्ध में प्रश्नोतर

कितने ही मति भ्रम लोग कहते हैं कि जो हमने प्रतिमा स्थापित की है यह हमारे वैराग्य का ही कारण है, दृष्टान्त-ज्यों चित्रकार के हाथ से चित्रित स्त्री को देखकर मन में विषयादि राग उत्पन्न होता है इसी तरह प्रतिमा देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसा कहने वाले की श्रद्धा कलंकित मालूम होती है। कारण कि चित्रकार की चित्रित पुतली में तो विषय उत्पन्न होने के अवयव प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते हैं इस लिये विषय प्रकट होता है। दृष्टांत-जैसे किसी पुरुष को निद्रा आगई हो तो वह उस समय स्वप्नांतर में किसी स्त्री से भोग कर लेता है और उस का वीर्य भी नष्ट हो जाता है तथा उसके खंडित होने से कर्म लगने का भी संभव है, कारण कि अनादि काल से मिथ्यात्वोदय के कारण बारह जाति के अव्रत से कर्म बंधन की क्रिया हमेशा लगती ही रहती है इसलिये चित्र की पुतली देखकर विषयादि कर्मों

का वंधन हो इस में क्या आश्चर्य ? प्रश्न व्याकरण सूत्र में तथा दशवैकालिक सूत्र में भगवंत ने साधु-साध्वियों को ऐसी उपरोक्त पुतलियां आदि कितनी ही बातें देखने की मनाई कर दी हैं; परतु तुम प्रतिमा देखने से वैराग्य उत्पन्न होने की कल्पना करते हो यह असंभव बात है । दृष्टांत-जैसे किसी अनार्य पुरुष पर द्वेष करके लकड़ी आदि से प्रहार किया तो अवश्य कर्म बंधन होता है पर उस अनार्य पुरुष को साधु सदृश समझकर वंदना करते हैं, पूजते हैं, आहार देते हैं तो साधुओं के गुण की तरह निर्जरा नहीं होती है । कोई सम्यक्त्वी गृहस्थ अपने आयुष्य के अंत में घर द्वार-धन, धान्य, स्थावर, जंगम, मिलकियत, बटा-बेटी स्त्री आदि जिस पर आप का अधिकार है नहीं वोसिरांय और मर जावे तो उसके पीछे उस के बेटा बेटी जो कुछ आरंभ करते हैं उस की क्रिया उस मरने वाले मनुष्य को लगती है परंतु पश्चात् बेटा बेटी आदि जो धर्म ध्यान करते है उस में से कुछ भी हिस्सा उस मरने वाले के पल्ले नहीं पड़ता, जैसे किसी गाडर की ऊन का बनाया हुआ कोई भी पदार्थ आश्रव के कार्य में लगता है तो वह पाप रूपी क्रिया उस गाडर को भी लगती है पर उसी ऊन के ओघा, केश, कम्बल साधु तथा श्रावक के उपकरण होकर यतना के काम में आते हैं पर इस यतना का लाभ गाडर को नहीं मिलता, कोई मनुष्य तिर्यंच आदि के चित्र चित्रित कर उन्हें द्वेष बुद्धि से मारता है तो अवश्य पाप लगता है परंतु उन चित्रो को जिमाने की बुद्धि से भोजन पान आदि मुंह आगे रख देता है तो दान का लाभ निर्जरा हेतु कभी नही मिलता । उपरोक्त ४ दृष्टांतों से प्रतिमा देखते वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, यह शास्त्रोक्त रीति से सच समझना

परंतु किसी भव्य जीव को ऐसे कारण से वैराग्य प्राप्त हो तो उस का नाम प्रत्येक बुद्ध कहलाता है। वह किसी भी पदार्थ को देख महा वैरागी हो भरतेश्वर की तरह सब आरंभ त्याग संयमानुष्ठान से मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है ऐसा सिद्धांत में कहा है और भी प्रत्येक बुद्ध होने के अनेक कारण हैं। वे कारण दृष्टिगत होते ही प्रत्येक बुद्ध पुरुष सब आरंभ से निवृत्त हो जाता है पर तुमतो प्रतिमा देखकर महा आरंभ कर्ता बन जाते हो, इस लिये प्रत्येक बुद्ध की उपमा तुम्हें नहीं लग सक्ती। दृष्टांत जैसे किसी मनुष्य को पागल कुत्ते ने काटा हो तो जब वह मनुष्य पानी में अपनी परछांई देखता है तो उस में भी पागल पन आजाता है तथा बरसात की गरजना सुनकर वह भी उन्माद की मस्ती में छक जाता है। इसी तरह तुम अज्ञान मति मिथ्यात्व दृष्टी कुगुरू रूप श्वान के काटने से ग्रंथ रूपी शब्दों की गरजना सुनकर प्रतिमा रूपी जल समूह में तुम तुम्हारी प्रबल जड़ता का आभास देखकर हिंसा-मृषा की करनी रूप उन्माद करते मालूम होते हो। जिसकी शांति के लिये ज्ञान, वैराग्य रूप अमृत का पान करो तो गुणकारी लाभ हो। पर विश्वास है कि वीतराग भाषित मूल सिद्धांतों पर उपयोग न लगाओगे तो यह उन्माद रोग टलना अति कठिन है।

— —
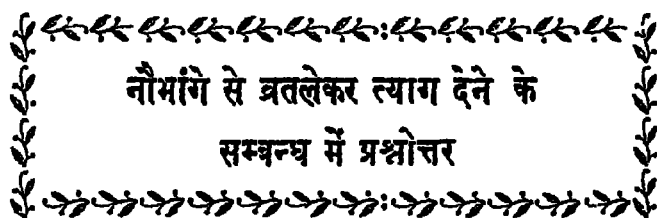
प्रश्नोत्तर हिंसा पूजन में दया मानने के सम्बन्ध में

कितने ही अज्ञान मित्र ऐसा कहते है कि हम प्रतिमा का पूजन करते है, उस में जो हिंसा होती है वह सर्व स्वरूप हिंसा है दूसरे को हिंसा दिखती है परंतु हमारी प्रकृति में तो दया का लाभ है। ऐसा कहने वालों के उत्तर में कहना है कि श्री भगवती सूत्र के पंद्रहवें शकत में कहा है कि गौशाला के किये हुए उपद्रव से श्री महावीर स्वामी के शरीर में रक्त विकार का रोग हो गया था। छः महीने पीछे भगवान् मेढ़ी ग्राम पधारे वहां रेवंती नाम की गृहस्तानी ने कोलापाक बना कर भगवान् को वहेराने की कल्पना की। पर भगवान् ने इस सदोष आहार को लेने की सिहा अणगार से मनाई कर दी थी। सारांश आप ने स्वयं सदोष भोजन नहीं लिया और रेवंती बाई के सावद्य विचार की भक्ति को भी स्वीकृत नहीं किया। पर तुम कहते हो कि प्रभु की भक्ति में आरंभादि कर्म नहीं लगते, तो हम पूछते हैं कि ये वचन वितराग के हैं या तुम्हारे मुख के मंगलिक हैं। तुम्हारा कहना सर्वथा शास्त्र के प्रतिकूल दृष्टिगत होता है कारण कि पान, फल, फूल, नैवेद्य आदि प्रतिमा की भक्ति में जो तुम अर्पण करते हो, वह प्रतिमा जड़ होने से स्वीकार नहीं कर सकी, और वे सब पदार्थ प्रतिमा को ठग कर धूर्त्त लोग लेजाते हैं। ऐसी कल्पित भक्ति कर तुम स्वेच्छा से लाभ प्राप्त करना चाहते हो। पर कहना यह है कि वतमान काल के तीर्थंकर, गणधर, आचार्य

उपाध्याय सव साधु की भक्ति कर किसी गृहस्थ ने तुम्हारी तरह आरंभ कर लाभ लेना नहीं चाहा। जो तुम जड़ प्रतिमा की भक्ति कर लाभ प्राप्त करना चाहते हो तो कहना पड़ता है कि कोई गृहस्थ उपरोक्त तीर्थंकरादि त्यागी पुरुषों की भक्ति के लिये अनेक प्रकार के अन्न, पान, मिश्री, मुख वास आदि छः काया का आरंभ कर उन के पात्र भरे, हाथी, घोड़े वैल, रथ, पालकी, म्याने आदि पर उन्हें विठावे, अनेक प्रकार के वस्त्र, अलंकार, एकावल, मुक्तावल, तीनसरे, नवसरे, अठारहसरे हार पहिरावे, मुकुट, कुंडल, वाजुवंद, वेरखा आदि लगावे, चोवा, चंदन, मोगरा, जाई, जुई, गुलाब, केवड़ा मचकंद, डोलर, डमरा आदि सुगंधी इत्र से उन के शरीर के वस्त्र, आभूषण सजावे, ऐसी अनेक चीजों से सारंभी भक्ति कर तीर्थंकर त्यागी पुरुषों को संतुष्ट करे तो तुम्हारे कथनानुसार वे भक्ति करने वाले तुरंत मोक्ष जायें। कारण, तुम अपना मुग्ध मंडल इकट्ठा कर उपरोक्त त्यागी पुरुषों के शव की स्थापना कर महा आरंभ से पूज कर नर्जरा और मोक्ष फल लेना चाहते हो तो साक्षात् तीर्थंकरों के लिये आरंभ कर भक्ति करने वालों को तो तुम से विशेष अनंत लाभ मिलना चाहिये, परंतु ऐसे सारंभ से की गई भक्ति तीर्थंकरादि स्वीकार नहीं करते तथा अपने लिये आरंभ का उपदेश देकर किसी को नर्क गामी नहीं वनाते। उनने तो एक मोक्ष मार्ग निरूपण किया है, वह मार्ग तुम सारंभ प्रकृति वाले मित्रों के अनुकूल न होने से तुम उस के विरुद्ध कुदेव, कुगुरु, कुधर्म ये तीन कारण कर्म वंधन के प्राप्त कर इस का मर्म भेद अपने मित्रों को न समझाते उलटे चक्र में सारंभी भक्ति में

फंसाते हो, पर जब कर्मोदय होंगे तब कितना पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।
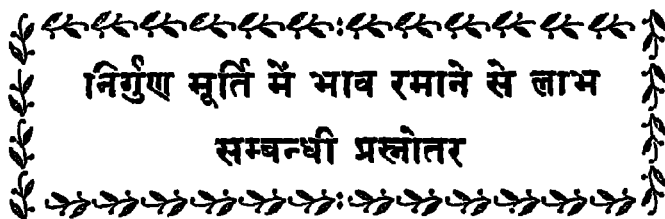
नौभांगे से व्रतलेकर त्याग देने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर

कितने ही पीताम्बरी कहते हैं कि हमने नोभांगे से शुद्धता पूर्वक संयम लिया है और पांच महाव्रत अंगीकार किये हैं । हम पांच आश्रव मन, वचन और काया से नहीं लगाते, दूसरे से नहीं लगवाते और जो पांच आश्रव सेवते हैं उन्हें अच्छा भी नहीं समझते हैं । साधु धर्म रखनेवाले आत्मार्थी पुरुषों के लिये ऐसा कहना शास्त्रोक्त और सत्य है, परंतु ये गुण अभी तुम्हारे में प्रकट नहीं हुए हैं कारण कि जो तुम पर नौ भांगे के उपदेश का असर हुआ होता तो कहना पड़ता है कि ये पीले तिलक वाले महा आरंभ करते हैं । वे किस पाठशाला में पढ़े हैं ? ऐसी कल्पित बातें कुछ उन की पुस्तकों में नहीं लिखीथीं, विश्वास होता है कि तुम वेष धारी मित्र सिखाते हो और वैसा ही वे सेवक करते हैं । दृष्टांत-जैसे मदारी रीछ, बंदर, बकरे, चूहे, नेउले आदि जानवरों को क्रीड़ा सिखाता है उसी मूजिब वे जानवर सीखते हैं और दुनियां को खेल से रिझा मदारी का पेट पालते हैं । इसी तरह वेष धारी रूप मदारी अपने भक्तों रूपी बंदरों को ग्रंथ वचन रूप

रस्सी से वांध कर प्रतिमा-मंदिर रूप चौक में अनेक नाच नचा अपनी जीविका चलाते है, कारण कि जो उन के नौ भांगे से आरंभ के त्याग होंतो फिर मुग्ध मनुष्यों को आरंभ का उपदेश कौन दे ? इसलिये उनके नौभांगे से सौगंध नहीं है।

नौभांगे तो पाच आश्रव के त्यागी पंच महा व्रत धारी साधु जो शास्त्रानुसार दया-धर्म के प्रचारक हैं उन के आदरणीय हैं, कारण कि, जैन मुनि सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर महाराज सब आरंभ को त्याग निर्वद्य करनी करते हैं उसी तरफ उन तीर्थंकर महाराज के शासन में चलने वाले सब साधु-साध्वी भी निरारंभी हो नव भांगे से आश्रव को त्याग निर्वद्य करणी कर महा निर्जरा उपार्जन करते हैं और वैसाही निर्वद्य उपदेश श्रोता जनों को देते और आरंभ त्यागने की कहते हैं अर्थात् जिस तरह आपने आरंभ त्यागा उसी तरह श्रोता जनों से यथाशक्ति आरंभ छुड़ाते हैं और इस निर्वद्य करणी को निर्जरा का कारण वतलाते हैं। इसलिये शास्त्रोक्त रीति से नौभांगे से आरभं के त्याग ले श्रावकों को निर्वद्य उपदेश दें तभी श्रावक यथा शक्ति आरंभ त्यागते हैं, परंतु तुम पीले वस्त्र धारक महात्मा स्वत पूजा आदि आरंभ करने में संयम लुट जाने का डर रखते हो और अपने भक्तों से प्रतिमा पूजन का महा आरंभ कराकर कहते हो कि ज्यों २ छः कायको नष्ट कर पूजा करोगे त्यों २ हलुकर्मी वन शीघ्र मुक्त हो जाओगे। हम पूछते हैं कि ऐसे उपदेश से तुम्हारे देव में भोग की कल्पना, सावद्याचार्यों में त्याग की कल्पना और तुम्हारे सेवकों में सावद्य पूजन से मोक्ष की कल्पना होना साहजिक है, पर इस तिगड्डे में तो हल, मुसल और अन्न सा भिन्न २ मत सावद्य क्रिया में झलकता है। इसलिये तुम

नौ भांगे से नियम लेने का आडम्बर दिखा पूज्य वनना चाहते हो पर लक्षण तो संसार परिभ्रमण करने के मालूम होते हैं जिससे विश्वास होता है कि यह सब प्रपंच तुम उदर पूर्णा करने के लिये ही करते होगे।

निर्गुण मूर्ति में भाव रमाने से लाभ सम्बन्धी प्रश्नोतर

कितने ही हमारे बाल मित्र अपनी अविवेकता के कारण मदांध हो कहते हैं कि पत्थर देव की तथा गुरु चित्र की स्थापना में तो गुण नहीं है पर उन से हमारी भावना लगाते हैं, इस लिये वे वंदन पूजन योग्य है। कारण कि निर्गुण देव तथा निर्गुण चित्र में अपना भाव रमाने से चिंतित कार्य सिद्ध होते हैं। हम पूछते हैं कि माता पिता की मृत्यु के पीछे काष्टादि के पुतले बना कर उन से भावना लगाते हो या नहीं कि ये हमारे माता पिता प्रत्यक्ष हैं। और पीतल को सोने के भाव से, कांच को रत्न के भाव से, कथीर को चांदी के भाव से, गदहे के लघुनीत को घृत के भाव से, खर को गुड़ के भाव से गोवर को हीरे के भाव से, कंकर को शक्कर के भाव से पाड़े को हाथी के भाव से, श्वान को भावज के भाव से, वंध्या स्त्री को पुत्र के भाव से समझे। यों अनेक द्रव्यों में अपने भाव पलट दें तो तुम्हारे विचारानुसार वे गुण कर्ता होने चाहिये

पर ऐसा कभी यही होता। दृष्टांत एक नगर मे एक गृहस्थ की पतिव्रता स्त्री थी। वह हर समय पति की भक्ति कर स्वधर्म पालती थी। एक समय अपने पति को यात्रा के लिये उद्यत होते देख वह स्त्री विनती कर कहने लगी कि हे प्राण नाथ, आप प्रदेश पधारते हैं तब मैं अपना पतिव्रत धर्म कैसे निवाहूंगी? इस विनती के उत्तर में उस पुरुष ने एक चित्र कार से अपना फोटो उतरवा कर स्त्री को सौंप दिया और कहा कि. इस मेरे फोटो की सेवा करना और अपना धर्म निवाहना। ऐसा कह कर वह तो प्रदेश चला गया। वह स्त्री अपने मालिक के कहे अनुसार चित्र की भक्ति कर हमेशा संतोष मानने लगी।

व्यापार के लिये विदेश गये हुए पुरुष की किसी असाध्य रोग के कारण मृत्यु हो गई। पश्चात् प्रदेश से उस व्यापारी के साथी ने पत्र द्वारा यह खबर उस स्त्री को दी। वह स्त्री अपने पति की मृत्यु के समाचार पढ़ अत्यंत शोक ग्रस्त हो हाथ के चूड़े आदि सौभाग्य के शृंगार उतार रंडापा भुगतने लगी और उस चित्र से उस स्त्री का सौभाग्यपन रहा नहीं। अब वह स्त्री उस चित्र से चाहे जितनी भावना लगा सांसारिक सुख की इच्छा करे तो वह स्त्री कभी सुख पावे नहीं। इसी तरह निर्गुण परमात्मा तथा गुरु के चित्रो में भाव रमाने से लाभ होने की आशा नहीं ऐसा विश्वास पूर्वक समझना चाहिये। दूसरा दृष्टांत-जैसे किसी पुरुष ने साक्षात् धर्म गुरु के उपदेश से वैरागी बन संयम लिया और मूल गुण उत्तर गुण रूप रत्नों से पूर्ण भर गया। इसी तरह मति ज्ञान के जोर से सूत्र ज्ञानी हुआ और कर्म क्षय करने वास्ते बारह प्रकार की तपस्या करने लगा। ऐसे गुणों के कारण वह सब धर्मी मनुष्य

उस प्राण के समान समझने लगे। अब वही पुरुष किसी पूर्व जन्म के अशुभ कर्मोदय से उपरोक्त सद्गुण त्याग कुंडरीक साधु की तरह पड़वाई हो जाय और महा दुराचरण करने लगे, तब उपरोक्त भक्ति करने वाले सज्जन उस निर्गुणी पुरुष को त्याग अपने आत्म धर्म के सुधारे में लगें और उस निर्गुणी से मिलने की इच्छा न करें। इसी तरह पाषाणादि की निर्गुण मूर्तियां भाव रमाने से कभी वंदनीय पूजनीय नही हो सक्ती।

सम्यक्त्वी पुरुषों को सूचना ।

समकित सार सुणो भवी, आतम गुण हितकार ।
पार लहे भव रासनो, टले चित्त विकार ॥ १ ॥
जिन मुख वायक छे भला, सकल जंत सुख होय।
करुणा रस भर आज्ञा, पाले विरला कोय ॥ २ ॥
समकित धारी आतमा, जीवादिक नव तत्व ।
जाणी श्रद्धा स्थिर करे, तजे असत्य ममत्व ॥ ३ ॥
निरखि परखी जीव कूं, हरखित पइने आप ।
प्राणदान सनमान दे, चांति उर में जाय ॥ ४ ॥
देव गुरु ने धर्म मां, द्रव्य भाव गुण धार ।
सत्यवरी असत्य हरी, ए मृषा परिहार ॥ ५ ॥

पर प्राण परधन सदा, लिये नहीं जे धीर ।
अदत् तज्यु तेणे सही, हरे ते पर पीर ॥ ६ ॥
द्रव्य थकी तिरिया तजी, भाव थकी कुमत ।
ब्रह्म व्रत धरने गुनी, आतम हित सुमत ॥ ७ ॥
द्रव्य वीत नव विधि तणो, कर्म परिग्रह भाव ।
द्विविध वीत पचखे सदा, ते निर्ग्रंथ सहाव ॥ ८ ॥
एहि धर्म जिनवर तणो, जे पाले नर नार ।
कर्म सकल ते हरे, पावें शिव पद सार ॥ ९ ॥

मिथ्यात्वी पुरुषों को सूचना ।

निरमल समकित ज्ञान ना, भेद भणे नहीं जेहि ।
वलि निर्वद्य करणी बिना, भवजल तरे न तेहि ॥१०॥
जिनाज्ञा मुख शुं लवे, हरे प्राण कुदृष्ट ।
सावद्य पूजन आश्रवे, लहे विषम ने कष्ट ॥ ११ ॥
प्रजा प्राण इंद्री सवे, परखी लब्धी रीध ।
आप तपे पर तापवा, वैर भाव पर शीध ॥ १२ ॥
विप्रित जिन वायक थकी, ग्रंथाधार गमार ।
हिंसा चोध मत भ्रम मां, मस्तीभई अपार ॥ १३ ॥
जिन प्रतिमा जिन सारखी, सरधे समकित लार ।

सांत मूर्त ज्ञानी तणी, निश्चल प्रतिज्ञा धार ॥ १४ ॥
प्रतिमा प्रतिज्ञा एकता, शिव साधन ने काज ।
कर्म विकट दल भेदीने, विमलात्म सिर ताज ॥ १५ ॥
जिन प्रतिमा पत्थर नहीं, ए समझो गुण भेद ।
पत्थर प्राणी प्राण जो, परे पलकमां छेद ॥ १६ ॥
पुजा यात्रा भावनी, करवी कही जिनराज ।
तेथी विपरीत वर्तता, परतच्छ पापी आज ॥ १७ ॥
मिथ्या मान अंतर धरी, पचिया आरंभ मांय ।
पचशे कुंभी पाक में, क्रुरता छूटे नांय ॥ १८ ॥
पियरीया खट कायना, नाम धरावी आप ।
सकल बाल पोता तणा, ते पर मारे थाप ॥ १९ ॥
को एक घर डाकण तजे, अमृत वयण सहाय ।
पण डाकी खट कायनी, मेहेर न आणे जराय ॥ २० ॥
धिक् धिक् जननी तुज भणी, जाया हिंसक पुत्र ।
अल्पायु हिंसक तणो, केम रहे घर सूत्र ॥ २१ ॥
दया तणो सत्य धर्म छे, ते तो छे परतच्छ ।
प्रान हरे खट कायना, ते केम उत्तम पच्छ ॥ २२ ॥
वायक मुख आश्रवतणा, वदतां मुनिवर मुन्य ।
आप तरे पर तारवा, ते गुणी जनने धन्य ॥ २३ ॥
दयाधर्म थी मुन्य छे, द्रव्य लिंगिया आप ।
निपुण आश्रव बोधमां, लेशे अति संताप ॥ २४ ॥

ज्ञानीजनों को भाव पूजा करना चाहिये

तर्जः—गौतम समुद्र कुंवारो रे ।

श्रुत देवी समरूं सदा रे, सूत्र तणे अनुसार ।
भाव पूजा कहुं जिन तणी रे, भवी जनने हित कारो रे
एम जिन पूजिये ॥ १ ॥
पूज्यां शिव सुख थायरे, मनमें ध्याइए,
ध्यायां सुर पद पायरे ॥ ए ॥ २ ॥
समकित सुत ने देहरोरे, ध्यान शुकल जिन बिंब ।
षट् आवशक दीपक भलारे, जीव दया ध्वज लंबरे ॥ए.॥३॥
शियल व्रत निर्मल जलरे, जिन ने नवण कराय ।
वयावच अंग लुशणोरे, समकित घंट वजायरे ॥ ए. ॥ ४ ॥
चेमा चंदन अति सुंदररे, क्रिया कचोलो अनूप ।
तप अगर उखेवनेरे, एम पूजो जिन रूपरे ॥ ए. ॥ ५ ॥
पंच परमेष्टी पद तणीरे, पंच वर्ण पुष्पनी माल ।
गुंथिने जेह चढ़ावशेरे, ते लेशे भव पाररे ॥ ए. ॥ ६ ॥
पृथवी अप तेउ वायरोरे, वनस्पति त्रसनारे जीव ।
तेने हणी ने पूजा करेरे, ते नहीं समकित जीवरे ॥ एम. ॥७॥
हलु कर्मी भवी प्राणियारे, पूजो भावे सुदेव ।
मेघ मुनी कहे जिन तणीरे, सेवा वंछु नितमेवरे ॥ ए. ॥८॥

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥

इति समकित सार
ग्रन्थ समाप्त

❁ आदर्श मुनि ❁

इस ग्रन्थ के अन्दर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री १००८ श्री चौथमलजी महाराज के किये हुवे सामाजिक धार्मिक, सदाचार, दयामयी आदि कई महत्व पूर्ण कार्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। साथ ही में जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अनेक विदेशी विद्वानों की सम्मतियों सहित व अन्य मत के ग्रन्थों के प्रमाणों से तुलना करते हुए अच्छा प्रकाश डाला गया है। पुस्तक अति उत्तम उपयोगी एवम् हर एक के पढ़ने योग्य है। इसकी तारीफ अनेक अखबार वालोंने और विद्वानों ने की है।

इस में राजा महाराजाओं के व सेठ साहुकारों के २० उम्दा आर्ट पेपर पर चित्र हैं पृष्ठ संख्या ४५० रेशमी जिल्द होते हुए भी मूल्य लागत मात्र से कम रू० १।) और राज संस्करण का मूल्य रू० २) रक्खा गया है डाक खर्च अलग होगा।

पताः—श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम।

॥ श्री ॥

खुश खबर।

सर्व सज्जनों को विदित हो कि वैशाख सुदि ५ संवत् १९८६ को श्रीजैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति ने "श्रीजैनोदय प्रिंटिंग प्रेस" के नाम से एक प्रेस कायम किया है। इस प्रेस में हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, मराठी का काम बहुत अच्छा और स्वच्छ तथा सुन्दर छापकर ठीक समय पर दिया जाता है। छपाई के चार्जेज़ वगैरा भी किफायत से लिये जाते हैं।

अत एव धर्म प्रेमी सज्जन, छपाई का काम भेजकर धर्म परिचय देने की कृपा करेंगे, ऐसी आशा है।

निवेदकः—

मैनेजर

श्रीजैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,

रतलाम.

॥ ॐ ॥

सुनहरी नामावली

जिन जिन महानुभावों ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराने में, आर्थिक सहायता प्रदान की है उन को शतश धन्यवाद देते हैं। और उन के शुभ नाम आभार सहित निम्न प्रकाशित किए जाते हैं ॥

७५०) श्री० सेठ नेमीचंदजी सरदारमलजी मु. नागपुर

७५०) " सेठ मूलचन्दजी तिलोचन्दजी मु. पारसेवनी

१०१) " जालमचन्दजी मगनीरामजी ... मु. पीपलखुंटा

६१) " प्रभुलालजी मंगलचन्दजी . मु. सेलुबजार

५१) " मयाचन्दजी शंभुरामजी ... मु. नागपुर

५१) " गंभीरमलजी गुलाबचंदजी तातेड मु. चांदोड़.

५१) " हनुतमलजी हीरालालजी गुगलिया मु. बाबुलगांव

५१) " कपूरचन्दजी पन्नालालजी मु. बाबुलगांव बजार

५१) " कालूरामजी मुलतानमलजी सांवरा मु. उमरावती

५१) " अमोलकचन्दजी दुलीचन्दजी मु. खापा

५१) " गुलाबचन्दजी मुनोत मु. अमरावती

५१) श्री० छोगमलजी धोकलचन्दजी तीरखेडी, गोंदिया
५१) " परताबमलजी लखमीचन्दजी गोठी मु. बदनूर
५०) " बुधमलजी शिवजीरामजी बोथरा मु. पारसेवनी
३५) " जेठमलजी राउतमलजी लूंकड मु. पुलगांव
३१) " उदेचन्दजी शोभाचन्दजी गांधी मु. हिंगनघाट
२५) " आसकरणजी रामलालजी बुरड़ मु. शिराला
२५) " नथमलजी मूथा ... ...
२५) " गोवरधनजी घेवरचन्दजी बोरदिया मु. दाभा
२५) ,, नानाजी नकसी भाई .... मु. नागपुर
२५) ,, मोहनलालजी भेरुदानजी .... मु. खापा
२५) ,, भीकमचन्दजी लखमीचंदजी मु. पारसेवनी
२५) ,, अमृतलालजी गोडीलालजी मु. पारसेवनी
२५) ,, मोतीलालजी गुलाबचन्दजी तातेड मु० बाबुल गांव
२५) ,, घेवरचंदजी नेमीचंदजी बागरेचा मु० तराला
२५) ,, कपूरचंदजी खाप्या मु० कवठा
२५) ,, धोकलचंदजी धनराजजी कात्रेला मु० उमरावती
२५) ,, दीपचंदजी बंब मु० ओटकनी
२१) ,, केशरीमलजी धनराजजी मुनोत मु० अमरावती
२१) ,, प्रतापमलजी हजारीमलजी ढेढया मु० तीरखेडी
२१) ,, रतनमलजी कुन्दनमलजी मु० मंगलूरपीर
२१) ,, अमरचंदजी पुगलिया मु० नागपुर

२१) श्री० माणकचंदजी सेरमलजी मु०शदर(सदर)
२५) ,, सूरजमलजी मानमलजी मु० सदर
२१) ,, उदेराजजी कालूरामजी मु०धानकी (येवतमाल)
२०) ,, हीरालालजी ताराचंदजी लोढा मु०चांदड़ बजार
२१) ,, कस्तूरचंदजी सुरजमलजी ....
१७) ,, पोपटलाल विकमसी मु०नागपुर
१५) ,, मन्नालालजी फूलचंदजी वेद मु०हिंगनघाट
१५) ,, दलीचंदजी ननुलालजी मु० सदर
१५) ,, धनराजजी उदेचंदजी मु०उमरावती
२०) ,, माणकचंदजी आसकरणजी मु० वोरी
११) ,, नथमलजी आसाणी मु० नागपुर
११) ,, मेजालालजी नथमलजी मु० नागपुर
११) ,, सिवारामजी दीपचंदजी चोथरा मु० . .
११) ,, भीकमचंदजी लखमीचंदजी मु० पारसेवनी
११) ,, हीरालालजी पूरणमलजी तातेड़ मु०चांदोडबजार
११) ,, प्रतापमलजी दीपचंदजी कांकरिया मु०चांदोड़बजार
११) ,, बुधमलजी किशनलालजी रांका मु० ,, ,,
११) ,, वालचंदजी दीपचंदजी मु० कलमजापुर
११) ,, सरदारमलजी समीरमलजी मु० पारसीवनी
११) ,, धोगमलजी तखतमलजी मु० नागपुर
११) ,, छोगमलजी मिश्रीमलजी मु० पोहोर

११) श्री० टीकमचन्दजी उत्तमचन्दजी बोतरा मु० पारसेवनी
११) " सरदारमलजी तनसुखदासजी . . मु० "
११) " मूलचन्दजी तिलोकचन्दजी सेठिया मु० "
११) " छोटमलजी पूनमचन्दजी बागरेचा मु० मंगलूर
११) " मूलचन्दजी मोतीलालजी कांटेचा मु० बोदवड़
११) " बिरदीचन्दजी कुंदनमलजी गोलेछा मु० बाकोद
११) " हमीरमलजी फूलचन्दजी छलाणी मु० तराला
११) " बुलाकीचन्दजी मंगलचन्दजी बुचा मु. अमरावती
११) " घासीरामजी उदेचन्दजी सांवला मु० "
११) " आसकरणजी लादुरामजी कटारिया मु० मंगलूर
११) " जेठा भाई संघकी तरफ से मु० मूर्तिजापुर
११) " सुरजमलजी बसराजजी बाफना मु० चांदोड़बाजार
११) " केवलचन्दजी मिसरीमलजी बोतरा मु० पारसेवती
११) " थानमलजी आसकरणजी मु० चांदूर
११) " मंगलचन्दजी जीवनरामजी मु० ....
१०) " उमेदमलजी चुन्नीलालजी मु० रालेगांव
१०) " चन्दनमलजी लालचन्दजी पगारिया मु. धामणगांव
७) श्रीमती हसीबाई मिसरीबाई .... मु० सोनाई
६) श्री० गणेशमलजी बांफणा ... . मु० हैदराबाद
५) " छोगमलजी धोकलचन्दजी मु०, तीरखेड़ी
५) " जसराजजी लालचन्दजी मु० उमरावती

५) श्री० भूरमलजी केसरीमलजी मु० सदर
५) " खींवराजजी . . . . .. मु० .
५) " छोटमलजी वांठिया मु० नागपुर
५) " कस्तुरचन्दजी भभूतमलजी मु० पोहना
५) " जेठमलजी जुवानमलजी जांगडा मु० कामठी
५) " चौथमलजी बुंदेला मु० नागपुर
५) " शिवलालजी बाबूलालजी रांका मु० चांदूरबजार
५) " अमरचन्दजी हीरालालजी खेतरपाल मु० कुम्हा
५) " जवारमलजी मोहनलालजी लाढा मु०बाबुलगांव
५) " नत्थुलालजी बलीरामजी . मु. फैजपुर
५) ,, मूलचन्जी तिलोकचन्दजी मु. पारसेवनी
५) ,, उदेराजजी हीरालालजी कोठारी मु. कामठी
५) ,, पोकरचन्दजी सेठिया . . मु.
५) ,, हमीरमलजी मुलतानमलजी हीरालालजी बारड
५) ,, बछराजजी अमोलखचन्दजी बोथरा मु. पारसेवनी
५) ,, कुन्दनमलजी लंकड़ . . . . .. मु. पुलगांग
५) ,, गंभीरमलजी सिरेमलजी लुंकड़ मु. पुलगांव
५) ,, पन्नालालजी तातेड़ . . . .. मु. बाबुलगांव
५) ,, गंगारामजी धनराजजी बोतरा मु. पारसीवनी
५) ,, श्रीमती सौ० सोनी बाई . . . . मु. वदनूर
५) ,, तेजराजजी सज्जनराजजी लुंकड़ मु. दारवा

५) श्री० हजारीमलजी चोरड़िया ..... मु. गोंदिया
५) ,, केवलचन्दजी समरथमलजी बोतरा मु. पारसेवनी
५) ,, लालचंदजी तातेड़ .... मु. अमरावती
५) ,, घेवरचंदजी मिसरीलालजी .. मु. ,,
५) ,, जसराजजी किशनलालजी बाठिया मु. ,,
५) ,, जवारमलजी गणेशमलजी ... मु. बड़नेरा
५) ,, छगनमलजी जसराजजी छलाणी मु. बाबुल गांव
५) " लखमीचंदजी माणकचन्दजी ... मु. धामणगांव
५) " जसराजजी मूथा .. ..
५) " हंसराजजी नथमलजी छलाणी मु. बाबुलगांव
४) " सोभागमलजी .... मु. बायफल
४) " बछराजजी अमोलखचन्दजी ....
४) " जवेरचन्दजी मेघराजजी ... . मु. बरोरा
४) " गणेशमलजी तातेड़ .... मु. खापा
४) " सलराजजी छलाणी ... . मु. बाबुलगांव
४) " केवलचंदजी लुणिया .... मु. उमरावती
४) " धनराजजी गंभीरमलजी गांग मु. कवठा
४) " मूलचंदजी केसरीचंदजी कोचर मु. परतवाड़ा
४) " भारमलजी रतनसी कच्छका ... मु. उमरावती
३) " मुलतानमलजी चुन्नीलालजी कटारिया ....
३) ,, धनराजजी ....[illegible] ...

२) श्री० भोमजी बोहरा मु० बरोरा
२) „ नागरमलजी राजमलजी मु० „
२) „ जसराजजी चुन्नीलालजी मु० „
२) „ ताराचंदजी तुलसी मु० पारसेवनी
२) „ खेमचंदजी चोरड़िया मु० नागपुर
२) „ नेमचंदजी भगवानदासजी मु० पोहना
२) „ तिलोकचंदजी सिवराजजी मु० वाकोद
२) „ हीरालालजी चम्पालालजी मु० बाबुल गांव
२) „ मूलचंदजी चंदनमलजी मु० कामठी
२) „ गुलाबचंदजी बलदोड़ा मु० „
२) „ खूबचंदजी सेसमलजी मुनोत मु० उमरावती
२) „ मूलचंदजी छाजेड़ मु० इंचवा
२) „ पूनमचंदजी निमाजिया मु० सामरोद
२) „ जतनसिंहजी मु० रेवती
२) „ नेमीचंदजी सुराणा मु० अमरावती
२) „ कुंदनमलजी बक्तावरमलजी मु० लोटोती (मारवाड़)
२) „ हीरालालजी टीकमचंदजी मु० धामड़ गांव
२) „ बहरकमलजी लूणकरणजी . ...
२) „ मूलचंदजी इंद्रचंदजी ... .
२) „ मूलचंदजी गुलाबचंदजी ... ...
२) „ हरकमलजी माणकचंदजी ... ...

१) श्री० ज्ञानराजजी ....
१) ,, केसरीमलजी लोढ़ा मु० कामठी
१) ,, हिम्मतमलजी मु० नागपुर
१) ,, चंदनमलजी ताराचंदजी मु० कामठी
१)श्रीमती जमना बाई ... .
१) श्रीमान् कपूरचंदजी ललवानी मु० नसीराबाद
१) ,, पानसुखदासजी नोरतनमलजी ... .
१) ,, रूपचंदजी पोतालालजी ....
१) ,, उदेराजजी सिंगी ... .
१) ,, मूलचंदजी कुंदनमलजी ... .
१) ,, मुलतानमलजी बाड़िया ... .
१) ,, मोनमलजी बाड़िया ....
१) ,, पूनमचंदजी तातेड़ . ...
१) ,, रतनचंदजी छाजेड़ ....

३२६३ कुल,